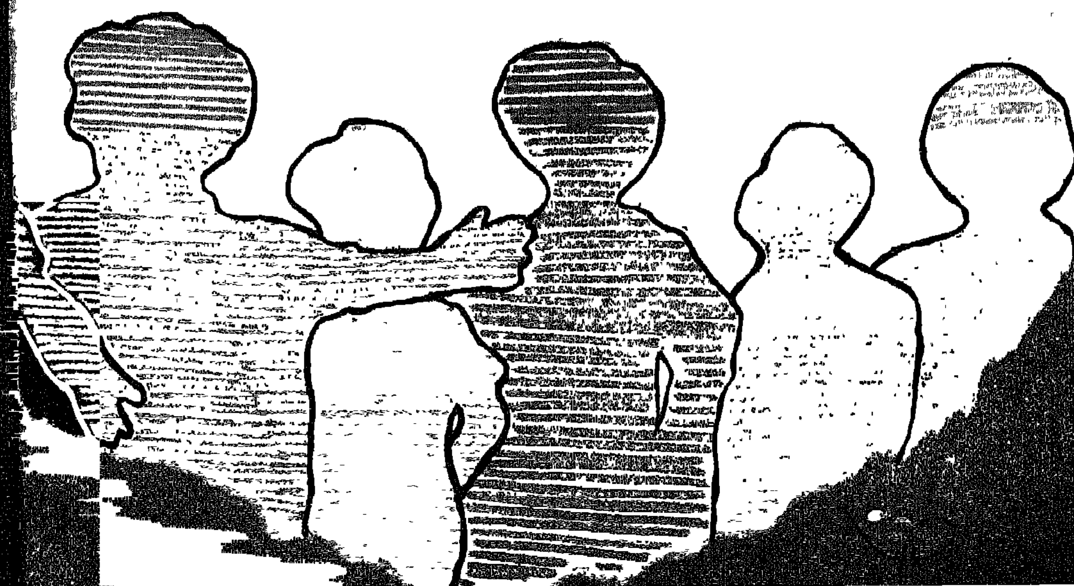
प्राइमरी शिक्षक

वर्ष 10 अंक 1 जनवरी 1985





सम्पादकीय परामर्श समिति

प्राइमरी शिक्षक – परिवार

प्रधान सम्पादक	डा. ओंकार सिंह देवल
अकादमिक सम्पादक	डा. इन्दिरा कुलश्रेष्ठ
सहायक सम्पादक	राज कुमार गुप्त
सहायक उत्पादन अधिकारी	शिव कुमार

मूल्य एक प्रति : 1.50 पैसे

कृपया अपना चंदा सहायक व्यावसायिक प्रबन्धक, पत्रिका प्रकोष्ठ, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली 110016 को भेजें ।

चिन्तन

लगभग 22 वर्ष पहले की बात है । उस समय मै प्रतापगढ के उच्चतर माध्यमिक बालिका विद्यालय मे अग्रेजी पढाती थी । एक दिन हमारी हिन्दी की अध्यापिका छुट्टी पर थी । प्रिंसिपल महोदया ने मुझे बुलाया और कहा, 'आप कक्षा 6 मे जाकर हिन्दी की क्लास ले लीजिए । यह क्लास आपको दो दिन लेनी है, क्योकि श्रीमती प्रकाश छुट्टी पर है ।' उनकी यह बात सुनकर मेरा तो जैसे लहू सूख गया । अचकचा कर मैने कहा, "जी, मै हिन्दी की क्लास ले लूँ ?, यदि आप कहे तो मै अग्रेजी पढा दूँ या कोई अन्य क्लास इसके बदले मे मुझे दे दीजिए । आप तो जानती है कि हिन्दी पढाना मेरे बस का रोग नही है ।" प्रिंसिपल महोदया मुस्कराई और बोली, "जो हिन्दी कहानियाँ लिख सकती हो, उपन्यास लिख सकती हो, वह हिन्दी नही पढा सकती, यह मै नही मानती ! जाइये कक्षा का समय हो गया है ।"

मरता क्या न करता ? सिर झुकाये, एक-एक मन के पांव रखते हुए मै कक्षा मे पहुँची । यूँ तो मै वरिष्ठ अध्यापिकाओ मे से थी और केवल हाई स्कूल तथा इण्टरमीडिएट की कक्षाएँ ही लिया करती थी । इन बन्दर जैसे चिबिल्ले और शैतान बच्चो को पढाने के नाम से ही मुझे दिन मे तारे नजर आने लगे । राम-राम करके कक्षा मे पहुँची, तो सारे बच्चे सहम कर चुप खडे हो गये । मुझे लगा, वातावरण बडा बोझिल हो गया है । मैं बेमतलब ही मुस्करा पडी, और अचानक ही मैने देखा कि वे सारे भोले चेहरे, जो जबरन ही गम्भीरता का नकाब ओढे हुए थे, फूल जैसे खिल गये । वातावरण हल्का-फुल्का हो गया ।

जब बच्चे बैठ गये तो मैने निगाह उठाकर चारो तरफ देखा । मेरे मन मे प्रश्न घुमड रहा था,"आखिर मै इन्हें कैसे पढाऊँ" — कि तभी एक छोटी लडकी के बालो मे एक नन्हा सा गुलाब टंका हुआ दिखाई दिया । मैने उससे पूछा, "यह फूल तुमने कहां से लिया है ?" बच्ची सहमी, और चुप रह गयी । मैने उससे फिर पूछा तो एक अन्य लडकी ने कहा, "इसने बाहर बगीचे से तोडा है ।" और यूँ ही बातचीत का क्रम शुरू हुआ । सामान्य स्थिति यह बनी, कि बगीचा स्कूल का है और बच्चे ने फूल स्कूल के बगीचे से ही तोडा है ।

मैने सोचा क्यों न इसी स्थिति का फायदा उठाया जाए ? और मैने यही किया । सभी बच्चों ने मिलकर कहानी को इस प्रकार आगे बढाया कि एक नन्ही बालिका बाग से फूल तोडती है । फूल तोडने पर माली ने उससे क्या कहा होगा, क्यो कहा होगा, और किस प्रकार कहा होगा . . सब बच्चे इसी कल्पना मे डूब गये । और अत मे बात यह बनी कि बाग और बाग में खिले फूल स्कूल के बच्चो की अपनी सम्पत्ति है और इनको सम्हालना, इसकी देखरेख करना उन सबका कर्तव्य है । इस बिन्दु पर आकर कहानी समाप्त हो गई । कक्षा समाप्त होते-होते बच्चे खुशी से फूले नहीं समा रहे थे – क्योकि उन्होने एक कहानी का सृजन किया था ।

जीवन मे हिन्दी पढने का यही एकमात्र संयोग था, लेकिन अगले दिन जब मै कक्षा मे गई, उन 37 बच्चो ने उक्त कहानी को लिखते समय अलग-अलग ढंग से अपने-अपने शब्दो मे संजोया । उस दिन मुझे लगा कि मात्र तनिक सा प्रोत्साहन, शिक्षकों की ओर से थोडा सा आश्वासन और उनका मार्गदर्शन उनमें निहित प्रतिभा के अकुर को कई रग और ढग से प्रस्फुटित कर सकता है ।

आइये हम और आप मिलकर सोचे कि दैनिक जीवन मे घटित होने वाली घटनाओ के माध्यम से हम बच्चो मे सृजनात्मक विकास के बीज किस प्रकार बो सकते है । आप अपने अनुभव और विचार हमे लिपिबद्ध करके भेजे । हमे उनकी प्रतीक्षा रहेगी । 'चिन्तन' को आप अपना ही पृष्ठ समझिये क्योंकि आपके विचारो के आभाव मे यह हमारा चिन्तन भी अधूरा ही रह जायेगा ।

– अकादमिक सम्पादक

आपके पत्र ; समीक्षा और सुझाव

प्राइमरी शिक्षक अपने नये कलेवर मे आपके सामने है । इस अक की कौन-सी रचना आपको अच्छी लगी, कौन-सा लेख उपयोगी है, इसकी समीक्षा आप हमें भेजे । आपकी कौन-सी ऐसी समस्याएँ हैं जिनका समाधान हम प्राइमरी शिक्षक के माध्यम से कर सकते है, हमे बताये ।

समीक्षा और सुझाव आपका अपना पृष्ठ है । इस स्तम्भ के लिए आप हमे पत्र अवश्य लिखे ।

मुझे आश्चर्य होता है जब लोग किसी देश का भविष्य जानने के लिये उस देश के गावो और नगरो मे घूमते हैं । मुझे तो जब भारत का भविष्य जानने की इच्छा होती है तो बच्चो की आखो और उनके चेहरो का देखा करता हूँ ।

– पंडित जवाहर लाल नेहरू

"घर मे या गली में खेलते हुए बच्चे को अगर आप देखे, तो वह सचेतन, आनन्दमय, जिज्ञासाकुल, आंखो मे चमक व ओठो पर मुस्कानयुक्त दिखाई देगा । वही बच्चा विद्यालय मे थका-थका, एकाकी, डरा-डरा, उकताया हुआ, निष्क्रिय सा, जिसकी आत्मा किसी गहरे कुए में उतर गई हो, ऐसा दिखाई देगा । इतना विचित्र दुखद परिवर्तन कैसे आ जाता है ? बालक विद्यालय मे भर्ती क्या होता है, उसकी कल्पना-शक्ति, सर्जन-शक्ति, अन्त -स्फूर्ति आदि तमाम उच्च शक्तियाँ क्रमशः एक के बाद एक विदा होने लगती है । विद्यालय उसे कसाईघर लगने लगता है । यहां पर उसके जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व – स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण का आनन्द – उससे जबरन छीन लिया जाता है । यही नहीं, घंटों-घंटो तक विद्यालय मे उसे कैद रख कर प्रकृति ने उसके विकास हेतु जो उपकारक तत्व प्रदान किये थे, वे सब हथिया लिये जाते है । इस प्रकार बालक के मन व शरीर को ऐसा क्षतिग्रस्त किया जाता है जिसे कभी पूरा नहीं किया जा सकता ।

बाल सम्मान को बुनियादी तत्व मानते हुए उसकी स्वतत्रता की दिशा में ठोस व स्थाई कदम उठाने की आज शालाओ को जरूरत है । स्वतत्रता प्रयोगो का प्राण है । जिस दिन प्रत्येक शाला शिक्षण की प्रयोगशाला बन जायेगी उस दिन शालाये प्रगति की दौड मे पीछे नहीं रहेगी । मनोविनोद व आनन्द को शिक्षण का विरोधी मानना भयकर भूल है । जहाँ स्वतत्रता है, वही प्रेम भी है । स्वाभाविक विकास ही मूल बात है ।"

– टालस्टाय

प्राइमरी शिक्षक

वर्ष 10, अंक 1 जनवरी 1985

आगामी अंक के कुछ आकर्षण

श्री यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'	उत्तराचल मे भाषा शिक्षा की समस्या
डा कृष्णगोपाल रस्तोगी	नैतिक शिक्षा
श्री राजेश कुमार	पूर्व विद्यालय भाषा ज्ञान
श्रीमती रेणु कौल	प्राथमिक पाठशाला वास्तविकता एवं आदर्श
डा इकबाल मुहिउद्दीन	लोकोक्तियों में विज्ञान

इसके अतिरिक्त अन्य सभी स्थाई स्तम्भ :

शिक्षको ने लिखा है

आपके पत्र समीक्षा और सुझाव

चिन्तन आदि

बच्चों में सृजनात्मक विकास : कुछ मूलभूत सिद्धान्त

☐ अरविंद फाटक

मनुष्य की विभिन्न शक्तियों में से सृजनात्मकता सबसे अनोखी शक्ति है । प्राचीन काल में इस शक्ति को दैवी शक्ति माना जाता था । इस शताब्दी के पाँचवे दशक से मनोवैज्ञानिकों की इस क्षेत्र में रुचि जागृत हुई और सृजनात्मकता के स्वरूप, मापन एवं विकास से संबंधित अनेक शोध भी हुए । सृजनात्मकता के संबंध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अलग अलग परिभाषायें दी है, सभी मे एक जो 'महत्वपूर्ण उभयानिष्ठ तथ्य पाया जाता है वह है लीक से हटकर सोचने की क्षमता । कवियो ने ठीक ही तो कहा है कि –

लीक लीक गाडी चले,
लीक ही चले कपूत
लीक छोड तीनों चले,
शायर, सिंह, सपूत ।

मौलिक चिंतन ही महान् साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक कृतियो की जननी है । इस प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्तियो का समाज के लिए बहुत महत्व है । ऐसे ही व्यक्ति समाज को एक नई दिशा दे सकते है । ऐसे ही व्यक्तियो मे से समाज को वैज्ञानिक, साहित्यकार, महान कलाकार, सामाजिक नेता आदि प्राप्त होते है टैगोर, गाँधी, सोक्रेटीस, आइन्सटीन, डारविन, फ्रायड आदि व्यक्तियो की गणना महान् सृजनात्मक व्यक्तित्वो में की जाती है । ऐसे व्यक्तियों की समाज को कितनी महत्वपूर्ण देन रही है, इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही ।

सृजनात्मकता के महत्व को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि विद्यालयो मे ही बच्चो मे इसके विकास के प्रयास किये जाये और जितने शीघ्र ये प्रयास प्रारम्भ होगे उतना ही अधिक उसका लाभ होगा । अत॰ प्राथमिक विद्यालय मे ही बच्चो की सृजनात्मक शक्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिये और ऐसे अवसर प्रदान किये जाने चाहिये जिनसे छात्रो मे यह प्रतिभा विकसित हो सके ।

प्रस्तुत लेख में सृजनात्मकता के विकास के कुछ सिद्धान्तों एव विधियो की चर्चा करने का प्रयास किया जा रहा है । इन सिद्धान्तो की चर्चा के पूर्व एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि बुद्धि एव सृजनात्मकता दो भिन्न गुण है । प्रत्येक कुशाग्र बुद्धि का बालक उच्च सृजनात्मकता रखता ही हो, यह आवश्यक नही । अत॰ सृजनात्मकता के विकास का प्रशिक्षण कुशाग्र बुद्धि के बालको के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्य बालको के लिये ।

सृजनात्मकता के विकास मे अध्यापको की अभिवृत्ति एवं शाला का वातावरण बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । शाला का वातावरण यदि मुक्त-प्रजातांत्रिक है, बच्चो को स्वतंत्रता दी जाती है तो सृजनात्मकता के विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियां मौजूद है, ऐसा माना जा सकता है । इसी प्रकार अध्यापक अगर छात्रो को नये तरीके से सोचने को प्रोत्साहित करते हैं, बच्चों को अपनी बात कहने का अवसर देते है और मतभेदों को स्वीकार एवं सहन करने की उदारता रखते है तो बालको मे सृजनात्मकता के विकास मे सहायक सिद्ध हो सकते है । घुटन भरे, निरंकुश, अधिनायकवादी वातावरण मे सृजनात्मकता के विकास की कल्पना करना ही व्यर्थ है । जहाँ बच्चो को सतत् दड का भय बना रहता हो वहाँ वे मौलिक चिन्तन कैसे कर सकते है ।

सृजनशील चिन्तन एव कार्य मे सदैव सफलता मिले यह आवश्यक नही, कई बार त्रुटियाँ करने के बाद एक मौलिक कृति, नई बात या नया तरीका सामने आता है । अन अध्यापको मे त्रुटियॉ सहन करने का धैर्य भी होना चाहिये । लकीर के फकीर बनना आसान है, क्योकि उसमे त्रुटियॉ होने की कम संभावना है जबकि नया रास्ता ढूढने के लिए साहस चाहिये । यह साहस बटोरने मे अध्यापक का व्यवहार महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है ।

छात्र जहाँ कहीं थोडी बहुत भी मौलिकता बताएं उन्हें पुरस्कृत कीजिये, प्रोत्साहित कीजिये ताकि उनके इस व्यवहार को पुष्टि मिल सके । कई बार हम प्रशंसा मे भी कजूसी करते है । बच्चों को अच्छा कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करने मे उसके अच्छे कार्य की प्रशसा उपादेय सिद्ध हो सकती है ।

जिज्ञासा भी सृजनशीलता के विकास में सहायक होती है । बच्चे जब अजीब से प्रश्न पूछते है तो हमे झल्लाहट आती है और हम उन्हे डाँटकर चुप कर देते है । यह ठीक नही है । ऐसा करने से बच्चे धीरे धीरे प्रश्न पूछने की क्षमता ही खो देते है, जो सृजनात्मक विकास के लिये घातक है । दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा पद्धति कुछ ऐसी बन गई है कि बच्चा जब शिशु विद्यालय में प्रवेश लेता है तब तो सैकडों प्रश्न पूछता है परन्तु हायर सेकेन्ड्री पास करके जब विद्यालय से निकलता है तो उसमें प्रश्न पूछने की क्षमता लगभग समाप्त सी हो जाती है । हमें सोचना होगा कि ऐसा क्यों होता है । शायद प्रश्न पूछने से अध्यापक को कठिनाई होती है इसलिये वह बच्चे को प्रश्न पूछने पर डांट कर बैठा देता है । परिणामस्वरूप बच्चा दुबारा प्रश्न पूछने की हिम्मत नही करता । यह परिस्थिति सृजनात्मकता के विकास के लिये अच्छी नहीं है ।

बच्चों को कभी कभी ऐसी प्रवृतियो मे भी लगाइये जिनका उद्देश्य बच्चो का मूल्यांकन करना न होकर उन्हे एक सृजनशील कार्य का अवसर देना हो । संगीत प्रतियोगिता के लिये भी गाया जा सकता है और आनद प्राप्ति के लिये भी । चित्रकार जब नई कृति का सृजन करता है तो वह सदैव प्रथम स्थान या पुरस्कार प्राप्त करने की इच्छा से ही प्रेरित होकर कार्य नही करता, उसे इस प्रवृत्ति मे आनन्द मिलता है तभी तो वह उसमे तल्लीन हो जाता है । बच्चो को कुछ क्षण ऐसे भी अनुभव दीजिये जब वे किसी भौतिक पुरस्कार की प्राप्ति के लिये नही वरन् उस प्रवृत्ति मे आनन्द प्राप्त होने के कारण मन से लगे रहे, ऐसे ही क्षण बच्चो में सृजनात्मकता विकसित करने के लिये अनुकूल होते हैं ।

स्वतत्र चिंतन के अवसर भी सृजनात्मकता के लिये आवश्यक है । चाहे कक्षा कार्य हो या गृह कार्य, बच्चो को ऐसे अवसर प्रदान करें, जब वे पुस्तक में दी हुई बात या अध्यापक द्वारा बताई हुई बात को ही न दोहराएं बल्कि कुछ अपनी तरफ से भी सोचें या करें । हम यदि बच्चो को दिये हुए गृह कार्यों का विश्लेषण करें तो अधिकतर कार्य ऐसे मिलेंगे जिन्हें बच्चा पुस्तक से नकल करके कर सकता है । स्वत: सोचकर कोई कार्य करने का अवसर बच्चो को बहुत कम मिलता है, फिर उनसे मौलिक चिन्तन की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?

सृजनात्मकता के विकास के लिये बच्चो मे प्रयोग करके देखने की जिज्ञासा का विकास भी आवश्यक है । "आओ यह इस प्रकार से करके देखें" यह दृष्टिकोण नए तरीके खोज निकालने के लिए आवश्यक है और बच्चों को इस दिशा में प्रोत्साहित करना चाहिये ।

क्या बच्चा अन्य बच्चो से भिन्न प्रकार से कार्य करने मे आनन्द लेता है ? यदि हाँ तो उसमे सृजनात्मकता के बीज है । हम अधिकतर वही करते हैं जो सब करते हैं, हमें अन्य लोगों से भिन्न होने मे भय लगता है । सृजनशील व्यक्ति इस बात से चिंतित नहीं रहता, बल्कि उसे अपने वैशिष्ट्य (Uniqueness) पर गर्व होता है । इसका अर्थ यह नहीं कि हम बच्चो के असामाजिक व्यवहार को भी प्रोत्साहित करें । सृजनशीलता का अर्थ अभद्रता या असामाजिकता से नहीं लगाया जाना चाहिये ।

बच्चो का शब्द एवं विचारो का भण्डार जितना सम्पन्न होगा तथा जितनी शीघ्रता से वह इन्हे काम मे ले सकेगा उतनी ही उसकी सृजनशक्ति विकसित होगी । किसी घटना को या अनुभव को वह कितने विस्तार से कहता है, यह भी सृजनात्मकता के लिये महत्वपूर्ण है । अत: प्राथमिक स्तर पर ही उसे कहानी कहने, घटनाओ का विस्तृत वर्णन करने के अनुभव प्रदान किये जाने चाहिये । चित्र बनाते समय भी जितनी विस्तृत बातें उसमें प्रदर्शित करेगा उतनी ही उसकी सृजनात्मकता को अभ्यास मिलेगा ।

सृजनात्मकता का एक पक्ष किसी यथास्थिति में सुधार कर सकना भी है । अगर व्यक्ति जिस क्षेत्र में काम कर रहा है उस काम के तरीके मे या निर्माण की गई वस्तु मे सुधार कर सके, कोई नई बात ला सके तो यह सृजनात्मक चिन्तन का लक्षण है । अत:

बच्चो को ऐसे अनुभव दिये जा सकते है जिनके द्वारा वे खिलौनो में, अध्ययन में या खेल मे काम मे आने वाली सामग्री मे नवीनता या सुधार लाने हेतु कुछ सुझाव दे सके । हमारे देश मे निर्मित होने वाली सामग्री विश्व बाजार मे टिक सके इसके लिये हमे इस सामग्री मे निरन्तर सुधार करते रहना होगा, नवीनता लानी होगी । हमारे यहाँ एक से बढकर एक कारीगर है पर कई बार वे परम्परागत तरीको से इतने बधे हुए रहते है कि कोई नई विधि या नया प्रयोग करने मे कतराते है, फलस्वरूप उनकी प्रतिभाओ का जितना लाभ मिलना चाहिए, नही मिल पाता ।

अन्त मे टारेन्स द्वारा सुझाई गई कुछ प्रवृतियो का यहाँ उल्लेख करते हुए अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा । ये प्रवृतियाँ सृजनात्मकता के विकास में सहायक हो सकती है ।

1 कहानी सुनाना या लिखना ।
2. कविता लिखना ।
3. नाटक मे भाग लेना एव लिखना ।
4 अपनी लिखी गई कृतियो का सकलन ।
5. कटपुतली के खेल का निर्माण करना ।
6 व्याकरण सम्बन्धी या वर्तनी सम्बन्धी त्रुटियाँ निकालना ।
7. गाना गाना ।
8. नऐ खेल बन कर मित्रो को सिखाना ।
9 नकल उतारना ।
10 मित्रो को पत्र लिखना ।
11. डायरी लिखना ।
12. चिडियाघर जाकर पशु पक्षियो का निरीक्षण करना ।
13. प्रकृति मे विचरण करना ।
14 वैज्ञानिक पुस्तकों को पढने मे रुचि लेना (पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त) ।
15 रगो को मिलाकर चित्र बनाना ।
16 विज्ञान के प्रयोग करके देखना ।
17 फूलो का सकलन ।
18 पौधे लगाना ।
19 जन्तुओ का सग्रह करना ।
20. खनिज पत्थरो का सकलन करना ।
21. मौसम का ब्यौरा रखना ।
22 टिकिटो का संग्रह करना ।
23. विज्ञान मेले मे भाग लेना ।

इस लेख मे सृजनात्मकता के विकास के लिये कुछ सुझाव दिये गये है । सारांश के रूप मे यह कहा जा सकता है कि कला, सगीत, साहित्य आदि ऐसे माध्यम है जिनके द्वारा बच्चो की सृजन शक्तियाँ विकसित हो सकती है । आवश्यकता है अध्यापक को अपनी सूझबूझ काम मे लेने की, लकीर से हटकर चलने की, बच्चो को मुक्त वातावरण प्रदान करने की और उनके मौलिक कृतियो की प्रशंसा करने की । □□

सृजनात्मक विकास और अभिव्यक्ति

☐ डा सत्या शर्मा

बालक की सहज अभिव्यक्ति सृजनात्मकता की दृष्टि से एक झरने के पानी के समरूप प्रवाहित होती है। पानी के इस गत्यात्मक प्रवाह को आवश्यक सरक्षण व सुरक्षा से नियन्त्रित करके ऐसे व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है जो न केवल अपने परिवार व समुदाय का अपितु सम्पूर्ण देश की समृद्धि व प्रगति का भी एक महत्वपूर्ण घटक सिद्ध होता है।

बालक अपने एक विशिष्ट पर्यावरण में बडा होता है। उसका मौखिक रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करना अथवा मिट्टी या कागज पर कुछ रेखाऐ खींचना शाब्दिक या चित्रकला के रूप मे प्रस्फुटित हो जाता है। उसकी सम्वेदनाओ, प्रेरणाओ, आशाओ, अपेक्षाओ, आवश्यकताओं व भावनाओ के प्रकाशन के लिये ये भाषिक व कलात्मक अभिव्यक्तियां ही सार्थक सम्प्रेषणीयता का रूप धारण करती है। भाषिक व कलात्मक अभिव्यक्ति किसी एक प्रयोजन से ही होती है तथापि यह सत्य है कि कभी-कभी इनसे अपेक्षित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ का भी बोध हो जाता है। यह एक अत्यधिक संश्लिष्ट प्रश्न है कि अभिव्यक्ति के मूल निहितार्थ क्या हैं? भाषिक व कलात्मक अभिव्यक्ति के सम्प्रेषण – प्रयोजन पर विचार न कर यहाँ संक्षेप में कतिपय उन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जाएगा जो बालक की सृजनात्मक अभिव्यक्ति से सम्बन्धित हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि बालक वस्तुत: एक सक्रिय, जिज्ञासु, अन्वेषक तथा क्रियाओ मे सिद्धहस्त जीव होता है वह अपने वातावरण से प्राप्त प्रेरकों के प्रति प्राय स्वीकारात्मक रूप से ही उद्वेलित होता है। बहुत कम पार्थिव वस्तुओं के प्रति उसमे निषेधात्मक प्रतिक्रिया जाग्रत होती है और बहुत ही कम परिवारों में उसकी सहज सृजनशील आत्माभिव्यक्ति के उचित प्रकाशन हेतु अपेक्षित अवसर प्रदान किये जाते हैं।

"सृजनात्मकता" के क्षेत्र में सम्पन्न अनेक शोध परिणामो से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्येक बालक में सृजनात्मकता प्रच्छन्न है पर उसकी मात्रा प्रत्येक बालक में भिन्न-भिन्न होती है – जैसा कि विल्सन (1958) से प्रभावित धारणा के फलस्वरूप सिद्ध हुआ है कि सृजनात्मकता में निहित योग्यताए सार्वत्रिक हैं और उपयुक्त अध्यापन स्थितियों, उचित साधन प्रणालियो तथा पर्यावरण से बालक की सृजनात्मकता का उत्तरोत्तर विकास किया ज सकता है। यही नही अपितु सृजनशील बालकों के व्यक्तित्व लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करके इसकी सामयिक जांच व मापन भी किया जा सकता है। (टॉरेन्स, जॉन कर्टिस 1967)।

सृजनात्मक योग्यता वस्तुत: व्यक्तिगत मनोवृत्ति है जो कि किसी एक बालक मे अवस्थित विधि गुणो तथा सामर्थ्य के समूह के रूप में व्यवहृत होती है और जो मूलत: उस बालक को सृजनात्मक विचार करने के लिये प्रस्तुत करती है। सृजनात्मक विचार अन्तत: नवीन विचारों के प्रकाशन में परिणित होते हैं, यद्यपि ये किसी मूर्त ठोस उत्पादन के रूप में प्रतिभाषित हो भी सकते हैं और नहीं भी। बालक की सृजनात्मक योग्यता वस्तुत एक तत्त्वीय न होकर बहुतत्त्वीय होती है। इसके प्रमुख तत्त्वों को सृजनात्मक उत्पादन, प्रवाहशीलता, मौलिकता, नमनीयता (Flexibility), समस्या समाधान वृत्ति, अर्थ

विस्तार क्षमता (Sementic Elaboration), पुनर्परिभाषा (Redefinition) एव समस्या सम्वेदनशीलता आदि के रूप मे प्रस्तुत कर सकते है । अत· सृजनात्मक निष्पादन को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां भी भिन्न-भिन्न होगी । विद्यालयो मे शैक्षिक प्रभावो का समायोजन इस रूप मे करना चाहिये कि बालक स्वय को सहज रूप से अभिव्यक्त,कर सके । विद्यालय मे ही बालक एक ऐसे सामाजिक वातावरण के प्रकार (Social Milieu) मे रहता है, जो अन्योन्याश्रित रूप से उसको प्रभावित करता रहता है ।

सृजनात्मक विचार प्रकाशन की दिशा मे सामाजिक शैक्षिक परिस्थितियाँ भी अपना एक महत्वपूर्ण योग प्रदान करती है । इस दिशा मे हमे विशेष जागरूक रहना होगा कि बालको के सृजनात्मक विकास के परिप्रेक्ष्य मे विद्यालयी अध्यापको की क्या भूमिका रहती है । सृजनात्मकता के प्रशिक्षण के लिये विद्यालयो मे दो प्रकार के आयोजन किये जा सकते है –

(1) किन्ही निश्चित सुव्यवस्थित एव औपचारिक विद्यालयी पाठ्यक्रमो मे अध्यापको द्वारा बालको के सृजनात्मक विकास के लिये अपेक्षाकृत अधिक परिश्रम करे अथवा

(2) एक विशिष्ट प्रकार के कार्यक्रम की आयोजना करे, जिसमे कि सृजनात्मक चिन्तन के लिये विद्यालय के बाह्य वातावरण मे भी बालको को आवश्यकतानुसार पर्याप्त अभ्यास प्राप्त करने के विविध अवसर प्रदान कराये जाए । टारेन्स ने 1960 के आसपास इस दिशा मे महत्वपूर्ण प्रयोग किए थे । क्रोफोर्ड ने भी गुण निर्धारण की प्रक्रिया (Process of Attribute listing) के द्वारा ऐसे प्रयोग किये जिनसे पारम्परिक विचारधारा के साथ या उसके स्थान पर विपरीत विचारधारा के उत्पादन अथवा रूपान्तरण को प्रोत्साहन दिया जा सके । ऑसबोर्न ने स्वयं प्रतिपादित "परीक्षण सूची" एव क्रोफोर्ड द्वारा प्रयुक्त "गुण निर्धारण सूची विधि" का समन्वय कर एक सर्वथा नई विधि का विकास किया, जिसे रूप विज्ञान सम्बद्ध विश्लेषण (Morphological Analysis) कहते है । ज्विकी ने इस विधि का सर्वाधिक प्रयोग भी किया ।

बालको के सृजनात्मक विकास की जांच वस्तुत. उनके द्वारा प्रयुक्त अभिव्यक्ति कौशल से ही की जा सकती है अत. भाषा तथा कला शिक्षण मे विशेष प्रबुद्ध मानसिक जागरूकता को प्रश्रय देना चाहिये । चित्रो की भी एक भाषा होती है उसी प्रकार, जिस प्रकार कि शब्द-आधारित भाषिक सम्प्रेषणीयता । टॉरेन्स ने लगभग 2000 छात्रो पर कक्षा मे सृजनात्मकता सम्बन्धी जो भी प्रयोग किये थे, उसमे भाषिक माध्यम से विकसित सृजनात्मकता चिन्तन पर भी प्रकाश डाला गया है । अनेक अध्यापकों के साथ विचार विमर्श करने के पश्चात् उसने (टॉरेन्स) व्यक्ति के बौद्धिक पक्ष को सबल बनाने के लिये पांच ऐसे सिद्धान्तों का निरूपण किया है (1965) जिन पर अध्यापको का ध्यान कम ही जाता है । बालको की सहज अभिव्यक्ति विकास की दृष्टि से यहां उन सिद्धान्तो का प्रसंगवश उल्लेख करना समीचीन रहेगा ये सिद्धान्त है –

1. कक्षा के असामान्य प्रश्नो के प्रति अध्यापको का आदरपूर्ण होना । प्रश्नो के माध्यम से ही बालक अपनी जिज्ञासा अथवा मानसिक क्षुधा का प्रकाशन करना है ।

2 अध्यापको के द्वारा कक्षा मे असामान्य और परिकल्पनात्मक विचारो के प्रति आदर भाव व्यक्त करना – बालक कक्षा मे अनेक बार ऐसे विचार व्यक्त कर देता है जिनका मूल्यांकन करने मे अध्यापक प्राय: असमर्थ रहते है । बालको के ऐसे असामान्य विचाराभिव्यक्ति को केवल प्रोत्साहन देना ही आवश्यक नही है, अपितु उन सभी विचारो का आदर करना भी महत्वपूर्ण है ।

3 बालको को यह भी ज्ञात होना चाहिये कि अध्यापक उनकी भावाभिव्यक्ति को मूल्यवान समझता है । अनेक अध्यापको को इसमे विश्वास नही कि बालक के विचारो का भी कुछ मूल्य है और यह स्थिति बालक के सृजनात्मक विकास के लिये बडी घातक है ।

4 सृजनात्मक योग्यता का क्रियाकलाप ऐसे ही समय में अधिक सम्पन्न होता है जबकि बालक को अपने किसी अभ्यास कार्य का तत्काल मूल्यांकन होने का भय न हो । अत: अध्यापको को विद्यालयो में मूल्यांकित न होने वाले अभ्यास कार्य के लिये भी कुछ समय प्रदान करते रहना चाहिये ।

5. उदार दृष्टिकोण अपनाने की दिशा मे आवश्यक प्रावधान यह रखना चाहिये कि शीघ्रता से किसी अन्तिम परिणाम को घोषित न किया जाय । अध्यापको को बालकों की विचार अभिव्यक्ति का मूल्याकन करने मे कारण तथा परिणाम को भी संयुक्त करना चाहिये । सृजनात्मकता से सम्बद्ध छात्रो की विपरीत विचारधारा,

कल्याणकारी लाभप्रद होने के साथ-साथ कभी-कभी घातक सिद्ध हो सकती है अत. अध्यापको के समयानुसार निरीक्षण, निर्देशन व परामर्श की, बालको को, अत्यधिक आवश्यकता रहती है ।

विद्यालयो मे, बालको को, यथासम्भव अधिकाधिक समय, उनकी मौलिक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करने, पराश्रित समानुरूपता के स्थान पर अपेक्षित नमनशीलता को प्रश्रय देने तथा उनकी उत्पादन क्षमता को प्रोत्साहित करने के लिये प्रदान करना चाहिये । कला-अध्यापक से अपेक्षा की जाती है कि वह कक्षा के प्रत्येक बालक को प्रेरित करे कि प्रदर्शनार्थ एक चित्र अवश्य बनाएँ । इसी प्रकार भाषा अध्यापक को भी चाहिये कि वह अपनी कक्षा के बालको को ऐसी अनेक कहानियां, निबन्ध, यात्रा-संस्मरण, रेखा चित्र, कविता आदि का सृजन करने के लिये प्रोत्साहित करे, जिनका कि विद्यालय मे भीति पत्रिका या हस्त लिखित पत्रिका मे प्रकाशन भी किया जा सके ।

वस्तुस्थिति यह है कि बालको की सहज स्वाभाविक भाषिक अभिव्यक्ति (मौखिक, लिखित) अथवा चित्रकला की रेखाओं को विद्यालयी पर्यावरण मे पूरा पूरा महत्व नही दिया जाता है जबकि यह ध्रुव सत्य है कि ये अभिव्यक्तियां ही बालको में प्रच्छन्न सृजनात्मकता के तत्वो को प्रतिभासित करती हैं । कतिपय शिक्षाशास्त्रियो ने सृजनात्मक विचारणा को मापने की दिशा मे भी अनेक प्रयोग करके कतिपय जाचपत्रो का निर्माण किया है । इन सभी मे टॉरेन्स द्वारा विकसित मिनेसोटा जॉच पत्र (Minnesota Tests of Creative Thinking) विशेष उल्लिखित है । इस जाचपत्र के कार्यों को निम्नलिखित तीन भागो मे वर्गीकृत कर सकेते है —

1. बालको से अशाब्दिक कार्य यथा अपूर्ण चित्रावली, चित्र निर्माण अथवा कोई स्वयं स्फूर्त डिजायन बनवाना आदि ।
2. शाब्दिक कार्य, जिसमे अशाब्दिक उद्दीपको का प्रयोग किया गया है यथा – (अ) पूछो और अनुमान करो जाँचपत्र (ब) निर्मित वस्तु-परिष्कार जाँचपत्र आदि ।
3. शाब्दिक कार्य – जिसमे शाब्दिक उद्दीपकों का उपयोग किया गया है – इसमे (अ) असम्भव सम्पादन कार्य जैसे (ब) काल्पनिक कहानियो का लेखन कार्य (स) वाक्य-पूर्ति, चित्रों के शीर्षक निर्धारित करने का कार्य जैसे अनेकानेक कार्यों को बालकों द्वारा विद्यालय-पर्यावरण में ही सम्पन्न करवाया जाता है ।

मोरगन (Morgan-1953) गिल्फर्ड (Guilford-1948) टारेन्स (Torrance-1962–67) टेलर (Taylor-1964) ब्रूनर, रोजर्स आदि के शोध-परिणामों के फलस्वरूप शिक्षा में सृजनात्मक योग्यताओ के विकास हेतु विद्यालयो मे विशेष ध्यान दिया जा रहा है । बालकों की सहज अभिव्यक्ति के प्रकाशनार्थ अनेक विद्यालयों में निम्नलिखित कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं –

1 मसिधब्बो का भाषान्तरण
2. शब्द रचना जांचपत्र
3. वाक्य रचना जाचपत्र
4. उपमा या रूपक की रचना करना – इसमे शब्दो की एक श्रृंखला प्रस्तुत की जाती है और बालकों से उन्हे परस्पर सम्बद्ध करके रूपक या उपमा की रचना के लिये अवसर दिये जाते हैं ।
5 अपूर्ण वाक्य पूर्ति
6. रंगीन घन खण्ड
7. काल्पनिक यात्रा-वर्णन
8 कविता सृजन, गायन आदि
9. तात्कालिक चित्रकला
10 अभिनयात्मक सवाद
11 नाट्य मचन
12. वाद विवाद प्रतियोगिताए
13 तात्कालिक भाषण
14. अन्त्याक्षरी आयोजन
15. गद्याक्षरी आयोजन

बालकों के लिये इसी प्रकार के अनेक कार्यक्रमों की आयोजना की जा सकती है । प्रयास यह करना चाहिये कि ये कार्यक्रम उनकी बौद्धिक जिज्ञासा की सम्पूर्ति के साथ-साथ उन्हें स्वयं कुछ खोज करके उससे उत्पन्न प्रसन्नता की अनुभूति भी कराने में सक्षम हो । विद्यालयों की कार्यप्रणाली पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा

्योकि सृजनात्मक अभिव्यक्ति सोद्देश्य अधिगमजनित ही होनी ाहिए । इस दिशा मे शैक्षिक तकनीक के "हार्डवेयर एवं ाोफ्टवेयर" दोनो ही प्रकार के – प्रोजेक्टर, अभ्यास-पुस्तिकाएँ, ाभ्यास कार्ड, फिल्मस्ट्रिप, टेपरिकार्डर, रिकार्ड प्लेयर, अध्यापन ाशीनें आदि – साधन उपयोगी हो रहे हैं। विदेशो मे सम्पन्न शोध ारिणामो से यह भी ज्ञात हुआ है कि औसत रूप से एक अध्यापक ापनी कक्षा मे कम से कम आधा समय स्वयं बोलने में, प्रदर्शन ारने मे, फिल्मे चुनने मे, जाच लेने या परिवीक्षण करने मे व्यतीत ारता है । अध्यापक के ये सभी कार्य बालकों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य मे अनावश्यक है । बालको को उत्प्रेरित करना, विषय वस्तु अथवा अभ्यास कार्य का परिचय कराना और उन्हे स्वयं सामूहिक रूप से विचार विमर्श के अवसर दे कर उनमे विश्लेषणात्मक कौशल विकसित कराना आज के बालको की प्रमुख आवश्यकता है । अध्यापको को इस दिशा मे ही विशेष जागरूकता से कार्य करना चाहिए क्योकि किसी भी राष्ट्र के विकास की असीम सम्भावनाएँ उस राष्ट्र के बालको की स्वतन्त्र स्पष्ट, स्वाभाविक अभिव्यक्ति मे ही सन्निहित रहती है ।

□□

बच्चों के विकास में रुचियों का योगदान

□ डा. इन्दु दवे

सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

जन्म के साथ ही, शिशु में निहित एक स्फुलिंग का अवतरण होता है – दिव्यलोक से पृथ्वी पर ! – यह स्फूर्तिमान कण है प्रत्येक व्यक्ति मे, स्वाभाविक रूप से सृजनात्मकता का सक्षम बीज निहित है । उपयुक्त पोषण, समुचित प्रोत्साहन, तथा प्रेरणापूर्ण पर्यावरण प्राप्त करके इस बीज के फल समयानुसार व्यक्तित्व – वृक्ष की प्रत्येक शाखा पर झूमते दृष्टिगोचर हो सकते है । किन्तु उपरोक्त अनुकूलताओ के अभाव मे यह जीन ''कण अकाल मे ही काल'' ग्रस्त हो कर नष्ट हो जाता है । प्रस्फुटन के लिये सहज रूप से मचलते एक नन्हे पौधे का कई बार वयस्को के क्रूर करों द्वारा ही कुचल दिया जाता है । सोचनीय बात तो यह है कि प्राय इस प्रकार की निर्मम चेष्टाएं ममतापूर्ण वयस्को द्वारा अनजाने, अनबूझे, अनचाहे रूप से हो पड़ती है । इन अनप्रयास क्रियाओ के पीछे कदाचित किसी स्नेहमयी माता, संरक्षक पिता अथवा कोई अन्तर्विवेकी अध्यापक के अतिरक्षण, एकमुखी लगाव या दुश्चिन्ताधिक्य भी हो सकते है । बालक की प्रकृति तथा उसमे अन्तर्निहित सृजनात्मकता संबंधी उचित जानकारी के अभाव मे ही कई बार अभिभावको की पालन-पोषण एव शिक्षण-मूल्यांकन संबंधी क्रियाएँ वास्तव मे हितोद्देशीय होने पर भी वस्तुत: बालक की सहज सृजनशीलता पनपने मे दुर्भाग्यपूर्ण वयस्क व्यवधान बन जाती है । इसलिये इस क्षेत्र मे बालकों से संबंधित सभी कर्मिकों का सृजनशीलता के मनोविज्ञान मे प्रशिक्षण आवश्यक है । बिन्दु पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करना चाहूंगी और वह है बालक की अवकाशी रुचियाँ एव सृजनात्मकता ।

सप्रत्यीय स्पष्टीकरण

पहले सक्षेप मे – प्रस्तुत लेख के सदर्भ मे प्रयुक्त – तीन शब्दों को स्पष्ट कर दू, और वे शब्द है पाठ्यक्रमी, पाठ्येत्तर, तथा पाठ्य सहगामी । यो तो बालक की रुचि, उसका (सामान्य बोलचाल के अनुसार –) शौक, उपरोक्त तीनो ही आयामो में, और मोटे रूप से उसकी समस्त जीवन – क्रियाओं में झलकता है । जो क्रियाएँ विशिष्ट रूप से बालक के निर्धारित पाठ्यक्रम से संबंधित होती है उन्हे हम यहाँ ''पाठ्यक्रमी'' कहेगे । इस पाठ्यक्रम से बाहर की क्रियाएं ''पाठ्येत्तर'' कही जा सकती है । ''पाठ्य-सहगामी'' क्रियाओ को मै एक व्यापक सप्रत्यय से प्रयुक्त करना चाहूंगी । पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अथवा उससे बाहर, शाला की सम्पूर्ण पाठ्यचर्या मे समाहित क्रियाओ को ''पाठ्य सहगामी'' सज्ञा देना चाहूंगी, क्योकि वे निर्धारित पाठ्यक्रम अथवा पठन-पाठन की समस्त अन्य गतिविधियो मे समान रूपेण सहगामी हो सकती है । वस्तुत: बालक के शालेतर जीवन की रुचियाँ भी उसके सम्पूर्ण पाठ्य सहगामी जीवन मे प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रहेगी, और जीवन की रुचियों का तथा बालक के व्यक्तिगत शौक का उसकी सृजनात्मकता से गहन संबंध होता है । सृजनात्मकता व्यक्ति की वह स्वत: भूप्रवृत्ति है जो कि अन्त: प्रेरित होकर समाज के मान को, मर्यादाओ, आदेशों से बेफिक्र, स्वजात रूप से स्फूर्त हो उठती है । अपने स्वाभाविक शौको, सहज रुचियो, सामान्य झुकावो द्वारा बालक इसे प्रदर्शित करता रहा है । परम्परा में पली व जड़ता से बधी वयस्क दृष्टि भी इन प्रदर्शनो के प्रति उदासीन होती

है । अपने स्वयं के बडे अहं की तुष्टि मे वह एक नन्हें से अंकुरित अहं की अवहेलना करता है तथा उस अंकुर को अपने शौक की दिशा मे मोडने का प्रयत्न करता है ।

---

1. नोट – इस भाषीय प्रयोग मे प्रयुक्त शब्दो के प्रति मेरा कोई दुराग्रह नहीं है । वाचकों से अनुरोध है कि वे केवल मेरे आशय के साथ-साथ चलें ।

शब्द – मेरे द्वारा इस लेख मे निर्धारित – उन्हे स्वीकृत न हो तो मुझे कोई आपत्ति नही है ।

व्यावहारिक विवेचन

जहाँ एक अध्यापक कक्षा मे बालक के अनवधान से चिन्तित रह सकता है जहाँ अपने बच्चे के निजानुरूपी विकास की महत्वाकांक्षा से पीडित कोई भग्नाशित अभिभावक अपने विखण्डित सपनों को अपनी संतान में साकार करने को अधीर रहता है । वास्तव में उपरोक्त दोनो ही वयस्कों के बालक के शौक से अपरिचित होने के कारण अथवा उनके प्रति उदासीनता के कारण इस प्रकार के रुख अपनाने की संभावनाा हो सकती है । गणित की कक्षा मे शारीरिक रूप से उपस्थित बालक का मचलता मन किसी उपन्यास की कहानी, तूलिकाओ की दुनियाँ, स्वरों के संसार, अथवा घुंघरुओं की झंकार में उलझा हो सकता है । उच्च प्रशासनिक सेवाओ, वरिष्ठ स्थान प्राप्त करने मे असफल अभिभावक, जहाँ अपने पुत्र-पुत्री हेतु मन्त्री पद के स्वप्न देखता है अथवा अभियन्ता, चिकित्सक या न्यायाधीश के उच्चासनों पर उनकी कल्पना करता है, वहाँ बालक की सहज रुचियाँ उसे लेखक, अभिनेता या समाज में सामान्यरूपेण निम्नस्तर वाले व्यवसायो से संबंधित क्रियाकलापो में विचरण कराती हो सकती है । उसके निजी शौक से विसंगत स्थितियाँ उसकी स्वत: भू सृजनात्मकता का गला घोंट देती हैं । एक त्रिशंकु के समान वहाँ उसकी चहेती तथा उस पर थोपी गई – दोनो ही क्रियाओं में असमर्थ होता जाता है । थोपे हुए विषयों व कार्यक्षेत्रों मे निम्नोपलब्धियाँ न केवल उसकी स्वप्रतिमा को विकृत-कुण्ठित-खण्डित करती हैं वरन इच्छित कार्यो मे उपयुक्त अवसर तथा उपलब्धि-प्रेरण के अभाव में उसके आकांक्षा-स्तर को भी विपरीत रूप से प्रभावित करती है । परिणाम स्वरूप विकास होता है – कार्य में असफलत, जीवन से निराश तथा समाज के प्रति कटु एक भग्नाशित व्यक्तित्व का । बालक की सहज रुचियाँ, उसकी निजी प्रवृत्तियो तथा स्वाभाविक शौको के प्रति उदासीनता के सन्दर्भ मे उपरोक्त प्रकार के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं । मूल प्रश्न है – क्या करें ।

कतिपय सुझाव

क. निरोधन एवं मौलिक बोध

स्वास्थ्य संबंधी एक प्रारम्भिक नियम है कि "उपचार से निरोधन अधिक अच्छा होता है ।" किसी दु:खद स्थिति के उत्पन्न होने के पूर्व उसके संभावित कारणों का ज्ञान प्राप्त करके उसका अवरोधन करना एक वैज्ञानिक उपागम है जो कि उक्त प्रकार के अवांछनीय परिणामों से बचा सकता है ।

सबसे पहले तो आवश्यक है कि बाल-मनोविज्ञान मे प्रशिक्षण के सन्दर्भ में बालक की प्रकृति, उसकी रुचियाँ तथा उसमें अन्तर्निहित सृजनात्मकता के पारस्परिक सम्बन्धो का मौलिक बोध बालक – कार्मिको को भली भाँति कराया जावे ।

ख. संभावित क्रियाएं

उपरोक्त ढंग से बाल-कार्मिकों मे उपयुक्त सैद्धान्तिक प्रेरण, वैज्ञानिक जागरूकता तथा सकारात्मक प्रवृतियो के विकास के पश्चात् प्रश्न आता है संभावित क्रियाओ का जिनके द्वारा शौक के माध्यम से बालक की सृजनात्मकता का निदान – विकास किया जा सके । कतिपय सुझाव – उदाहरण स्वरूप – निम्नलिखित है ।

ग. निरीक्षण द्वारा प्राथमिक निदान

बालक के अध्ययन में निरीक्षण-पद्धति की महत्ता – **बालक का मनोवैज्ञानिक निरीक्षण सोद्देश्य हो सुव्यवस्थित व कार्योन्मुखी हो** । विधिवत प्रशिक्षण द्वारा वैज्ञानिक निरीक्षण से सूचियों का आयोजन व उसके उपयोग का मूल्यांकन करके बालक की निजी रुचियों का वस्तुनिष्ठ निदान एवं अध्ययन किया जा सकता है ।

समुचित प्रेरण

उपरोक्त दत्त-सामग्री प्राप्त कर लेने पर उसके विश्लेषण के आधार पर सुनियोजित कार्य योजना बनाई जा सकती है । घर में, कक्षा में तथा कक्षोत्तर परिस्थितियो व कार्यकलापो में उसकी रुचि

संबंधी क्रियाओं को गूंथा जा सकता है । इसके अतिरिक्त, स्वलन्मता से भी उसे इन क्रियाओं को करने हेतु समुचित प्रोत्साहन, प्रेरण, पर्यावरण एव सहायता द्वारा उसके उपलब्धि-प्रेरण व आकांक्षा-स्तर का निरन्तर वर्धन करते रहना चाहिये ।

बच्चों में रुचियों का सृजन

कई बार उपयुक्त पर्यावरण न मिलने के कारण बालक में रुचियो की विपन्नता, शौको की गरीबी पाई जाती है । बाल-अध्ययन सम्बन्धी कई शोधो से यह सिद्ध हो चुका है कि पर्यावरण की संपन्नता बालकों की मानसिक शक्तियों, संवेगात्मक स्थितियो तथा रुचि-भण्डारों को संपुष्टि प्रदान करती है । इसलिये अत्यावश्यक है बच्चों को विभिन्न प्रकार के पर्यावरणों के प्रति अनावृत करना, नई नई परिस्थितियो के प्रति उद्भासित करना, नूतन चुनौतियो के प्रति जाग्रत करना, नवीन व्यक्तियो के सम्पर्क मे लाना । ऐसा करने से वे नए-नए दृश्य देख सकेगे, भाँति भाँति की आवाजें सुन सकेंगे । तभी उनमे बहुमुखी रुचियाँ जाग्रत होंगी, विविध प्रकार के शौक बढेंगे तथा उनकी सृजनात्मकता की वृद्धि होगी ।

अन्तिम कथन

अत्यन्त ही मौलिक, व्यापक एवं महत्वपूर्ण है प्रस्तुत चर्चा का विषय । इस लेख के माध्यम से कुछ सम्बन्धित स्वत: भू विचार वाचकों के सम्मुख इस आशा से परोस रही हूँ कि इस प्रकार के विचार-विमर्शों द्वारा हम वयस्क के पिता ''बालक'' की सृजनात्मकता का विकास कर एक अधिक संपन्न व सुन्दर संसार की नींव डाल सकेंगे । □□

सृजनात्मक : भाषा शिक्षण

☐ डा. जयपाल सिंह तरंग

भाषा शिक्षण का महत्व जीवन में भाषा की उपयोगी भूमिका के कारण है । भाषा बच्चों के विकास में ही सहायक नहीं होती बल्कि समाज के उत्थान मे भी भाषा का अहम रोल होता है । भाषा के कारण से गलत फहमी पैदा होती है । भाषा के माध्यम से गलत फहमी दूर की जाती है । नये अनुभवों से भाषा अज्ञान के आले-जाले साफ करने मे उपकारक सिद्ध होती है । वातावरण के साथ तालमेल स्थापित करने और उस पर नियंत्रण व विजय प्राप्त करने का सेहरा भी भाषा के सिर बंधता है । वस्तुत: भाषा व्यक्ति, समाज, व्यक्ति विचार तथा व्यक्ति भाव संसार के सामन्जस्य और नियंत्रण का सुदृढ आधार है । जटिल किस्म के अनुभवों को समझने की कुंजी भी भाषा ही है । भाषा व्यक्ति के जीवन, समाज, संस्कृति, अतीत और भविष्य से जुडी सार्थक सत्ता है । अत: भाषा शिक्षण का परम उद्देश्य भाषा की सार्थक भूमिका को पहचानना है । निश्चय ही भाषा व्यक्ति-बच्चो के विकास प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंश है ।

भाषा नया वातावरण निर्माण करने की शक्ति रखती है । भाषा द्वारा नवनिर्मित वातावरण से बच्चो को ऐसे अवसर प्रदान किए जाते है कि वे अपने निजी अनुभवों को अपने भाषा मे व्यक्त कर सके यानी बच्चे अपनी बात कहना सीख सकें । इसे सीखने की प्रक्रिया में बच्चे भाषा की अभिव्यक्ति – अभिरचना को समझदारी से प्रयोग करने की योग्यता का विकास करते हैं । कहने की आवश्यकता नही कि भाषा बच्चो के भावात्मक, ज्ञानात्मक एव सृजनात्मक विकास की सार्थक सत्ता है । भाषा के मौखिक प्रयोग से बच्चो मे विश्वास जगता है । मौखिक अभिव्यक्ति से बच्चे दूसरे लोगों से संबंध स्थापित करने में आनन्द लेते है ।

भाषा के माध्यम से ही बच्चे मां-बाप, अध्यापक, साथी, संबंधियो से ही नही, बल्कि अपने परिवेश से सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता का विकास करते है । सम्पर्क स्थापित करने की भाषिक क्षमता के अनुसार भावात्मक, ज्ञानात्मक तथा सृजनात्मक अभिव्यक्ति का विकास होता है । सृजनात्मक विकास – बच्चो के निजी अनुभव की अभिव्यक्ति का विकास होता है । बच्चे सृजनात्मक अभिव्यक्ति से आनन्द प्राप्त करते है । उनके मन को संतोष मिलता है, क्योंकि मन के गहरे अनुभव को अभिव्यक्त करने का अवसर मिलता है । कई बार ऐसे अनुभव भी सृजनात्मक अभिव्यक्ति पा लेते हैं जिनका कोई अस्तित्व नही होता, यानी जीवन मे जो मिल नहीं पाता उस खोई हुई सम्पदा को अपनी अभिव्यक्ति से पा लेता है । कोई बच्चा गली मे खेलते-खेलते झगड़े का शिकार हो जाता है । झगडालू बच्चा एक भोले-भाले बच्चे की पिटाई कर देता है । ये भोला-भोला बच्चा जब लौटकर अपने घर पहुंचता है तो अपने घर में बैठकर अपनी हार को जीत मे बदलता है । यानी भाषा में उन बातों को दोहराता है जिन बातो को पिटाई के समय प्रयोग मे नहीं कर पाया था । मन ही मन एक नये झगडे की ब्यूह रचना करता है । और अपने पीटने वाले को धराशायी कर देता है । मन के इन गहरे अनुभवों की अभिव्यक्ति सृजनात्मक विकास को प्रकाशित करती है ।

सृजनात्मक विकास बच्चों का अधिकार है । क्या करे ? कैसे करें ? इस संबंध मे एक बात और स्पष्ट कर दें कि प्रस्तुत प्रसंग मे हमारा केन्द्र बिन्दु शिक्षक और शिक्षण रहेगा न कि बच्चे और अधिगम मनोवैज्ञानिक तामझाम और शिक्षा मनोवैज्ञानिकों की

अधिगम सिद्धान्त पताका से सहारा तो लिया जा सकता है लेकिन शिक्षक ओर शिक्षण को समर्थ नही किया जा सकता । इनके सैद्धान्तिक ज्ञान ने शिक्षक को दूर फेंक दिया है और शिक्षण को सवारने में कोई लाभप्रद भूमिका नही निभायी । भाषा शिक्षक को भाषा शिक्षण सिखाइये । उसका परिणाम निश्चय ही बच्चो के लिए अधिक लाभप्रद निकलेगा । इसमे दो राह नही है कि भाषा शिक्षण विषय पर शिक्षा मनोवैज्ञानिको की कोई दमदार उपलब्धि नही है । हॉ, शिक्षा विशेषज्ञो ने अपने अनुशासन को सँवारने की दिशा में कुछ-कुछ सोचना शुरू किया है । अत: इस लेख का उद्देश्य शिक्षको में ऐसी शिक्षण सामर्थ्य विकसित करना है, जिससे बच्चों का अधिक से अधिक सृजनात्मक विकास हो सके ।

स्वभावत: बच्चे सृजनात्मक होते हैं । बच्चे अपने परिचित परिवेश को भाषा व्यवहार मे सँवारते है । वे व्यक्तिगत घटना को किस्सा बनाकर कहते हैं । वे सुनी-सुनाई कहानी को मज़े-मजे में सुनाते हैं । अपने नये अनुभवो को बार-बार कहने मे आनन्द लेते है । कभी-कभी कल्पना की उड़ान का परिचय भी देते है । धूल मे खेती करने का अभ्यास करते है । रेत के सामान की दुकान लगाते है । व्यापार करते है । गुड्डा-गुड़िया के खेलो में नये-नये अनुभव जोड़ते है और अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति का परिचय देते है । यह तो उनके पूर्वज्ञान के परिचय की बात रही ।

बच्चो की इस सहज सृजनात्मक सम्पदा को शैक्षणिक स्थिति मे मौखिक अभिव्यक्ति और लिखित अभिव्यक्ति द्वारा विकसित किया जा सकता है । सर्वप्रथम शिक्षक के प्रयास मौखिक अभिव्यक्ति के जरिये होने चाहिए क्योकि लिखित अभिव्यक्ति मे सृजनात्मक विकास के कार्यक्रम शुरू करने से पहले बच्चो का उन भाषायी तत्वो पर अधिकार हो जाना चाहिए जो लिखित अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित है । प्रस्तुत प्रसंग में भाषा शिक्षण के माध्यम से मौखिक अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहेगे ।

सृजनात्मक विकास की अवधारणा को स्पष्टत: समझ लेना जरूरी है । सृजनात्मकता एक विचार बिन्दु है । इस विचार बिन्दु के अंतर्गत व्यक्ति दूसरी वस्तु परिस्थिति, संसार, विद्यालय, पड़ोस आदि से एक भावात्मक संबंध मानता है । संक्षिप्त मे हम यह भी कह सकते हैं कि सृजनात्मकता वस्तु और व्यक्तिगत भावधारा और विचारधारा का अनोखा संगम है । इस संगम में कल्पना की छटा बराबर बनी रहती है । लेकिन कल्पना का प्रभुत्व सत्य को निगल नही जाता । व्यक्ति और वस्तु के भावात्मक संबंध से मन मे नया अनुभव जगता है । इस नये अनुभव को अपने ढंग से कहना सृजनात्मक अभिव्यक्ति की मौलिकता कहलाती है । भाषा शिक्षण की ब्यूह रचनाएं तभी सभव है कि हम सृजनात्मक विकास के अपेक्षित भाषा व्यवहारो को रेखांकित कर दें । हमारे विचार में निम्नलिखित उद्देश्यों की संप्रति करके भाषा-शिक्षण सृजनात्मक विकास का प्रभावी माध्यम बनाया जा सकता है ।

1. बच्चों मे बिना झिझक और संकोच के अपनी बात कहने की योग्यता का विकास करना ।
2 बच्चों में नये अनुभव जगाने और अभिव्यक्ति अभ्यास कराने की दृष्टि से वस्तु चयन की योग्यता का विकास करना ।
3 बच्चो में अनुभव और अभिव्यक्ति औचित्य बनाए रखने की योग्यता का विकास करना ।
4 बच्चों में दूसरो के विचारों और भावों को अपने अनुकूल ढालने की योग्यता का विकास करना ।
5 बच्चों मे अपनी बात कहने में निष्ठा और विश्वास बनाए रखने की योग्यता का विकास करना ।
6. बच्चो में अपनी अभिव्यक्ति पर व्यक्तिगत स्वीकृति की योग्यता का विकास करना ।
7. बच्चों में अपने अनुभवो को भाषा में अनुवाद करने की क्षमता का विकास करना ।

भाषा-शिक्षण के अंतर्गत मौखिक अभिव्यक्ति में सृजनात्मक विकास के लिए शिक्षण-व्यूह तैयार करते समय हमे निम्नलिखित शिक्षण-बिन्दुओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए –

1 स्वतत्र एवं निर्भीक भाषा व्यवहार ।
2 "वस्तु-चयन"
3. अनुतान एवं संवाद-कथन
4. वस्तु-विकास-प्रश्न
5. मौलिक-अभिव्यक्ति-अभ्यास
6 कल्पना-अभिव्यक्ति-अभ्यास
7. नये अनुभव के अनुरूप अभिव्यक्ति-अभ्यास
8. अनुभव-अभिव्यक्ति का औचित्य

इन शिक्षण बिन्दुओ को परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार घटाया बढाया जा सकता है । अब हम भाषा-शिक्षण को सृजनात्मक विकास का माध्यम मानकर कुछ शिक्षण-अवस्थाओ का उल्लेख करना चाहेगे । भाषा-शिक्षण मे कहानी कविता और संवाद जरूर रहते है । हम सबसे पहले कहानी का चयन करें । उस कहानी को प्रभावपूर्ण ढग से सुनाएं । बच्चो से उस कहानी को सुने । सृजनात्मक विकास का यह पहला स्तर है । इस कहानी कहने और कहानी सुनाने मे भाषा-शिक्षण की कुछ आवश्यक जानकारी, हम शिक्षक-कार्य और शिक्षार्थी कार्य के माध्यम से समझने की कोशिश करें तो भाषा-शिक्षण समझ में आएगा ।

कहानी-कथन

शिक्षक को चाहिए कि कहानी को प्रभावपूर्ण पढ़ा जाए । भावानुकूल ध्वनि, आवाज का उतार-चढाव, संवाद का विशेष ढंग और नाटकीयता को स्वाभाविक रूप मे प्रस्तुत किया जाए । बीच-बीच मे सुनने वाले बच्चो का सहयोग लिया जाए । यह कार्य प्रश्नो द्वारा सम्पन्न होता है । प्रश्न कथा-विकास मे सहायक होते है । प्रश्न बच्चों के निजी अनुभव को अभिव्यक्त करने वाले होते हैं । प्रश्न कहानी के प्रसंग-बोध से जुडे हो सकते है । प्रश्न का आशय श्रोता-बच्चों का ध्यान कहानी मे और कहानी कहने की कला मे रखना होता है । कभी संवाद को भी दुहरवाते चलते हैं । किसी भी कहानी में कुछ प्रश्नो का प्रकार निम्नलिखित हो सकता है ?

1. अच्छा, अब बताओ आगे क्या हुआ होगा ?

   (कथा-विकास)

   अपेक्षित उत्तर कथा-विकास के अनुकूल हो सकता है या प्रतिकूल हो सकता है । दोनो उत्तरो पर शाबाशी देना जरूरी है । अनुकूल है तो कहें – शाबाश तुम तो कहानी के आगे-आगे चल रहे हो ? यदि प्रतिकूल है तो कहें – तुम अगर इस कहानी को कहते तो ऐसा ही होता लेकिन इस कहानी वाले ने दूसरा ही रास्ता लिया और वह है – कहानी शुरू । अभिव्यक्ति का यह अभ्यास सृजनात्मक विकास का कार्य है ।

2. अगर तुम इस स्थिति मे (पात्र का नाम लेकर) होते तो क्या करते ?

   (अपने अनुभव की अभिव्यक्ति)

   अपेक्षित उत्तर स्थिति-विशेष में बच्चे के अपने अनुभव को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करता है । अभिव्यक्ति के इस अभ्यास से बच्चो मे सृजनात्मक विकास होता हैं ।

   यहा भी उत्तरो को कथानुकूल और कथा-प्रतिकूल कोटि मे रखकर शाबाशी का प्रोत्साहन प्रयोग करना चाहिए जैसा कि प्रश्न एक के उत्तरो मे कह दिया गया है ।

3. किसने किससे क्या कहा ?
   उसने उसे क्या उत्तर दिया ?

   (संवाद-अभ्यास तथा कथा का दुहराना)

   अपेक्षित उत्तर मे सवादो की नाटकीय अभिव्यक्ति पर बल देना चाहिए । भावानुकूल अभिव्यक्ति के अवसर भी इन प्रश्नो के माध्यम से दिये जा सकते है । नाटकीय अभिव्यक्ति के अभिनय अभ्यास से भी सृजनात्मक विकास को बल मिलता है ।

   कथा समाप्ति के बाद कहानी सुनते समय बच्चो को अपने अपने ढंग मे कहने की स्वतत्रता देनी चाहिए । निश्चय ही सब बच्चे कहानी दुहराने मे समान स्तर के नही होगे । लेकिन सब शाबाशी के अधिकारी है ।

   बच्चो से कहानी सुनते समय शिक्षक निम्नलिखित बाते नोट करता चले –

नाम – कहानी कहने मे त्रुटियां –

1. उच्चारण अनुतान और भावानुकूल अभिव्यक्ति की त्रुटियां ।
2. कहानी मे प्रयोग किए गए वाक्यो की अशुद्धिया – अपूर्ण वाक्य और – तो, फिर आदि शब्दों का अनावश्यक प्रयोग आदि ।
3. कहानी की तथ्यपरक त्रुटिया ।

इन त्रुटियों के आधार पर उपचार-सामग्री के रूप में तीन-चार वाक्यों में उन त्रुटियो को सुधारने का अभ्यास कराएं । ये अभ्यास व्यक्तिगत स्तर और सामूहिक रूप मे कराए जा सकते है । श्यामपट और लिखित प्रयोगों द्वारा भी अभ्यास करा सकते है । इन अभ्यासों द्वारा त्रुटियो और अशुद्धियो को दूर कराने के बाद एक बार फिर तीन-चार बच्चो से कहानी को दुबारा कहलवाएं ताकि यह समझा जा सके कि बच्चों ने अपनी त्रुटियां दूर कर ली हैं ।

सृजनात्मक विकास की दिशा मे सुनी हुई कहानी को सहज और प्रभावी ढंग में कहना प्रारंभिक अभ्यास है । इस अभ्यास का दूसरा स्तर सुनी हुई कहानी के नये आयाम और नया रूप देने का है । उदाहरण के लिए "लोमडी और कौवे" की कहानी को लीजिए । कहानी "चालाकी" पर आधारित है । कहानी सुनाने के बाद शिक्षक प्रश्न करता है – इस कहानी मे क्या परिवर्तन किया जाए कि कौवा लोमडी से चालाक साबित हो ?

लेखक ने इस प्रकार के कई प्रयोग प्राथमिक कक्षाओ के बच्चो मे किए । एक बच्चे के सुझाव को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है – अंतिम चरण मे – कौवा लोमडी को गाना सुनाने के लिए तैयार हो गया । पहले उसने रोटी के टुकडे को अपने एक पंजे मे दबाया और कॉव-कॉव करके गाना शुरू कर दिया । लोमडी अपना-सा मुह लेकर चली गई ।

मैने फिर प्रश्न किया – क्या इस कथा-विस्तार में कुछ और किया जा सकता है कि लोमडी कौवे से अधिक चालाक साबित हो सके ?

एक बच्चे के सुझाव के अनुसार नया परिवर्तन इस प्रकार था –

लोमडी ने कौवे के गाने को सुना और बोली तुम तो इतना अच्छा गाते हो । अगर गाने के साथ नाचने भी लगो तो तुम तो मोर से भी सुन्दर हो जाओगे । कौवा, भइया आज गाने के साथ नाचकर भी दिखाओ । कौवा प्रसन्न हो गया । कॉव-कॉव करके गाने भी लगा और अपने दोनों पंजो पर नाचने भी लगा । इसी नाच मे उसके पंजो से रोटी का टुकडा नीचे गिरा और लोमडी लेकर चम्पत हुई । मैने इस कहानी को कक्षा मे नाटक प्रस्तुति के माध्यम से बच्चो मे सृजनात्मक विकास भी कराया ।

कई बच्चो ने कथा परिवर्तन के लिए फिर हाथ उठाए क्योकि वे कौवे को चालाक साबित करने पर तुले थे । मैने इन परिवर्तनो के द्वारा कथा-विस्तार और सृजनात्मक अभिव्यक्ति के विकास के लिए अवसर निकालने की बात कही है । इन छोटे-छोटे अभ्यासो को कराने के बाद हम नयी कहानी रचना के अभ्यास पर आ सकते है जो कि सृजनात्मक विकास की दिशा मे तीसरा स्तर माना जा सकता है ।

वस्तु चयन और रचना अभ्यास के लिए बच्चो के जीवन से जुडे विषयो को लिया जा सकता है । पर्व, उत्सव, ऋतु, शादी, जन्मदिन, खेत, फसल, बाढ, परीक्षा, पुस्तक, रेल, बस, पशु, पक्षी, परी आदि विषयो से रचना के बिन्दु चयन किए जा सकते है । चित्रकथाओ की मौखिक अभिव्यक्ति द्वारा सृजनात्मक विकास के अवसर लिए जा सकते है । जरूरत इस बात की है कि बच्चो को स्वतन्त्रतापूर्वक रचने और कहने के अवसर दे । जैसे – बच्चो से कहे –

वर्षा ऋतु की ऐसी घटनाओ का उल्लेख करो जिन्हे सुनकर हँसी आए । अधिकांश बच्चों के अनुभव और अभिव्यक्ति सुने । अपेक्षित सुधार बच्चो के सहयोग से करते चलें ।

जाड़े के दिनो में बिना गर्म कपडो के अगर रात बितानी पडे तो तुम पर क्या बीतेगी ? बच्चों का भावानुकूल बोलने का अभ्यास कराएं ।

तुम किसी बारात मे सज-धज कर गए और बारात मे हो गया झगडा । रात भर भूखा रहना पडा । बारात में तरह-तरह के स्वादिष्ट पदार्थों के सपने कैसे भर गए । बताओ – दावत मे क्या-क्या खाते ? कल्पना करो और कहो । कुछ भी नही मिला तो कैसा लगा ? बोलने का अवसर दें ।

कहने का तात्पर्य है कि भाषा-शिक्षण मे बच्चों के व्यक्तिगत अनुभवों को तलाशने और अभिव्यक्ति से संवारने के मौके दें । पुस्तक के प्रभाव और शिक्षक की अपनी शैली से बच्चों की अभिव्यक्ति को मुक्त रखा जाए । बच्चों के उत्तर और कथन यदि अनुकरण पर आधारित हैं तो उन्हें स्वीकार न करें – कहें कि ये शब्द तो कहानी के हैं या मेरे है । तुम अपने शब्दो मे कहकर दिखाओ तो बात बने ?

सृजनात्मक विकास में घटना-क्रम के शिक्षण की भी जरूरत है । किसी घटना को बच्चो से सुने तो उन्हे घटना-क्रम और घटना-क्रम परिवर्तन से सृजनात्मक विकास का अवसर दे ।

घटना

नदी मे भयंकर बाढ आई । गांव डूबने लगे । लोग बहने लगे । एक मल्लाह अपनी नाव से लोगों को बचाकर नदी के पार पहुंचा रहा था । उस मल्लाह की नाव भी मझधार में डूब गई । उसकी 13–14 वर्ष की लडकी ने अपने पिता को डूबते हुए देखा । उसने दूसरी नाव ली और उन लोगों को बचाकर ले आई जो बाढ की चपेट में आ जाते । लोगों ने उसकी हिम्मत की दाद दी । भारत सरकार

ने उसे वीरता पुरस्कार दिया । वह छब्बीस जनवरी को हाथी पर बैठकर जलूस मे निकली ।

क्रम –

1 बाढ आना
2 लोगो को नाव से बचाना
3. मल्लाह का डूब जाना
4. मल्लाह की बेटी का लोगो को बचाना
5 वीरता का पुरस्कार

घटना क्रम परिवर्तन के लिए अभ्यास प्रश्न –

1 इस घटना को पांचवे घटना क्रम से शुरू करके पूरी बात कहिए ।
2. तीसरे घटना क्रम से शुरू करके पूरी बात कहिए ।
3 चौथे घटना क्रम से शुरू करके पूरी बात कहिए ।

किसको किस घटना से शुरू करने मे आनन्द आया ? अपनी अभिव्यक्ति पर पसंद बताने लगेगे ? घटना कथा बन जाएगी – सृजनात्मकता का विकास होगा ।

अब हम अपनी बात को भाषा-शिक्षण के वृहत्तर आयाम मे कहने का प्रयास करते है ।

प्राथमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण के माध्यम से कई प्रकार की योग्यताओ और कुशलताओ का विकास किया जाता है । भाषा-शिक्षण का तात्पर्य केवल भाषा-कला का विकास मात्र नही होता बल्कि अन्य विषयो का ज्ञान भी भाषा के माध्यम से दिया जाता है । कहने की आवश्यकता नही है, प्राथमिक शाला का शिक्षक कक्षा-अध्यापक होता है । कक्षा अध्यापक अपनी कक्षाओ को सब विषयो की आवश्यक जानकारी देता है । यदि हम इन कक्षा-अध्यापको के दैनिक कार्यों पर ध्यान दें तो पता चलता है कि इन सब कार्यों मे मातृ-भाषा/प्रथम भाषा-शिक्षण की भूमिका ही महत्वपूर्ण रहती है । कारण स्पष्ट है कि समाज विज्ञान, कृषि अथवा अन्य कौशल, विज्ञान आदि का शिक्षण भी पाठ्यपुस्तक प्रधान होता है और कक्षा-शिक्षक, भाषा-शिक्षक की भूमिका-निर्वाह करता है । यानी जिस प्रकार वह मातृ-भाषा की पाठ्यपुस्तको का शिक्षण करता है उसी प्रकार समाज-विज्ञान अथवा विज्ञान की पाठ्यपुस्तको का शिक्षण करता है ।

इस विवेचना से हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि भाषा-शिक्षण को सृजनात्मकता का एक माध्यम मानकर चर्चा करने से पूर्व प्राथमिक शालाओ मे भाषा-शिक्षा की यथार्थ स्थिति को समझ ले । सृजनात्मकता का विकास भाषा-शिक्षण से जुड़ा हुआ है और साथ ही वह उन स्थितियो से भी अलग-थलग नही जो समाज-विज्ञान एव विज्ञान-शिक्षण के अंतर्गत भाषा-शिक्षण की स्थितियाँ है । उदाहरण के लिए विज्ञान के घट मे विज्ञान के लाभ बता रहे है । बिजली की घंटी का जिक्र किया । बताया कि अब दरवाजे को पीटते रहने की जरूरत नही । अपने साथी को जोर लगाकर पुकारने की भी जरूरत नही । मुख्य द्वार पर बिजली की घंटी का बटन दबाओ और कोई न कोई आकर दरवाजा खोल देगा । सब कुछ भाषा मे हो रहा है । अब एक समझदार शिक्षक ने समस्या रख दी ।

एक बबलू, ढब्बू के घर गया । बार-बार बिजली की घंटी का बटन दबाया । दरवाजा खोलने कोई नही आया । बबलू नाराज होकर चला गया ।

प्रश्न . दरवाजा खोलने कोई भी क्यो नही आया होगा ?

अपेक्षित उत्तर . 1. बिजली ही नही आ रही होगी ।
2 बिजली की घंटी खराब होगी ।
3 घर मे कोई न होगा ।

स्वीकृत उत्तर . बिजली नही आ रही थी ।
सृजनात्मक विकास के लिए समस्या मिल गई ।

बबलू को ढब्बू के यहा दोपहर के खाने पर आना था । वह अपने परिवार के साथ पिकनिक पर भी नही गया क्योकि उसे मित्र के यहा जाना था ।

ढब्बू ने 1 30 बजे तक प्रतीक्षा की । जब बबलू 2 20 बजे तक नही आया तो ढब्बू बबलू के घर पहुचा । बबलू ढब्बू से बोला ही नही ।

थोडी देर बाद दोनो हसते-हसते साथ चले आ रहे है ?

प्रश्न : इस घटना-क्रम को कहानी मे कहिए ? कहानी मे यह भी बताइए कि ढब्बू ने बबलू का गुस्सा ,कैसे कम किया ? यानी ढब्बू ने बबलू को कैसे मनाया ?

एक छात्र ने कहानी यूँ कही –

बबलू ढब्बू दोनो मित्र थे । साथ-साथ स्कूल मे पढते थे । साथ-साथ खेलते थे । ढब्बू ने बबलू को एक दिन दोपहर को अपने घर खाने पर बुलाया । बबलू एक बजे आया । कई बार बिजली की घंटी का बटन दबाया और पांच-छह मिनट तक इतजार करता रहा । मगर किसी ने दरवाजा नही खोला । बबलू नाराज होकर लौट गया ।

आज उसके घर पर भी मेहमान आए थे । वे सब पिकनिक पर गए । बबलू को भी साथ ले जाना चाहते थे, मगर बबलू नही गया । सबसे कह दिया अगर मै मित्र के घर नही पहुंचूगा तो मेरा मित्र नाराज हो जाएगा । भूखा घर पर पडा रहेगा । रास्ते भर ढब्बू को बुरा-भला कहता गया ।

ढब्बू ने 1 30 तक उसका इतजार किया फिर पहुच गया बबलू के घर । बबलू बरामदे मे एक कुर्सी पर बैठा था । उसने ढब्बू को देखा और हो गया मुह लाल ! बबलू ने दो-चार गालियां दी और अपने घर से निकल जाने को कह दिया ।

ढब्बू नाराज नही हुआ । उसने उसे शान्त कर ही लिया और पूछा – वह क्यों नाराज है । उत्तर मिला मै दस मिनट तक घंटी का बटन दबाता रहा और तुम्हारे घर से कोई भी दरवाजा खोलने नही आया ।

बबलू के बरामदे में पखा लटक रहा था । गर्मी के दिन थे । बबलू पसीना-पसीना हो रहा था । ढब्बू ने कहा – तू पसीना-पसीना हो रहा है तेरे ऊपर पखा लटक रहा है । पखा चला ले न ?

उसने फिर गुस्सा दिखाया । पखा कौन चलायेगा, जब बिजली ही नही आ रही !

अब ढब्बू की बन आई – वह बोला – घंटी कौन बजायेगा जब बिजली ही नही आ रही ।

बबलू फौरन समझ गया । ढब्बू से लिपट कर रो पडा । थोडी देर में दोनों हंसते-हंसते खाना खाने चले आए ।

इस कहानी मे क्रम-परिवर्तन से अनुभव – अभिव्यक्ति को सवारा जा सकता है । आगे चल कर यही मौखिक अभिव्यक्ति लिखित अभिव्यक्ति का रूप ले लेगी । लेकिन उसके अभ्यास अलग किस्म के होगे । प्राथमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण सृजनात्मक विकास का एक प्रभाव माध्यम है और उस विकास की जड प्रत्येक विषय शिक्षण मे निहित है । □□

सृजनात्मक विकास और कहानी

□ डा रमा सिह

कहानी कहना और सुनना मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति है । संसार के प्राणधारी जीवो मे मनुष्य ही वह प्राणी है जिसे वाणी का वरदान मिला है । मनुष्य शुरू से ही अपनी वाणी का प्रयोग कर अपनी गतिविधियो को सुचारु रूप से क्रियान्वित करता आया है । जीवन के प्रारंभ से भी मनुष्य अपनी वाणी से ही अपने को अभिव्यक्त करता है । जन्म के बाद अस्फुट ध्वनियॉ उसकी भूख-प्यास आदि का संकेत देती है और फिर धीरे-धीरे बचपन से ही बोलने की क्षमता बढ़ती जाती है । ज्यो ही बालक बोलने, सुनने और समझने मे समर्थ होता है उसकी जिज्ञासाएं नए-नए रूपो मे सामने आती है । कही वह प्रकृति के बारे मे जानना चाहता है, तो कही जीवन के विभिन्न रूपो के संबंध मे प्रश्न करता है । बस यहीं से कहानी-रचना की शुरूआत हो जाती है । अपने अनुभवो का या अपने खेल-कूद के क्रियाकलापो का वर्णन बच्चा कहानी की शैली मे ही करता है । वह सुनना भी चाहता है कहानी ही दादी-नानी से वह हर रात सोने के पहले कहानी कहने का आग्रह करता है । दादी-नानी बिस्तर पर लेट कर कही जानवरो की, कहीं अपने अनुभवो की और कही देवी-देवताओ की कहानियाँ बच्चो को सुनाती है और कहानी के रस मे डूब कर बच्चा निद्रा देवी की गोद मे सो जाता है । यह है कहानी का आकर्षण – जो बच्चो के मानस की रानी है, और जो साहित्य जगत मे एक प्रतिष्ठित विधा के रूप मे स्थापित हुई । कहानी विधा का विकास हमारे यहा उपनिषदो की रूप कथाओ, महाभारत के आख्यान तथा जातक कथाओ आदि से ही हो गया था । ससार मे केवल भारत के ही सभी प्रदेशो की सभी जातियो मे कहानी सुनने का शौक रहा है । गुरुदेव विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने लेख "कादम्बरी से चित्र मे लिखा है – पृथ्वी पर सब जातियाँ कथा-कहानियो को सुनना पसन्द करती है । कहानी की एक बडी विशेषता यह है कि कहानियॉ मौखिक रूप से अपना अस्तित्व बनाए रही है । कही मुज और राज भोज की कथा, तो कही आल्हा-ऊदल की वीरता का वर्णन, या फिर कही पृथ्वीराज जैसे सूरमाओ की कथा जन-जन का कठहार बनकर समाज और राष्ट्र के आदर्शो को बराबर प्रतिष्ठित करती रही है । कही पचतन्त्र की कहानियो ने मनोरजन किया और साथ ही विवेक और अविवेक की कसौटी भी तैयार की । इस तरह की कथा-कहानियो ने घर-घर मे बच्चो के मानस को अप्रत्यक्ष ढग से परन्तु प्रभावी ढग से तैयार किया । बच्चो के हृदय मे कही खरगोश और कछुए की कथा ने सावधानी से, लगन से काम करते रहने की प्रेरणा को जाग्रत किया, तो कही महाराणा प्रताप की जीवन गाथाओ ने राष्ट्र प्रेम की भावना को उनके हृदय की कच्ची जमीन पर अकुरित किया । कहते है, अपनी माँ से कहानियाँ सुन-सुन कर ही शिवाजी मे वीरता प्रस्फुटित हुई थी । इस प्रकार जीवन के यथार्थ और आदर्शो की पहचान कराने मे और बच्चो को दुनिया से जोडने मे कहानी-विधा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है ।

बच्चो के लिए लिखी गई कहानियो मे कई विशेषताएँ देखने को मिलती है । जैसे – पचतत्र या हितोपदेश के आधार पर प्रस्तुत कहानियो मे उल्लू, गिरगिट, स्यार, कौआ आदि के द्वारा जीवन के विभिन्न पक्ष उजागर होते है, साथ ही जीवन की विभिन्न परिस्थितियो के लिए मार्गदर्शन भी मिलता है और अनेक जीवन आदर्शो की पहचान भी मिलती है । इसके अतिरिक्त वन्य-

प्राणी जगत का परिचय भी बच्चों को सहज ही मिलता है । बच्चा के मन मे कल्पनाशीलता की क्षमता को ये कहानियाँ भरपूर बढ़ावा देती है । न केवल पचतत्र आदि की कहानियो मे वरन बाद मे कहानी लेखको ने भी ऐसी कहानियाँ लिखी जिनके द्वारा बच्चो को या किशोरो को कोई सीख मिल सके । कहानी के इतिहास म काफी पहले से ऐसी रचनाए हुई जिनमे कहानी का निचोड अत मे दे दिया गया । सन, 1909 मे सरस्वती मे विद्यानाथ शर्मा की कहानी छपी 'विद्या-बहार' और कहानी के अन्त मे ये पक्तिया दी गई थी —

"अनुभव बिना है सूना पुस्तक ज्ञान,
होते नही विवेकी सब विद्वान ।"

कहानी का रचना मे कही इस तरह के उपदेशो द्वारा बच्चो के मन की आँखे खुलती है, तो कही उसमे आए हुए वार्तालापो और कथोपकथनो मे बच्चो के सजीव और मनोवैज्ञानिक चित्र मिलते है । कौशिक जी की कहानी "ताई" का आरम्भ इस सवाद से होता है –

"ताऊजी, हमे लेलगाडी (रेलगाडी) ला दोगे ? कहता हुआ एक पचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौडा ।

बाबू साहब ने दोनो बाहे फैलाकर कहा, "हाँ बेटा, ला देगे ।"

इसी तरह अनेक कहानियो मे बच्चो के ऐसे चित्र है जिनके द्वारा बच्चो मे और सामान्य पाठक मे भी मानवीय सवेदना और त्याग की भावना का उद्रेक होता है । प्रेमचन्द जी की कहानी 'ईदगाह' मे ऐसा ही मर्मस्पर्शी भावनाओ का अकन है । कहानी की कुछ पंक्तियाँ एवं सवाद नीचे उद्धृत है – "अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए । अमीना उसकी आवाज सुनते ही दौडी और उसे गोद मे उठाकर प्यार करने लगी । सहसा उसके हाथ मे चिमटा देखकर वह चौकी ।

"यह चिमटा कहाँ था ?"
"मैने मोल लिया है"
"के पैसे मे ?"
"तीन पैसे दिये ।"

अमीना ने छाती पीट ली । यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया, न पिया । लाया क्या चिमटा ! 'सारे मेले मे तुझे और कोई चीज न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया ।'

हामिद ने अपराधी भाव से कहा, "तुम्हारी उगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैने उसे ले लिया ।"

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह मे बदल गया । और स्नेह भी वह नही जो प्रगल्भ होता है और सारी कसक शब्दो म बिखेर देता है । वह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद स भरा हुआ । बच्चे म कितना त्याग और कितना सदभाव और कितना विवेक है ।"

इस प्रकार कहानी वह विद्या है जिसके द्वारा बच्चे की उन प्रवृत्तियो का विकास होता है जो उसमे सहज ही होती तो है परन्तु जिनके लिए अनुकूल प्रेरणा और उपयुक्त वातावरण अपेक्षित होता है । कही बच्चे की कल्पनाशक्ति बढती है तो कही मानवीय आदर्शो की भावना उसम जाग्रत होती है । उसकी सहज जिज्ञासाओ का समाधान भी कहानी के अनेक रूपो द्वारा होता है । वस्तुत कहानी वह विद्या है जहा मनोरजन और उपादेयता दोनो का मणिकांचन सयोग है । □□

सृजनात्मक विकास एवं निबन्ध

☐ डा. यासमीन आयशा अजीज

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीताया - महाकवि कालिदास की यह उक्ति उनकी नवनवोन्मेष शालिनी प्रज्ञा की ही देन है । रम्य तथा नूतन के प्रति आकर्षण स्वाभाविक होता है । विशिष्टता, विलक्षणता एव नूतनता हठात् हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । प्राथमिक विद्यालयो मे छात्र/छात्राओ को सृजनात्मक चिन्तन हेतु उत्प्रेरित कर तथा उन्हे सृजनात्मकता के विकास के उपयुक्त अवसर प्रदान कर हम उनमे निहित विलक्षण प्रतिभा को प्रकाश मे आने का अवसर दे सकते है । बच्चो मे जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रधान होती है । उनमे नितनूतन वस्तुओ के सम्पर्क मे आकर उनके विषय मे जानने की इच्छा नैसर्गिक होती है । इस नैसर्गिक इच्छा को यदि वाछित प्रोत्साहन न प्राप्त हुआ तो यह शनै· शनै· मन्द पडती जाती है । उपयुक्त वातावरण एव उचित अवसरो के अभाव के कारण जाने अनजाने कितने ही प्रतिभाशाली बच्चो की विलक्षण क्षमताए, विनष्ट हो जाती है । उचित वातावरण, सुविधाएं, प्रोत्साहन एव अवसर प्रदान कर हम बच्चो मे निहित इस प्रतिभा का विकास कर सकते है । मनुष्य मे यह विलक्षणता सृजनात्मकता की वाहिका होती है । किसी भी विचार की नवीन अवधारणा, नवीन प्रस्फुटन, नवीनतायुक्त प्रस्तुतीकरण, नवीनतायुक्त प्रदर्शन ही सृजनात्मकता है ।

प्राथमिक स्तरीय विद्यालयो मे पाठ्यक्रम का पूरा होना ही शिक्षण माना जाता है । विद्यालय के व्यस्त कार्यक्रमो तथा अन्यान्य समस्याओ के कारण प्राय· शिक्षक छात्रो की व्यक्तिगत विशेष आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु वाछित उत्प्रेरण तथा अवसर प्रदान नही कर पाते ।

भाषा एक कौशल प्रधान विषय है । निर्धारित पाठ्यक्रम की पूर्ति द्वारा भाषा-शिक्षक विभिन्न भाषायी कौशलो के विकास का प्रयास करते है । किन्तु भाषायी कौशलो के विकास के साथ ही साथ भाषा शिक्षक के कुछ विशेष दायित्व भी है । देश के भावी कर्णधार हमारे प्राथमिक विद्यालयो मे अपने भावी जीवन की आधार भूमि बना रहे है । ऐसे समय मे हम भाषा शिक्षको का यह दायित्व हो जाता है कि इन बच्चो मे निहित सृजनात्मक प्रवृत्ति के अनुरक्षण, उसके सम्यक् प्रकाशन एव सम्बर्द्धन हेतु विशेष प्रयास करे । आज के बच्चो मे ही कल मानवता के आसू पोछने वाले महामानव होगे, महान् नेता, महान् वैज्ञानिक या आविष्कारक होगे । इस समय नूतन के प्रति आकर्षण की इनकी भावनाओ को उत्प्रेरित करना परमावश्यक है ।

सृजनात्मक विकास मे शिक्षकों की भूमिका

सृजनात्मकता तथा शिक्षक सम्बन्धी अध्ययनो से यह तथ्य प्रकाश मे आया है कि प्राय. विद्यालयो मे परिपाटी का अनुपालन ही किया जाता है, सृजनात्मकता को प्रोत्साहित नही किया जाता है । सृजनात्मकता के विकास के लिए कुछ बिन्दुओ को दृष्टिगत रखना शिक्षक के लिए आवश्यक है । इन बिन्दुओ के सम्यक निर्वाह के अभाव मे बाल-प्रतिभा कुण्ठित हो सकती है । छात्रो मे सृजनात्मकता के अनुरक्षण एव सम्बर्द्धन के लिए ई पौल टौरस ने अपनी पुस्तक "गाइडिग क्रिएटिव टैलेण्ट" मे छ भूमिकाए वर्णित की है –

1. शरण देना

शिक्षक सृजनात्मक प्रवृत्ति के बच्चो को अपने व्यवहार के माध्यम से शरण दे अर्थात् उनका व्यवहार आकर्षक हो । छात्र नवीन विचारो, भावनाओ एव कार्यों की अभिव्यक्ति शिक्षक के समक्ष नि संकोच भाव से कर सके । जब कोई छात्र किसी नवीन विचार को सामने रखता है या कोई विलक्षण काम करता है तो कक्षा के अन्य बच्चे उसका उपहास करते है, अत' शिक्षक यह ध्यान रखे कि इन विशिष्ट बच्चो द्वारा प्रदर्शित नवीन व्यवहार की सहायता से वे शिक्षण-अधिगम अनुभवो को प्रभावी बनाये तथा उन्हे वाछित उत्प्रेरण एव प्रोत्साहन दें ।

2 सरक्षण देना

विद्यालय के सीमित समय तथा शैक्षिक क्रियाकलापो को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षक नवीनता की ओर उन्मुख छात्रो की क्रियाओ एव विचारो को स्वीकार करे और अपने संरक्षण मे उस कार्य अथवा विचार को सृजनात्मकता की ओर अग्रसर करने मे सहायता दे ।

3. आत्मसाक्षात्कार को प्रोत्साहन

विशिष्ट छात्र प्राय: संवेदनशील तथा भावुक होते है । उन्हे स्वयं को समझने का पर्याप्त अवसर दे तथा उनकी भावनाओ को समझ कर वाछित मार्ग निर्देशन दे ।

4. आत्माभिव्यक्ति का अवसर देना

विद्यालय मे छात्रों को मौखिक तथा लिखित भावाभिव्यक्ति के पर्याप्त अवसर मिलते है । सृजनात्मक चिन्तनशील छात्र संवेदनशील व भावुक होने के कारण अपनी भावनाओ की शीघ्र अभिव्यक्ति नही करते है और उपेक्षापूर्ण व्यवहार होने पर वे सृजनात्मकता के प्रति उदासीन हो जाते है, अत' ऐसे छात्रों को पहचान कर नवीन विचार व्यक्त करने हेतु प्रोत्साहित एवं उत्प्रेरित करना शिक्षक का दायित्व है ।

5 सृजनात्मक प्रतिभा को मान्यता देना

शिक्षक का यह दायित्व है कि वह सृजनात्मक प्रतिभा से युक्त बच्चो की पहचान कर उन्हें मान्यता दे तथा प्रतिभा प्रदर्शन के विशेष अवसर सुलभ करा कर सृजनात्मक विकास की ओर प्रवृत्त करे ।

6 अभिभावकों का मार्गदर्शन

सृजनात्मक बच्चो के अभिभावको से सम्पर्क स्थापित कर शिक्षक उनमे वाछित दृष्टिकोण विकसित करे । अभिभावक अपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण छात्रो की सृजनात्मक प्रतिभा कुण्ठित न करे । एतदर्थ परिवार के सदस्यो का अभिमुखीकरण अपेक्षित है । उपर्युक्त भूमिकाओ को दृष्टिगत रखकर प्राथमिक स्तरीय बच्चो मे सृजनात्मकता के विकास हेतु भाषा शिक्षक साहित्य की विभिन्न विधाओ का सहारा लेकर वाछित कल्पना के अवसर सुलभ करा सकते है । साहित्य की विभिन्न विधाओं के अन्तर्गत ''निबन्ध'' भी एक ऐसी विधा है जिसके उचित आयोजन द्वारा वे इस क्षेत्र मे बहुत कुछ कर सकते हे । सामान्यत: कक्षा 3–4 से ही निबन्ध लेखन का कार्य आरम्भ हो जाता है । भाषा शिक्षक इस परम्परागत रूप मे न लेकर यदि निबन्ध शब्द के उद्भव और विकास को दृष्टिगत रख कर निबन्ध लेखन में छात्रों को प्रवृत्त कर तो सृजनात्मक विकास मे पर्याप्त सफलता मिल सकती है ।

निबन्ध साहित्य की वह विधा है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व झलकता है । निबन्ध मे लेखक साहित्यिकता का पुट देते हुए कला का रूप संवार कर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है । पाश्चात्य मनीषियो ने ''निबन्ध'' शब्द की परिभाषा विभिन्न ढग से की है । मौन्टेन के अनुसार निबन्ध से लेखक ''आत्म प्रकाशन'' करता है, बेकन महोदय निबन्ध को ''विकीर्ण चिन्तन'' मानते है । डॉ जॉनसन का विचार है कि निबन्ध मन की शैथिल्य पूर्ण अनियन्त्रित उदभावना है । इसमे लेखक अपने विचारो को व्यक्त करता है विकीर्ण चिन्तन होने के कारण 'व्यवस्था' की ओर विशेष ध्यान नही देता । ऐलैक्जैण्डर स्मिथ कहते है कि निबन्ध आत्म व्यजक व्यंग्यात्मक एव भावनात्मक उद्वेगपूर्ण अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति किसी मानसिक वृत्ति से सम्पृक्त तथा गम्भीरता समन्वित होती है । हडसन निबन्ध को व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति मानते है ।

पाश्चात्य मनीषियो द्वारा की गयी निबन्ध शब्द की व्याख्याओ से स्पष्ट होता है कि निबन्ध में वैयक्तिकता एवं मौलिकता का विशेष स्थान है । निबन्ध मे वैयक्तिकता, नमनीयता, समाहार वृत्ति एव मौलिकता के साथ ही साथ मनोरंजन का गुण भी समाविष्ट होता है । अत' प्राथमिक स्तरीय छात्र/छात्राओं को स्वच्छन्द विचाराभि-व्यक्ति, मौलिक उदभावना एव सृजनात्मक चिन्तन की ओर उन्मुख एव प्रवृत्त करने के लिए निबन्ध एक सबलतम माध्यम है ।

निबन्ध की विधा का अवलम्ब लेकर शिक्षक निश्चय ही सृजनात्मक विकास के कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं ।

भाषा शिक्षक निबन्ध लेखन के समय छात्रो की कल्पना शक्ति को उत्प्रेरित करने वाले, चिन्तन परक तथा विलक्षण भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाले प्रकरण ले जिससे छात्र अपनी भावनाओं एवं अपने विचारो को लिपिबद्ध कर सके । छात्रो की अन्तर्निहित सृजनात्मक प्रतिभा मौलिक विचारों की उद्भावना के समय प्रकाश में आती है । शिक्षक निबन्ध हेतु विषय चयन के समय यह ध्यान रखे कि प्रकरण ऐसे लिये जाये जिनसे छात्रो को आत्म प्रकाशन का उचित अवसर मिले ।

प्रारम्भिक स्तरीय छात्रो की सृजनात्मकता के परीक्षण हेतु परम्परागत मानकीकृत बुद्धि परीक्षण अथवा सम्प्राप्ति परीक्षण उतने लाभकारी सिद्ध नही होते जितने लिखित अभिव्यक्ति सम्बन्धी अवसर । सृजनात्मक चिन्तन सम्बन्धी मिनिसोटा परीक्षण मे प्रदत्त विशिष्ट क्रियाकलापों के अन्तर्गत विलक्षण प्रकरणो पर कहानी लेखन भी एक परीक्षण है । इसी आधार पर शिक्षक निबन्ध लेखन को ले सकते है तथा कहानी की भांति ही ऐसे प्रकरण चुन सकते हैं जिनमे मनुष्यों, पशुओ, पक्षियों, वस्तुओ, ऋतुओं आदि की मूलभूत विशिष्टताओ अथवा प्रकृति से परे विलक्षण भाव रखने की बात कही गयी हो, जैसे – उडने वाला बन्दर, न दहाड़ने वाला शेर, रोने वाला आदमी, खामोश रहने वाली महिला, पत्ती खाने वाली बिल्ली, सबसे प्रेम करने वाला डाकू, सूखी वर्षा, तपता चाँद आदि । इस प्रकार के प्रकरण प्राथमिक स्तरीय बच्चों की रुचि के अनुकूल होंगे तथा उन्हे आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिलेगा । इन निबन्धों का परीक्षण मौलिकता, रुचि तथा उद्देश्य को दृष्टिगत रख कर किया जाता है ।

सृजनात्मकता का मूल्यांकन

शिक्षक निबन्ध लेखन कराने के उपरान्त उसका मूल्यांकन करे तथा देखें कि उन्हे वांछित सफलता मिल रही है अथवा नहीं । एतदर्थ वे एक निर्धारण मापनी विकसित कर सकते है ।

शिक्षक सर्वप्रथम कक्षा मे वार्तालाप एव प्रश्नोत्तर द्वारा छात्रो की सृजनात्मक प्रवृत्ति के स्तर का अनुमान लगाये । सृजनात्मकता की प्रतिभा से युक्त बच्चो मे कुछ विशिष्टता होती है इसी के आधार पर शिक्षक उनकी जाच कर सकते हैं । कतिपय प्रमुख विशिष्टताएं निम्नवत् हैं –

1. **वैचारिक प्रवाहमयता** – सृजनात्मक चिन्तन युक्त छात्र प्रवाहपूर्ण ढग से नवीन विचार प्रस्तुत करने मे सक्षम होते है ।
2. **मौलिकता** – ऐसे छात्र असामान्य विचार सामने रखते हैं । नवीन प्रकरण चुन कर अपने ही ढग से चिन्तन करते है और विचार प्रस्तुत करते है ।
3. **विचार-पद्धति मे नमनीयता** – ऐसे छात्रो के सोचने विचारने के ढग मे नमनीयता होती है । किसी विलक्षण समस्या के सम्भावित हल को नवीन ढंग से सोचते हैं तथा सही हल नवीन ढंग से सामने प्रस्तुत करते है ।
4. **विचारात्मक गुणता** – इन छात्रों के विचार गुणात्मकता से युक्त होते है । ये उपयोगी तथा सकारात्मक चिन्तन करते है ।
5. **आविष्कार-बुद्धिमयता** – ये छात्र आविष्कार बुद्धि से युक्त होते है । परिस्थितियो को देखते हुए, उन्ही के अनुरूप समस्या का सम्भावित समाधान प्रस्तुत करते हैं
6. **व्यवस्थित अभिव्यक्ति** – ये छात्र अपने विचारों की व्यवस्था क्रमबद्ध रूप मे करते हैं । इनके विचार प्रासंगिक, स्पष्ट तथा श्रृंखला बद्ध होते है फलत: अभिव्यक्ति भी व्यवस्थित होती है ।

अत भाषा शिक्षक इन विशिष्टताओं के अनुरूप ही उनकी सृजनात्मकता के स्तर का आकलन करें तथा निबन्धो के मूल्यांकन हेतु निम्नवत् निर्धारण मापनी विकसित करे –

सृजनात्मकता के गुण	स्तर				
	उत्कृष्ट	उत्तम	मध्यम	सामान्य	निम्न
1. वैचारिक प्रवाहमयता					
2. मौलिकता					
3 विचार-पद्धति में नमनीयता					
4. विचारात्मक गुणता					
5. आविष्कार बुद्धिमयता					
6 व्यवस्थित अभिव्यक्ति					

उपर्युक्त मापनी के आधार पर प्रत्येक छात्र की प्रगति का लेखा रखा जा सकता है तथा आवश्यकतानुसार उपयुक्त उत्प्रेरण के अवसर प्रदान किये जा सकते है । वस्तुत. छात्रो मे सृजनात्मक विकास हेतु शिक्षको को पर्याप्त श्रम करना होगा । छात्रो मे उचित आत्मविश्वास उत्पन्न कर उनकी सहायता करना आवश्यक है क्योंकि ''सृजनात्मकता की शिक्षा देना वस्तुत समाज के भविष्य की शिक्षा देना है ।'' भाषा शिक्षण के अन्तर्गत निबन्ध लेखन द्वारा छात्रो को सृजनात्मक विकास के अवसर प्रदान कर भाषा शिक्षक इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकते है ।

□□

पाठ्य सामग्री और सृजनात्मक विकास

☐ अशोक माथुर

आज की शिक्षा पद्धति मे सृजनात्मकता के विषय की उपेक्षा को नकारा नही जा सकता वरन् इसके विपरीत साधारण विद्यालयो में तो क्या अपने आपको आधुनिक तथा प्रगतिशील कहलवाने की उत्सुक अधिकाश सस्थाएं सक्रिय रूप से रचनात्मकता को कोई महत्व ही नही देती है । सही उत्तर केवल वे ही स्वीकारे जाते है जो पाठयपुस्तको से अक्षरश: उद्धृत किए गए हों अथवा शिक्षक द्वारा बताए गये हो । लीक से हट कर चलने वाले बालको को प्रोत्साहन की तो बात ही नहीं होती । हां, दिखावे के लिए कभी-कभी निबध, कहानी, कविता या फिर चित्र प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है ।

अब प्रश्न उठता है आखिर बालको मे सृजनात्मकता कैसे विकसित की जाये । सृजनात्मकता का अन्य विषयो के समान कोई पाठ्यक्रम तो है नही जिसका कक्षावार पाठ्यपुस्तके तथा मूल्यांकन की विधि मे उल्लेख कर किसी अलग कालाश मे अध्ययन कराया जाए । वास्तव मे प्रत्येक बालक-बालिका मे किसी न किसी मात्रा मे किसी न किसी प्रकार की सृजनात्मकता विद्यमान होती है । शिक्षा का एक उद्देश्य है या फिर होना चाहिए कि यह पता लगाया जाये कि किस बालक मे कितनी तथा कैसी सृजनात्मकता है और उसे सबसे उचित ढग से किस प्रकार उभारा जाए ।

इसका सबसे सरल साधन है कि उन्हे ऐसी सामग्री पठन हेतु दी जाये जो इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो । इस दृष्टि से उपयुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि सामग्री सर्वप्रथम बालको के बौद्धिक स्तर तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ के अनुरूप हो । वह न इतनी अधिक कठिन हो कि छात्र उसे समझ न पावे न इतनी सरल कि पाठक उसमे रुचि ही न ले । सामग्री स्तरानुकूल होगी तब ही बालक उसे रुचिपूर्वक पढेगा और उसमे रचनात्मकता विकसित होने की संभावना बनेगी । पाठ्यसामग्री उपयुक्त तब ही होगी जब उसकी भाषा भी बालक की योग्यता के अनुरूप हो अन्यथा सुग्राहय न होने पर उसका कुछ प्रभाव नही होगा ।

पाठ्यसामग्री जितनी रोचक होगी उतना ही पाठक उसका ध्यान से अध्ययन करेगा, उसे समझेगा, उस पर अपनी प्रतिक्रियाएं देगा अन्यथा पूर्ण प्रक्रिया प्रभावहीन रहेगी । पाठ्यसामग्री मे विविधता उसे स्वत: ही रोचक बना सकती है । परिकथाएं, लोककथाएं, धार्मिक व पौराणिक कथाये तथा घटनाये, साहस तथा वीरता की कहानिया,नाटक, एकाकी,ललित व हास्य निबंध आदि बालक चाव से पढते हैं । उपर्युक्त सामग्री का चयन करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि विधा मे भी विविधता हो उदाहरणार्थ कथाओ, कहानियो, नाटको, एकाकियो, निबंधों के अतिरिक्त डायरी, पत्र आदि अन्य सामग्री भी प्रस्तुत की जाए ।

स्तरानुकूल, रोचक तथा वैविध्यपूर्ण सामग्री बालको में दिलचस्पी पैदा करती है, उन्हे और अधिक पढने को प्रेरित करती है परन्तु सृजनात्मकता विकसित करने हेतु केवल यह गुण ही पर्याप्त नही होते । इसके लिए तो बालको को उपलब्ध कराये गये सामग्री का अपने आप में मौलिक होना अत्यत आवश्यक है । इस प्रकार की सामग्री ही पाठक के सम्मुख एक ऐसा नमूना प्रस्तुत करे जिनका अनुसरण बालक कर सके । ऐसी सामग्री के पठन मात्र से ही लेखक, कवि, नाटककार आदि के अनुभवों, विचारो तथा

भावनाओ का बालक पर प्रभाव पडता है, उसकी कल्पना शक्ति जाग्रत हो जाती है और ऐसी संभावना होती है कि वह स्वय भी कुछ मौलिक सामग्री लिख सके ।

ऐसी सामग्री जिसमें उपर्युक्त सब गुण हो विद्यार्थियो मे सृजनात्मकता का बीज अवश्य बो देगी परन्तु उसका अंकुरण होकर पौधे का रूप लेने की प्रक्रिया पूर्ण करना कोई सरल कार्य नही । एक कुशल माली के समान एक अध्यापक को उपयुक्त मिट्टी, उपजाऊ खाद तथा समय-समय पर सही मात्रा मे पानी उपलब्ध कराना होगा । पाठ्यसामग्री तो केवल बीज के समान है । वह लेखक के अनुभवो, भावनाओं तथा विचारो का एक लिखित रूप है तथा उस मिट्टी के समान है जिसमें सृजनात्मकता का बीज बोया जाता है । अध्यापक के सस्वर वादन द्वारा जिससे पाठ्य सामग्री का अर्थ उभर कर छात्र के सामने आ जाता है तथा पाठ के अश स्वत ही स्पष्ट होने लगते हैं, तथा बालक की रुचि जाग्रत होती है यह सब एक प्रकार से उर्वरक का कार्य करता है । अब छात्र स्वय सामग्री का गान वाचन करता है इसके लिए छात्र को सोचना पडता है, कल्पना का सहारा लेना होता है । उदाहरणार्थ यदि कहानी, नाटक, एकाकी अथवा उपन्यास की प्रमुख घटनाओं के स्थान पर स्थिति कुछ बदल जाती या कोई पात्र भिन्न प्रकार का व्यवहार करता तो क्या होता, तथा अगामी घटनाओ वा एयकस का क्या प्रभाव पडता यह भी पूछा जा सकता है कि उस रचना का अत दिए हुए अंत से भिन्न क्या हो सकता है या फिर रचना मे दिये अत के बाद पात्रो ने क्या किया होगा और उसके संभावित परिणाम क्या रहे होगे । संक्षेप मे शिक्षक को बड़े सोच विचार से ऐसे प्रश्न का निर्माण करना होगा जो बालको की कल्पना शक्ति को जाग्रत कर सके तथा वे मौलिक उत्तर दें । ऐसे प्रश्न खाद का कार्य कर सृजनात्मकता के बीज को अंकुरित करने मे सहायक होते हैं यह बीज केवल उर्वरक से तो अकुरित हो नही सकते जब तक उसे पर्याप्त मात्रा में जल न मिले अब शिक्षक का दायित्व है कि वह ऐसी स्थिति पैदा करे कि बालको तथा पाठ्यसामग्री के बीच ऐसी अंतर्क्रिया हो कि सामग्री बालक की निजी भावनाएं तथा अनुभव से जुड जाये । वह यह देखे कि बालक के विचार मनोभावना व अनुभव लेखक की विचारधारा से कहां तक मेल खाते है और ऐसी परिस्थितियो में बालक की स्वयं की प्रतिक्रिया क्या होगी । यदि बालक अपनी प्रतिक्रियाएं मौलिक ढंग से प्रस्तुत कर सके तो यह माना जा सकता है कि उसकी सृजनात्मकता का विकास हो रहा है और वह स्वयं अपने स्तर पर मौलिक सामग्री का निर्माण कर सकता है । □□

सृजनात्मक विकास में शिक्षकों की भूमिका

☐ डा. विजय लक्ष्मी श्रीवास्तव

बालक देश का भावी कर्णधार है । आज का बालक कल का राष्ट्र निर्माता है । अपनी योग्यता के बल पर जब वह बुराइयो को दूर कर अपने समाज तथा देश मे नई चेतना भरता है तब वही राष्ट्र विकसित होकर उन्नतशील देशों के समक्ष खडा होने योग्य हो जाता है । आरंभ मे बालक के भविष्य को, जो अनिश्चित एवं अनिर्धारित होता है उचित दिशा निर्देश एवं एक निश्चित रूपरेखा देने का उत्तरदायित्व शिक्षकों पर है ।

बालक दो प्रकार के होते हैं -- मेधावी एवं सृजनात्मक। मेधावी बालक वे है जिनका शैक्षणिक स्तर बहुत ऊंचा होता है परन्तु दुनियांदारी से दूर रहते हैं । वे समाज में अपने को भली प्रकार समायोजित नहीं कर पाते । ये सदैव लीक पर चलने वाले होते हैं । उदाहरण के लिए यदि कोई उनसे पूछे कि पढ लिखकर भविष्य में क्या बनोगे तो उनका सामान्यतया उत्तर होगा – डाक्टर या वकील या इजीनियर आदि बनेगे अर्थात् वे परम्परावादी कार्यों में ही लगे रहना चाहते है । दूसरे प्रकार के बालक वे हैं जो सृजनशील होते है और सदैव मौलिक एवं नई बाते ही सोचते है । उनसे यदि उपर्युक्त प्रश्न पूछा जाय तो उनका उत्तर बहुत ही अद्वितीय होगा । वे बताऐगे कि हीरो या अन्वेषक या नर्त्तक या गायक या लेखक या एडवेचरस अथवा कुछ भी बनेगे ।

आज के इस वैज्ञानिक एवं तकनीकी समाज मे सृजनात्मक बालको की अधिक आवश्यकता है न कि परम्परावादी मेधावी छात्रों की । वैसे भी जन्म से 2% बालक मेधावी होते हैं और 98% सृजनात्मक । शालाओं मे अधिकतर प्रयास मेधावी छात्रों को सुधारने के लिए किए जाते हैं । जितने भी पाठ्यक्रम है वे मेधावी छात्रो के लिए बने हैं, जबकि आज के युग में आवश्यकता है सृजनात्मक छात्रों के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम बनाने की । अभी तक जितने भी शोध हुए हैं उनमे यह पाया गया है कि अधिक उच्च मेधावी एवं उच्च सृजनात्मक छात्रो में सह सम्बन्ध (Co-relation) "2 या 3" आता है अर्थात् इन दोनों प्रकार के छात्रो में यह संबंध नगण्य है ।

सृजनात्मकता क्या है ? राबर्ट फास्ट नामक अमेरिकन कवि से किसी ने पूछा कि मौलिकता क्या है, तो उनका उत्तर था कि वे विचार जो नवीन हों । यह उत्तर सृजनात्मकता से अधिक भिन्न नहीं है, जबकि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैडिक ने, (सी. डब्ल्यु. टेलर 1964 पृ. 55) सृजनात्मक विचार भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है । उनका कहना है कि सृजनात्मक विचार वह है जो नए तत्वो से मिलकर बना हो तथा किसी न किसी प्रकार लाभदायक हो । यह तो हुई प्रक्रिया की बात लेकिन स्टेन (सी डब्ल्यु. टेलर 1964 पृ. 6) ने सृजनात्मक के लिए उत्पादन पर बल दिया है अर्थात् सृजनात्मकता वह है जो नई एवं लाभदायक उत्पादित वस्तुओं को प्रकाश में लाए । उदाहरणतः फैक्टरियों में हर साल नये प्रकार का कैमरा, टाइपराइटर, स्कूटर, मोटर, टी.वी. आदि का उत्पादन होता है और नई तकनीक का विकास होता है, यह सृजनात्मकता का ही परिणाम है ।

बालकों मे कल्पना की बहुलता होती है और इस कल्पना द्वारा विचारो (Thinking) की सृष्टि होती है । ये विचार बालकों के विकास के साधन हैं जो दो प्रकार के हैं –

पहला अभिसारी (Convergent) एवं दूसरा अपसारी (Divergent) अभिसारी वह है जिसमें केवल एक ही सही उत्तर होता है जबकि अपसारी मे किसी विचार के उत्तर विभिन्न प्रकार के होते हैं, गिलफर्ड ने सृजनात्मकता के विकास के लिए अपसारी विचार को प्रोत्साहित करने पर बल दिया है । यदि अभिसारी विचार मे ही किसी बात को अनेकानेक ढंग से परिभाषित कर दिया जाय तो वह भी सृजनात्मक हो जायेगी ।

सृजनात्मक एवं मेधावी छात्रों का तुलनात्मक अध्ययन

गेजल्स और जैक्सन ने सृजनात्मक एवं मेधावी छात्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया है । उन्होंने मेधावी छात्रो के लिए बिने का परीक्षण लिया एव सृजनात्मक छात्रो के लिए पांच प्रकार के परीक्षण किए –

अ. शब्द साहचर्य (Word Association) – इसमे टोपी, बंदूक, मेला आदि विभिन्न वस्तुएं दिखाकर छात्रो से इनके विषय मे पूछा, जिस छात्र ने जितना ही अधिक उत्तर बताया वह अधिक सृजनात्मक था ।

ब. वस्तुओ का उपयोग (Uses of things) – इसमे उन्होंने ईंट, कागज, पेंसिल जैसी वस्तुओं का उपयोग पूछा, जिन छात्रो ने जितना ही अधिक एव अद्वितीय उत्तर बताए वे सृजनात्मक थे ।

स. छिपी हुई आकृति (Hidden Shapes) – इसके अंतर्गत बहुत से जटिल चित्रो को दिखाकर उनमे छिपी हुई आकृति बताने को छात्रो से कहा ।

द. कहानियां (Fables) – अधूरी कहानियां लिखकर बच्चो से उन्हे पूरा करने के लिए कहा । इन कहानियो का अन्त तीन प्रकार का होना था – नैतिक, मनोरंजक एवं दुखान्त । तीनों प्रकार को लेकर कहानी का अंत लिखने वाले बालक सृजनात्मक थे ।

इ. समस्या बनाना (Make–up problems) – इसके अंतर्गत छात्रो से मकान बनाने, स्वीमिंग पूल बनाने तथा गणितीय समस्याऐं आदि हल करने के लिए कहा ।

इन परीक्षणों के आधार पर उन्हे जो परिणाम मिला, वह यह था कि उच्च मेधावी एवं उच्च सृजनात्मक बालकों मे कोई सह सम्बन्ध नही है । जो उच्च मेधावी छात्र थे उनकी सालाना परीक्षा के अक बहुत अधिक थे । इनके विपरीत व्यक्तित्व की दृष्टि से जो उच्च सृजनात्मक छात्र थे, उन्होने जो कहानियां लिखी उनमे हास्य, खेल भावना और अतिकाल्पनिकता अधिक थी । उन्हे एक चित्र भी दिखाया गया जिसमे एक व्यक्ति हवाई जहाज मे सोचने की मुद्रा मे बैठा था । जो मेधावी छात्र थे उन्होंने बताया कि इसे अपने व्यापार मे हानि हुई है इसलिए सोच रहा है । जो बालक सृजनात्मक थे उन्होने बताया कि इसकी पत्नी से तलाक हो गया है और इसका कारण यह है कि वह अपने चेहरे पर अधिक क्रीम लगाती थी । इसमे अति काल्पनिकता एव हास्य का पुट है ।

इन्होने छात्रों से अपनी-अपनी आत्मकथा लिखने के लिए भी कहा । एक सृजनात्मक बालक ने लिखा कि जब मैं पैदा हुआ, मेरे पिता पहाड की ओर दौड रहे थे । इसका अर्थ यह था कि उनका स्थानांतरण पहाडी क्षेत्रो मे हो गया था । इस दृष्टि से हम देखे तो पाएंगे कि वे कलाकार जो अन्वेषक हुए है – सृजनशील थे ।

सृजनात्मकता का परीक्षण

टारेंस ने कहा है कि सृजनात्मकता में चार वस्तुओं का होना आवश्यक है –

क. धारा प्रवाहिता (Fluency)

ख. लचीलापन (Flaxibility)

ग. मौलिकता (Originality) तथा

घ. विस्तार (Elaboration)

इस आधार पर छात्रों पर दो प्रकार के परीक्षण किए गये – शाब्दिक (Verbal) तथा अशाब्दिक (Non verbal)

शाब्दिक परीक्षण में टूटे डिब्बो का उपयोग पूछा गया तथा मैन्डिक का शब्द साहचर्य परीक्षण लिया गया । इन दोनों परीक्षणों में उपर्युक्त चारों बातें सही पाई गईं । अशाब्दिक परीक्षण में अधूरे चित्रों को पूरा करने के लिए तथा वृत्तो से चित्र बनाने के लिए दिए गए ।

सृजनात्मक विधियां

सबसे पहले ये विधियां औद्योगिक क्षेत्र मे आई । फिर इनका उपयोग शिक्षा में किया जाने लगा । औद्योगिक क्षेत्र के अंतर्गत दो प्रणालीं अपनाई गई –

पहला, सजेशन बाक्स (Suggestion box) – डोनाल्ड नेल्सन ने द्वितीय विश्वयुद्ध मे युद्ध के अस्त्रो के निर्माण हेतु नये-नये विचार देने के लिए कहा था उन्हे पुरस्कृत करने की योजना रखी । दूसरा, ब्रेनस्टोर्मिंग (Brain Storming) एसबोर्न ने इस परीक्षण को एक समूह पर लागू किया जिसमें विभिन्न विषयों से संबंधित कई लोग मिलकर चर्चा करके नई-नई बाते बताएं । जैसे रंग का उपयोग – इसमें भौतिक शास्त्री, रसायनविद्, जीवविज्ञानी आदि ने आपस में विचार विमर्श करके नए-नए रंगों का आविष्कार किया तथा उनके उपयोग बताए ।

शिक्षा में उपयोग

इन औद्योगिक विधियों का शिक्षा मे उपयोग इस प्रकार किया जा सकता है कि छात्रो के विभिन्न समूह बनाकर, विभिन्न विषयो को लेकर, समान विचारो के आधार पर समस्याएं हल करने हेतु कहा जाए । उदाहरण के लिए सामाजिक समस्याओं के हल हेतु, महात्मा गांधी ने अल्पसंख्यक एवं पिछडे वर्गों की समस्याएं किस प्रकार हल की, इस विषय पर विभिन्न समूह के छात्र बैठकर विचार विमर्श करें एवं उसके समाधान के लिए अपनी-अपनी नवीन उद्भावनाएं प्रस्तुत करें । इसके अतिरिक्त अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों पर भी चर्चा करें । उदाहरण के लिए टेलीफोन का आविष्कार ग्राहमबेल ने किया । इसकी रचना कान की रचना पर आधारित है । इसमे नई तकनीक के विकास के लिए जीव विज्ञानी, भौतिकशास्त्री, रसायनशास्त्री आदि एक समूह मे बैठकर विचार करें एव नई उद्भावनाएं प्रस्तुत करें ।

सृजनात्मकता का विकास छात्रो में सामान्यता पांच वर्ष से लेकर नौ वर्ष की अवस्था तक होता है । यह कहना अनुचित नही होगा कि सृजनात्मकता का सम्बन्ध कल्पना से अटूट होता है । कल्पना के पंखों पर बैठकर मात्र मनोरंजक भावो की ही पूर्ति नहीं होती, वरन् सृजनात्मक भावो की भी सृष्टि होती है । वस्तुत: कल्पना की नींव पर ही विकास का महल खडा होता है और यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अपना बहुमूल्य योगदान प्रदान करती है । इसलिए कल्पना के सम्यक् विकास के लिए शिक्षकों को सावधानी पूर्वक सही कदम उठाने चाहिये तथा सृजनात्मकता के विकास के लिए उपर्युक्त आयु समूह के बालकों पर विशेष ध्यान देना चाहिये । आज के युग में जहां 98% सृजनात्मक बालक हैं, जिनके शिक्षण पर विशेष बल देने की आवश्यकता है, इसके शिक्षण हेतु दो विधियो का उपयोग किया जा सकता है –

अ अन्वेषणात्मक उपागम (Discovery approach) – इस विधि के अनुसार छात्रो को अन्वेषक की स्थिति में लाकर, विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न कर, उनमे नये विचारो को लाने हेतु प्रयास किया जाय एव इस दिशा मे उन्हे प्रोत्साहित किया जाय ।

ब. समस्या हल विधि (Problem solving) – इस विधि के अंतर्गत निम्न चीजो का उपयोग किया जा सकता है –

1 प्राप्त सामग्री से सूचनाए एकत्रित करना – जैसे सिक्के, ब्रह्म लिपि आदि छात्रो के सम्मुख रखकर उनके विचार आमन्त्रित किए जाये । इसी प्रकार भूगोल के पाठ मे नक्शा दिखाकर, विभिन्न स्थान बताकर बालको से वहां के लोगो के बारे मे बताने को कहा जाय ।

2 वर्तमान समस्याओ का हल – छात्रो के सम्मुख वर्तमान सामाजिक समस्याए जैसे – छात्र आक्रोश के कारण जन-सम्पत्ति की हानि, उचित शिक्षा के अभाव में बालको का गुमराह होना, बाल मजदूरों की बढती हुई समस्या आदि को लेकर शिक्षक स्वयं आगे आएं और इनका कुछ हल बताकर बालको से पूछें कि इन समस्याओं के समाधान के लिए और कौन-कौन से उपाय किए जा सकते हैं ।

3. भविष्य में इसके परिणाम – शिक्षक बालको को यह बताएं कि सही निर्णय लेने से भविष्य मे परिणाम अच्छा होता है । उदाहरण के लिए, यदि सम्पूर्ण भारत में सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो, खेती के लिए उपयोगी समस्त औजारों का उचित प्रयोग हो, उत्तम खाद का उपयोग किया जाय तो कृषि पर इनके क्या प्रभाव पडेगे ? दूसरा यह कि, वन्य प्राणियो के संरक्षण से तथा वृक्षारोपण से भविष्य में कौन-कौन से लाभ हो सकते हैं ? तीसरा यह कि वायु, जल, ध्वनि आदि से उत्पन्न प्रदूषण का क्या प्रभाव पड रहा है एवं उनके रोकने के उपाय तथा लाभ क्या हैं ?

4. वर्गीकरण हेतु योजना बनाना – अलग-अलग विषय के शिक्षक अपने पाठ को पढाते समय वस्तुओ के वर्गीकरण पर ध्यान दें । उदाहरण के लिए वनस्पति शास्त्र

के शिक्षक अपने शिक्षण के समय छात्रों को विभिन्न प्रकार के पौधे, फूल, पत्ते, फल, जड आदि लाने को कहें और उनका वर्गीकरण करने को कहे । इसके लिए शिक्षक कुछ बाते तो स्वयं बताए और शेष छात्रों को बताने को कहें । इसी प्रकार व्याकरण के पाठ में भी प्रयोग किया जा सकता है ।

5. अन्वेषण किस प्रकार करें – अन्वेषण हेतु उचित प्रयोग एव आंकडों का एकत्रीकरण शिक्षक छात्रो को बताए तथा उनके हल हेतु विचार प्रस्तुत करें । नागरिक शास्त्र, सामाजिक शास्त्र आदि विषयो को पढाते समय उनमे समस्याओं को ढूढने को कहे तथा उनके हल के उपाय बताएं तथा बालको से भी नवीन उद्‌भावनाएं बताने को कहें ।

6. उन्नत उपकरणो का निर्माण – कुछ विषयों के शिक्षण में इस विधि का उपयोग किया जा सकता है । उदाहरण के लिए भाप इंजन का पाठ पढाते समय शिक्षक यह बताएं कि इस प्रकार के इंजन के निर्माण में किस प्रकार की कठिनाइयां आई तथा उन कठिनाइयो का अन्वेषकों ने कैसे निराकरण किया तथा आज के युग में किस प्रकार के इंजन उपयोगी हो रहे हैं । इसी प्रकार अन्य विषयो के पाठो के शिक्षण में भी उत्पन्न कठिनाइयों, उनमें स्थानीय सुधार एवं उनके उन्नत करने के उपाय बताएं ।

7. निरीक्षणो का उपयोग – अधिकतर होता यह है कि बालक वैज्ञानिक निरीक्षण रट कर याद कर लेते है और समझते है कि परीक्षा के लिए तैयारी हो गई । वास्तव में उन्हें सूक्ष्म निरीक्षक बनाने की आवश्यकता है । जगदीशचन्द्र बोस का उदाहरण हमारे सम्मुख है जिन्होने बचपन में ही इस बात का निरीक्षण कर लिया था कि पौधों में भी जान है । शिक्षको को इसके लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है ।

शिक्षक छोटे बच्चों को पढाने के लिए, विज्ञान के पाठ में, विभिन्न प्रकार की ध्वनियो का टेप सुनाकर उनसे बताने को कहे कि अमुक ध्वनि किसकी है । उनके उत्तरों को नोट कर के रखे । इसी प्रकार उन्हे कविता की दो पंक्तियां सुनाए तथा उन्हे पूर्ण करने को कहें । कोई अधूरी कहानी सुनाकर उसे पूरा करने को कहे और उनके उत्तरो को नोट करते जायें । दूसरा तरीका यह है कि बालको के समक्ष विभिन्न प्रकार के अधूरे चित्रों को रख दिया जाय और उन्हे पूरा चित्र बनाने को कहा जाये । बालकों के इन उत्तरों को लेकर शिक्षकों का उत्तरदायित्व है कि सृजनात्मकता के आधार पर उनका मूल्यांकन करे ।

प्राथमिक शालाओ में अशाब्दिक परीक्षण अधिक होता है और यह अत्यधिक उपयोगी भी माना गया है । जैसे, बच्चों से विभिन्न प्रकार के मिट्टी के खिलौने बनवाना, लकडी से विभिन्न प्रकार की आकृतियां बनवाना, अधूरे चित्रों को पूरा करने को कहना, जटिल आकृतियो मे छिपी हुई अलग-अलग तरीके की आकृतियों को पहचानना, खेल-खेल में पाठ शिक्षा देना आदि । इसके लिए शिक्षक स्थानीय सामग्री से उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग कर शिक्षण सहायक सामग्री बनाकर शिक्षण करें । साथ ही वे प्राथमिक शालाओं मे सृजनात्मकता के विकास को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार की क्रियात्मक विधियां अधिकाधिक अपनाएं ।

यह चिन्ता का विषय है कि अभी भी हमारी शिक्षण विधियां परम्परागत हैं जिनमें शिक्षक अधिकतर मेधावी छात्रों के शिक्षण हेतु व्यवस्था करते है, जिनका प्रतिशत नगण्य है । आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक सृजनात्मक छात्रों के शिक्षण के लिए विशेष रूप से व्यवस्था करें एवं उन्हें प्रोत्साहित करें । वे अपनी पाठ-योजना बनाते समय इस बात का ध्यान रखें कि वह सृजनात्मक हो । ये पाठ योजनायें विभिन्न विषयों में निम्न प्रकार की हो सकती है –

भाषा शिक्षण मे कविता की कुछ पंक्तियां बालकों को देकर, उनकी समस्या बताकर, उस कविता को पूर्ण करायें । इसके अतिरिक्त कुछ समस्याएं देकर छात्रों से कहानियां लिखवाएं, महान् वैज्ञानिक, समाज सुधारक, साहित्यकार आदि के चित्र दिखाकर उनकी उपलब्धियां बताएं और पूंछे कि आज के युग में यह कहां तक उपयोगी है और विकास के लिए कौन-कौन से कार्य करने चाहिये ।

सामाजिक अध्ययन के शिक्षण में निम्न प्रकार के पाठ हो सकते हैं –

1. यदि तुम्हें भारत का प्रधानमंत्री बना दिया जाय ? यदि तुम्हे शाला का प्रधानाचार्य बना दिया जाय ? यदि तुम्हें क्रिकेट टीम का कप्तान बना दिया जाय ? या कल्पना करो कि तुम

एक घडी हो, या खेल का मैदान हो आदि । बालक इसमे कल्पना के अनुरूप तरह-तरह के मनोरंजक उत्तर देंगे और शिक्षक उन उत्तरो का मूल्यांकन करे ।

2. इसके अतिरिक्त शिक्षक इस प्रकार की पाठ योजना तैयार करे कि तुम जनसम्पत्ति के संरक्षण के लिए कौन-कौन से कार्य करोगे ?

3. स्थानीय कुटीर उद्योगो को बढावा देने के लिए क्या करोगे ? आदि ।

भौतिक शास्त्र के शिक्षण मे इस प्रकार की पाठ योजना तैयार की जा सकती है कि यदि तुम्हे चन्द्रमा पर भेज दिया जाय तो कैसा अनुभव करोगे, या अतरिक्ष मे उडान भरते समय तुम कैसा महसूस करोगे ? आदि ।

गणित शिक्षण मे शिक्षक रटे-रटाए सूत्रो का प्रयोग न कर नवीन उद्भावनाएं प्रस्तुत करे । उदाहरण के लिए पाइथागोरस का साध्य कितने प्रकार से सिद्ध करोगे ? या चार अंको से कितने प्रकार की संख्याए बनाई जा सकती है ? आदि ।

जीवविज्ञान की पाठ योजना तैयार करते समय शिक्षक को स्वयं क्रियाशील न होकर छात्रों को क्रियाशील करने की आवश्यकता है । शिक्षक पाठ के कुछ बिन्दु देकर छात्रो की समस्याओ के निराकरण हेतु प्रेरित करे । इसी प्रकार सभी विषयो पर शिक्षक लगन से पाठ योजना तैयार करे ।

इन विभिन्न विषयों की पाठ योजनाओ के आधार पर छात्रो द्वारा प्राप्त उत्तरो को लेकर उनका मूल्यांकन कर कक्षा में उस पर चर्चा करे एवं उस छात्र को अधिक सृजनशील बताएं जिसका उत्तर अधिक अद्वितीय, मनोरंजक, काल्पनिक एव मौलिक हो । जो शिक्षक इस प्रकार का शिक्षण करते है, उन्हे प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को पुरस्कृत करना चाहिये जिससे वे अपने उत्तरदायित्व का पालन रुचि के साथ कर सकें ।

आज विज्ञान और तकनीकी का युग है ,। भारत जैसे विकासशील देश मे विज्ञान और तकनीकी पर अधिक बल देने के लिए हमारी सरकार का लक्ष्य देश मे वैज्ञानिक मानसिकता के विकास हेतु प्रयास करना है । ऐसी परिस्थिति में देश की उन्नति को ध्यान मे रखकर शिक्षको का परम उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे भारत के कर्णधार बालको – विशेषत: सृजनात्मक बालको की शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था करे तभी भारत जैसे विकासशील देश का सर्वागीण विकास संभव है । □□

प्रभावी शिक्षण कैसे हो ?

☐ श्रीमती शा. श्रीवास्तव

शिक्षक राष्ट्र की चेतना और प्रगति का मूलाधार है । वह देश के भविष्य का निर्माण करता है, एवं उन्नति की ओर अग्रसर करने में सतत् सचेष्ट रहता है । इतिहास के पृष्ठों को उलटने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शिक्षण कार्य शिक्षक द्वारा मौखिक रूप से किया जाता था जिसमें छात्र निष्क्रिय श्रोता बना रहता था ।

वर्तमान प्रगतिशील शिक्षावेत्ता इस विचारधारा के समर्थक हैं कि छात्र सक्रिय रहकर ज्ञान की प्राप्ति करें । इसके लिए शिक्षक विभिन्न प्रकार के उपक्रमों, उपकरणों का सहारा लेता है जिससे पाठ्य वस्तु सुबोध तथा सरल बनने के साथ-साथ रोचक, सरस एवं हृदयग्राही बन जाए और बालक उसमें रुचि ले, क्रियाशील बना रहे । इन्हीं साधनों को सहायक सामग्री की संज्ञा देते हैं अत: सहायक सामग्री वह साधन है जिसके द्वारा किसी विषय विशेष या बिन्दु विशेष को सरलता से स्पष्ट किया जाता है । इन साधनों के उपयोग से शिक्षक भूतकाल को वास्तविक बना सकता है । दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि छात्रो को घटनाओ के कालक्रम का ज्ञान हो जाए, किसी चित्र या प्रतिरूप के सहारे कोई घटना उनके मस्तिष्क मे अंकित हो जाए, उन्हें काल और स्थान का ठीक-ठाक ज्ञान हो जाए आदि । उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनको सहायक सामग्री कहते हैं ।

बालक का इसमें सक्रिय सहयोग रहता है । स्पष्ट चिंतन, स्फूर्ति एवं उत्साह का प्रस्फुटन होता है । इन सहायक उपकरणों के प्रयोग द्वारा शिक्षक भी क्रियाशील बनता है और छात्र भी, अत: अब हमें देखना है कि शिक्षक के यह कौन से क्रियात्मक उपादान हैं, जिन्होने संजीवनी शक्ति का संचार किया है और जिनके उपयोग से शिक्षण प्रभावपूर्ण उपयोगी और सक्रिय बन सकता है । इन क्रियात्मक उपादानो को हम मुख्यत: दो भागों में विभाजित कर सकते हैं –

1. कक्षा के अन्दर
2. कक्षा के बाहर

कक्षा के अंदर क्रियात्मक उपादान

कक्षा के विद्यार्थियो का सबसे प्रथम और चिरस्थायी केन्द्र कक्षा ही है, अत: कक्षा शिक्षण में क्रियात्मकता एवं क्रियात्मक वातावरण का सृजन अनिवार्य है । शिक्षक का यह प्रयास सदा ही रहना चाहिए कि वह छात्रो को कक्षा में अधिक से अधिक क्रियाशील रहने का उपक्रम करे । साधनो का अभाव नहीं, उन विधियों का अभाव नहीं, उन सहायक सामग्रियो की भी कमी नहीं है, "कमी है शिक्षक के दृष्टिकोण को विस्तृत करने की, उसे उन साधनो को व्यवहृत रूप देने की," वातावरण तो उसके जरा से प्रयास से ही सृजनात्मक एवं क्रियाशील हो उठेगा ।

तो आइए इन साधनों पर, इन उपक्रमों पर, थोड़ा मनन करें और इन्हें अंगीकृत करने का विचार भी करें –

कक्षा के अन्दर नाटक प्रहसन आदि – के द्वारा छात्रों की सृजनात्मक शक्तियों का विकास किया जाता है । इतिहास आदि विषयों में तो इस रीति के प्रयोग से पाठ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना हो जाती है । इसमें छात्र क्रियाशील रहते हैं । इसके द्वारा बालकों की इन्द्रियों को शिक्षित एवं प्रफुल्लित बनाया जाता है । इसके द्वारा कर्णेन्द्रियो, नेत्रों तथा हाथों को शिक्षित किया जाता है । इस प्रकार इसमें हाथ तथा मस्तिष्क की शिक्षा के समन्वय के लिए पर्याप्त

अवसर प्रदान किए जाते हैं । इसके द्वारा छात्रों में विषय ग्राह्यता आत्मविश्वास तथा अभिव्यंजना शक्ति विकसित की जाती है । उनकी लज्जाशील प्रवृत्ति एवं झिझक का निवारण हो जाता है तथा बालक बोलने की कला का ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं । अत: शिक्षण के लिए अभिनय एक महत्वपूर्ण क्रियात्मक उपादान है । अब तक ऐतिहासिक घटनाएँ तथा भाषा की कहानियाँ नीरस समझी जाती थीं किन्तु इनको अभिनय कला ने सरस तथा सजीव बना दिया है । प्रसाद के 'स्कंद गुप्त' नाटक, वृन्दावन लाल वर्मा के "हस मयूर" आधुनिक एकांकी नाटक, ध्वनि रूपक आदि को भी कक्षा मे कराया जा सकता है ।

शिक्षक को केवल चतुर्दिक दृष्टि रखकर यह देखना है कि इन नाटकों तथा प्रहसनों की भूमिका तथा स्वय नाटक भी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को लिए हुए हो जिससे छात्र अनुभव करने के साथ-साथ उनको करके कुछ सीख सके । एक लेखक ने ठीक ही लिखा है – "Activity through play" generates in the student a feeling of self confidence which is an asset for him इतिहास आदि की कक्षाओ मे क्रियात्मकता लाने हेतु किसी भी नाटक – **सिकन्दर तथा पोरस** का **सर टामसरों तथा जहांगीर** का जो विभिन्न चरित्रों के परिचायक है – कक्षा मे करने को कहा जा सकता है । कभी-कभी कक्षा शिक्षण मे जीवन लाने के लिए कठपुतली द्वारा भी जागरूकता एवं रुचि का विकास किया जा सकता है ।

इसी प्रकार वाद-विवाद प्रणाली के प्रयोग द्वारा भी कक्षा को सक्रिय स्वरूप प्रदान किया जा सकता है ।

भाषा आदि विषयो में किसी प्रसंग को दो भागों मे बांटकर एक विद्यार्थी से, एक भाग तथा दूसरे विद्यार्थी से दूसरा भाग पढ़ने को कहा जा सकता है । इस प्रकार यदि हम और भी विचार करें तो कक्षा में छात्रों से विभिन्न युगो के विभिन्न कवियो तथा लेखको के चित्र आदि लाने का आदेश दिया जा सकता है और उसे काल क्रमानुसार शिक्षक कक्षा में एलबम रूप में निर्मित करा सकता है । इसी प्रकार विद्यालयो में छात्रों को विभिन्न मुख्य पर्वो, अवसरो, राष्ट्रीय दिवसों पर भी क्रियाशील बनाया जा सकता है । उदाहरणार्थ – तुलसी जयंती के अवसर पर तुलसी की विभिन्न रचनाओ का नाम लिखकर एक चार्ट रूप में तैयार किया जाएं, अरविन्द की रचनाओं को उनकी जीवन झांकी' आदि से सम्बन्धित कार्य भी कक्षा शिक्षण को क्रियात्मक उपादानो से परिपूर्ण करा सकते है ।

कभी-कभी प्रदर्शनी आदि का भी आयोजन किया जा सकता है । इस क्रियात्मक उपादानो की सूची तैयार करना कठिन है । जितना ही शिक्षक जागरूक होगा, रुचि लेगा उतना ही छात्र कक्षा मे ही रहकर कुछ कार्य सदा करके शिक्षण के पाठों की अनुभूति प्राप्त करेंगे और ऐसा ज्ञान उनके मन, मस्तिष्क, शरीर सबको ही एक नवीन अनुभव एवं ज्ञान से आलोकित कर प्रकाशवान कर देगा ।

इसके पश्चात इस क्रियात्मक उपादान का दूसरा क्षेत्र है कक्षा के बाहर – फील्डट्रिप अर्थात पर्यटन – यह पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अग है क्योंकि अनुभव ज्ञान की अखण्ड राशि है, धरोहर है इसके द्वारा "Students get first hand experiences of handling things, seeking functions, Spots and situation which they study in their text books. कुछ विषय ऐसे हैं जिनका शिक्षण विद्यालय की दीवारो के भीतर सफलतापूर्वक प्रदान नहीं किया जा सकता, वरना इसके लिए शिक्षा सम्बन्धी पर्यटन अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि विद्यार्थी को इसमें प्रत्यक्ष रूप से अध्ययन करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं ।

उद्देश्य – "Jack Alleus" ने ठीक ही लिखा है "Travel helps to provide the direct experience which brings reality to social concepts." दूसरी ओर जवाहर लाल नेहरू का संदेश है – "Tourism promotes world understanding." इस प्रकार पर्यटन कक्षा शिक्षण की परम्परागत विधियो में परिवर्तन लाकर विषय को रोचक एवं बोधगम्य बनाता है ।

इसके माध्यम से छात्र अपने भौतिक, सामाजिक एव ऐतिहासिक तथ्यों का परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ उसके पारस्परिक सम्बन्धों को समझने मे समर्थ होते हैं । इनके द्वारा उनको दैनिक जीवन उपयोगी ज्ञान भी प्राप्त होता है । जीवन मे वे अनुभव के धनी बन सकते हैं और इसके अनुसार पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं । इससे बालक के विचार अनुभव एव ज्ञान की सीमाएँ दृढ़ हो जाती है, उसके ज्ञान मे परिपक्वता तथा विचारों एवं अनुभवों में व्यापकता आती है । पर्यटन द्वारा छात्रों की निरीक्षण कल्पना, अन्वेषण, निर्णय आदि शक्तियों का विकास

होता है तथा उनमे सौन्दर्यानुभूति का भी विकास होता है । इस प्रकार इसके उद्देश्य – "To proaden under-standing and experience through direct purposeful observation" की पूर्ति होगी ।

जीवन इतना छोटा है और क्षण इतने मूल्यवान है कि प्रत्येक विषय का विशद् ज्ञान प्राप्त करना और कराना दोनो को कठिन है, अतः इस प्रकार के पर्यटनो का सगठन थोडे समय मे ही बहुत कुछ ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होगा ।

पर्यटन विद्यालय के शिक्षण और अन्य ज्ञान की प्राप्ति के मध्य एक पुल का काम करता है । बालक जो कुछ कक्षा मे पढता है उसका क्रियात्मक क्षेत्र उसे इन ट्रिप्स "Trips" मे मिलता है ।

उदाहरणार्थ छात्र जब फैक्ट्रियो मे जाते है, वे देख सकते हे, कितना उत्पादन और किस प्रकार हो रहा है । इन मजदूरो की झोपडियो का अध्ययन कर वे पता लगा लेते है कि इतने सुन्दर और बारीक काम करने वाले शिल्पियो, कारीगरो, मजदूरो का रहन-सहन कैसा है उन्हे क्या-क्या सुविधाये हैं । इस प्रकार विद्यालयी ज्ञान को वे मानव समाज के जीवन के निकट ले आयेगे । इतिहास को ही लीजिए, हजारो वर्ष पुरानी इमारतों की कहानी उनकी चित्रकारी का ज्ञान इन पर्यटनों द्वारा जितना सभव है उतना कक्षा मे नहीं कराया जा सकता है ।

सामान्य विज्ञान को ही लीजिए – बागवानी आदि के द्वारा इस विषय को क्रियात्मक रूप दिया जा सकता है । भूगोल का आधार ही है । विज्ञान की समस्त क्रिया क्रियात्मक उपादानो पर ही अवलम्बित है । नागरिक शास्त्र का समस्त ज्ञान व्यवहारिकता पर आधारित है । अतः इस प्रकार के परिभ्रमणो की योजना, ज्योति दीप का कार्य करेगी ।

श्रव्य दृश्य साधनो मे इसका प्रमुख स्थान है । सग्रहालयो, स्थानीय स्थानो, आकाशवाणी, पोस्ट आफिस, बैक सभी श्रव्य दृश्य सामग्री, क्रियात्मक उपादान का कार्य करते है ।

यह छात्रो के व्यक्तिगत विचारो, भावनाओ और जीवन के वास्तविक तथ्यो एवं मूल्यों (Values) पर भी प्रभाव डालते हैं । उदाहरणार्थ अधे, बहरो के स्कूल मे जाने पर पता चलता हे कि वे भी इसी तरह के बच्चे है – छात्रो के हृदय मे विचार आयेगा कि यदि कोई अधा हो जाए तो यह प्रकृति, यह वातावरण की सरसता, यह प्रकाश के पुंज सब उसके लिए क्या है ? यादगार !

फिर वह इससे बचत के उपाय के लिए प्रयत्नशील होगा आँखों की देखभाल के लिए सतर्क होगा, विद्यालय मे इससे सम्बन्धित ज्ञान की प्राप्ति मे सचेष्ट रहेगा ।

पर्यटन की योजना – एक निश्चित योजना को लेना, इसके लिए आवश्यक है कि ट्रिप्स निश्चित उद्देश्यों से ले जाई जाएँ । इस प्रकार कक्षा के बाहर शिक्षण का क्रियात्मक रूप इसी परिभ्रमण की संकल्पना को, साकार रूप प्रदान कर, दिया जा सकता है ।

इसमे सन्देह नही, उपरोक्त सभी साधन शिक्षण को अनुभव पूर्ण क्रियाशीलता प्रदान करेगे ।

आपका और हमारा शिक्षण प्रभाव पूर्ण, स्थायित्व पूर्ण एव सजीव हो, छात्र एवं छात्राओ के चारित्रिक एवं नैतिक गुणो का विकास कर उनका मार्गदर्शन करेगा तथा शैक्षिक मूल्यो की मान्यताओ को स्थायित्व एव सफलता प्रदान करने मे समर्थ हो सकेगा, और शिक्षा शास्त्रियो की परिभाषा, संकल्पना के शिक्षा अनुभव पर आधारित हो, साकार रूप प्राप्त कर सकेगी । इस प्रकार की वास्तविक एव व्यवहारिक शिक्षा हमारे छात्र एव छात्राओ को जीवन के रणक्षेत्र मे विजयी बना, उनके मार्ग दर्शन का कार्य करेगी । □□

शिक्षको ने लिखा है

क्रीड़ा द्वारा प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा देने की आवश्यकता

☐ बलवन्त सिंह खेड़ा

शिक्षा द्वारा हम बच्चो को फलने-फूलने, अनुभूति प्राप्त करने एवं आत्मप्रदर्शन करने के अवसर प्रदान करते हैं । इस सम्बन्ध में शिक्षा माध्यम क्या हो, शिक्षा शास्त्रियों की भिन्न-भिन्न धारणायें है । राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी सभी शिक्षा व उसके विभिन्न विषयो को धन्धा केन्द्रित करके पढ़ाये जाने के इच्छुक थे । उनकी समन्वय विधि का महत्व अब अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा संसार में सम्मान पाने लगा है । कुछ शिक्षा-शास्त्री आत्मप्रदर्शन के लिए विद्यार्थियों को सूक्ष्म कलाओं द्वारा प्रफुल्लत करने के हामी हैं । मेरे विचार में यदि खेलो, मनोरंजक क्रियाओ और लाभकारी धन्धों द्वारा शिक्षा देने का भारत मे प्रयत्न किया जाये तो हमारे राष्ट्रपिता के स्वप्न साकार हो सकते हैं ।

खेल जहां शारीरिक विकास के लिए सहायक है, वहां इनका महत्व मानसिक विकास के लिए भी कोई कम नही है । खिलाडियों मे खेल-भावना, अनुशासन, हृदय की परिपक्वता, फैसला लेने की समर्थता, सहयोग भावना जैसे गुण विकसित होते है । उनकी शिक्षा केवल पुस्तक केन्द्रित न होकर अपने सामाजिक वातावरण द्वारा आगे बढने मे सहायक होती है । खिलाडियों को देश के विभिन्न भागों मे जाने का अवसर मिलता है जो अपने आप मे एक अच्छा शिक्षा साधन है । मानसिक स्वास्थ्य के लिए कमरो के अन्दर ही खेले जाने वाले खेल भी उनके मानसिक कसरत का कार्य करते है । बच्चो को जीत-हार को स्वीकार करने और परिस्थितियों का सामना करने की आदत पडती है । वे इस ढंग से अपने फालतू समय का सदुपयोग करके व्यस्त रह सकते है और उनको बिना मतलब घूमने की बुरी आदत से बचने मे सहायता मिलती है ।

विद्यार्थियों को भाषा की शिक्षा देते समय क्रीडाओ के सम्बन्ध मे प्रस्ताव लिखवाये जाने चाहिए । उन्हे किसी आंखों देखे मैच का हाल लिखने, किसी खेल के सम्बन्ध मे विचार प्रकट करने, और चलते-चलते गीत गाने की प्रक्रिया के बारे मे रिपोर्ट तैयार करने के लिए कहा जा सकता है । खेलो सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान देने के लिए उनकी भाषा पुस्तक मे कुछ पाठ दिए जाने चाहिए । ग्रामीण खेल बच्चों मे अति प्रिय होते है । भारत गांवों का देश है इसलिए इस शिक्षा साधन का उपयोग हमे बहुत लाभदायक हो सकता है । इन खेलो में साज-सामान की जरूरत नही होती और मनोरंजन भी हो जाता है । यह खेल हमारे पाठ्यक्रम मे शामिल किये जाने चाहिए और शारीरिक शिक्षा अध्यापकों की निगरानी मे होने चाहिए ।

प्राथमिक शालाओं में विद्यार्थियों को गणित की शिक्षा देते समय मापने के पैमाने सिखलाये जाते हैं । यदि किलोमीटरों या मीटरों का ज्ञान खेल के मैदान की लम्बाई-चौड़ाई के साथ जोड कर दिया जाये तो वह आसानी से समझ जायेगे । दौडो मे 50 मीटर, 100 मीटर या 200 मीटर का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त होता है । छोटे पैमाने सिखलाने का व्यावहारिक ज्ञान उनकी ऊंची छलांग लगाने को मापने की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है । खेल के मैदान मे भार तौलने की मशीन बच्चो को भार के विभिन्न मापों की जानकारी देती है । समय सम्बन्धी ज्ञान भी मैचों के विभिन्न समय प्रणालियों, उनके लिए नियत समय व, मध्य अवकाश या खेल के बाद मे अधिक समय दिए जाने के समय से अति सुगमता से सिखाया जा सकता है ।

विज्ञान की पढायी निरर्थक है यदि उसमे प्रयोगात्मक क्रियाये न करायी जाये । पाठ मे दिए गए प्रयोग हमारे आस-पास के वातावरण से होने चाहिए । जो प्रयोग विज्ञान-किट मे दिए गए उपकरणो द्वारा हो सके वे तो होने ही चाहिए लेकिन इससे भी अधिक आवश्यक है हम समीप मे चल रही मशीनों या कारखानो मे ले जाकर विद्यार्थियो को ज्ञान दिया जाये । उन्हे विज्ञान प्रदर्शनियो मे ले जाना भी जरूरी है । अध्यापको को उत्साहित किया जाना चाहिए कि इन विज्ञान सिद्धान्तो को बच्चो के मन मे बिठलाने के लिए मनोरजक ढग से या खेलों द्वारा शिक्षित करने के नये-नये ढंग निकाले और उन्हे देश के विभिन्न भागो मे प्रचारित किया जाये ।

सामाजिक अध्ययन में बेशक खेल ढग स शिक्षा देने की सम्भावनाये कम है फिर भी रेखा-चित्रों मे समुद्र, शहर, प्रान्त, बन्दरगाहे, पहाड आदि ढूढने का शौक विद्यार्थियों मे डाला जाना चाहिए । ऐतिहासिक घटनाओं को यदि हम रगमच पर पेश कर सकें और उनमे विद्यार्थियों को ही कलाकार बनाया जाए तो वह चिरस्मरणीय होगे । पुराने समय का प्रभाव देने के लिए स्कूलो मे पुराने सिक्के एकत्रित करने, पुरानी पोशाके व हथियार आदि की नकले तैयार करने का स्कूलो मे कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए । यदि हर स्कूल मे एक-एक कमरे, या एक-एक श्रेणी को भारत के एक-एक प्रान्त की सस्कृति व सभ्याचार के बारे मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए कहा जाये तो उससे सुगमता से सारे विद्यार्थी लाभान्वित हो सकते है । सेहत उपयोगी स्थानो की यात्राये आयोजित की जानी चाहिए । विद्यार्थियो में ससद व विधान सभा के बारे में जानकारी देने के लिए उनमे से प्रधान मन्त्री व मन्त्रिमण्डल के अन्य विभागो के इन्चार्ज बनाकर सफल प्रयोग किया जा सकता है । इस सम्बन्ध मे विद्यार्थियो में लघु प्रश्नो की प्रतियोगिताये आयोजित करके भी उनकी क्रीडा रुचियो को प्रोत्साहित किया जा सकता है ।

हस्तकला या सूक्ष्म कलाओ की शिक्षा व उनके सिद्धान्तो के बारे मे जानकारी देने से बच्चो की निहित कलाये जाग पडेगी । उनको साचो के जरिए मिट्टी के खिलौने तैयार करने, कागज से भाति-भाति की शक्ले बनाने और गत्ते की चीजो को तैयार करके बडी कुशलताये प्रदान की जा सकती है । उनको चित्रकारी का भी बडा शौक होता है इसलिए प्राथमिक स्कूलो मे इस ओर अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है । मनोरजक क्रियाओ की प्रतियोगिताये भी श्रेणीवार अवश्य ही हर शनिवार को आयोजित की जानी चाहिए । इसमे यहा उन्हे आत्मप्रदर्शन का अवसर मिलेगा, एवं पाठशाला आकर्षक स्थान प्रतीत होगा । इनमे प्रथम द्वितीय आदि स्थान प्राप्त करने वाले बच्चो को पारितोषिक वितरण से वे फूले नही समायेगे ।

प्राथमिक स्कूलो में कवग या नीली चिडिया के समूह तैयार करवाने चाहिए । छोटे बच्चो को बालगीत बहुत प्रभावित करते है, वे उनके साथ-साथ अपने शरीर के विभिन्न भागो की कसरत भी कर लेगे । इसी प्रकार शिक्षाप्रद कहानिया भी उन्हे सुनायी जाय तो स्कूल उनके लिए आकर्षण बिन्दु के रूप मे समुदाय मे पेश होगा । विभिन्न प्रान्तो मे अलग-अलग प्रकार के लोकनाच व लोकगीत पुरुषो व स्त्रियो के लिए प्रचलित है । इनको अपने पडोसी प्रान्तो में भी चालू किया जाना चाहिए । पी टी. की दैनिक सामूहिक प्रदर्शन से सभी विद्यार्थियो मे एकात्मकता की भावना प्रबल होगी ।

खेल-खेल द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त सर्वप्रिय हो रहा है । हमारे समाचार-पत्र भी हर रोज एक-एक सफा खेल समाचारो के लिए छापते है । हमे स्कूलो में खेलो के बारे मे दैनिक प्रगति के सम्बन्ध मे समाचार दूसरे समाचारो के साथ-साथ सुनाने चाहिए । आशा है कि रूढिवादी विचारधाराये धीरे-धीरे महत्वहीन होती जायेगी और शिक्षा का माध्यम खेल क्रियाये बन कर महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा । □□

भारतीय गाँवों में शिक्षा का बदलता स्वरूप

□ रामेश्वर दत्त शर्मा

अज्ञानता अन्धकार है और शिक्षा इस अन्धकार को दूर करने वाला प्रकाश है । जब-जब नवीनतम तकनीकी का आविष्कार होता रहा है तब-तब शिक्षा पर बल दिया जाता रहा है । यदि हम भारतीय इतिहास को पढें, तो हमे मालूम होता है कि 17वीं, 18वी शताब्दी मे यहाँ शिक्षा का स्वरूप क्या था ?

मौजूद समय मे हमारे बुजुर्ग आज से 50–55 वर्ष पहले की शिक्षा के बारे में बताते है कि हमारे भारतीय गाँवों जहाँ इस देश की 80% जनसंख्या रहती है किस प्रकार औपचारिक शिक्षा की लपेट मे थे । समय गुजरता गया, इस देश के शिक्षा विशारद व शिक्षाशास्त्री भी जाग उठे । अग्रेजी काल का अन्त हुआ तो हमारी बुनियादी शिक्षा मे पक्की सीढी का पहला कदम स्थापित हुआ ।

आज भारतीय गाँवो मे शिक्षा स्थिति उस समय से बिल्कुल उलट है जिसका विश्लेषण हम इस प्रकार से भी कर सकते है –

अंग्रेजीकालीन भारतीय शिक्षा	स्वतन्त्रता के उपरान्त भारतीय शिक्षा
(1) अग्रेजी काल की शिक्षा का उद्देश्य केवल भारतीयो को क्लर्क बनाना था ।	आज हमारी शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों का सर्वांगीण विकास करना है ।
(2) उस समय मेधावी तथा पिछडे बालको को एक ही डण्डे से हाँका जाता था ।	आज योग्यतानुसार हर बालक पर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता है ।
(3) शिक्षा पुस्तकीय थी ।	आधुनिक भारतीय शिक्षा सृजनात्मक है ।
(4) शिक्षा के साधनो का आभाव था स्कूलों की संख्या बिल्कुल सीमित थी ।	आज लगभग हर गाँव मे प्राइमरी स्कूल है ।
(5) उस समय की शिक्षा ब्रिटिश शासन की जडे बनाए रखने के अनुरूप थी ।	आज की शिक्षा भारत के अतीत व भविष्य को मध्य नजर रखते हुए देश को उन्नति के शिखर पर ले जाने के अनुरूप है ।

उपरोक्त तुलना सारणी से ही हमे मालूम होता है कि अब भारतीय गाँवो मे शिक्षा का स्वरूप क्या है ? हमारी शिक्षा का स्वरूप दिन-प्रतिदिन बदलता जा रहा है । क्योकि किसी देश को समृद्ध बनाने के लिए उस देश मे शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होना आवश्यक है ।

हमारी सरकार हर वर्ष शिक्षा के लिए अधिक से अधिक बजट रखती है । आज भारतीय गाँवों में बच्चों को शिक्षित करने के लिए ही स्कूल नहीं है बल्कि प्रौढों की शिक्षा का भी प्रबन्ध है । आज 30–35 वर्ष की आयु वाला अपठित प्रौढ भी अपने व्यवसाय का लेखा-जोखा रखना सीख रहा है । नारी शिक्षा को भी महत्व दिया जा रहा है । प्राथमिक शिक्षा को नि.शुल्क किया गया है । व्यवसायिक तथा तकनीकीय शिक्षा का निरन्तर विकास हो रहा है । हमारी सरकार इस ओर सजग है ।

इस प्रकार औपचारिक शिक्षा का तो पूर्ण प्रबन्ध हो ही रहा है साथ में अनौपचारिक शिक्षा के साधन भी विकसित हो रहे है । भारतीय गॉव मे आज अधिकतर घरो मे रेडियो रखे हुए है जिसके द्वारा देश-विदेश के समाचार सुन कर भारतीय किसान अपने ज्ञान की वृद्धि कर रहा है ।

अत: हम देखते है कि 40–50 वर्षों में ही भारतीय गाँवों मे शिक्षा का इतना स्वरूप बदला है । आज भी समय की यह पुकार है कि तकनीकीय शिक्षा पर बल दिया जाए ताकि भारतीय गाँव इस दिशा मे अग्रसर हो सके ।

□□

समाचार-विचार

राज्य शिक्षा संस्थान, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

1. शोध

प्राविधिक इकाई

1. प्राइमरी स्तरीय (पाठ्यक्रम नवीनीकरण योजनान्तर्गत) हिन्दी शिक्षण सबधी कार्यशालाओ में हिन्दी विषय पर परिचर्चा तथा विचार-विमर्श किया गया ।
2. प्राइमरी स्तर के प्रशिक्षित अध्यापक/अध्यापिकाओ के सत्र 1984–85 मे पुनर्बोधात्मक प्रशिक्षण दिये जाने के संबंध मे विभाग से पत्राचार किया गया और भावी क्रियान्वयन हेतु निदेश प्रतीक्षित है ।
3. दिनाक 2–8–84 से 4–8–84 के राजकीय शोध आदर्श विद्यालय मे आयोजित जनसंख्या शिक्षा संबंधी गोष्ठी मे प्राइमरी एव जूनियर हाई स्कूल के गणित के नवीन सशोधित पाठ्यक्रम का मूल्याकन किया गया तथा तत्सबधित वांछनीय सूचना प्रपत्र भरा गया ।
4. यूनीसेफ सहायता प्राप्त पाठ्यक्रम नवीनीकरण योजना संख्या 2 के अन्तर्गत राजकीय दीक्षा विद्यालय, पकवाइनार (बलिया) मे दिनाक 7–8–84 से 14–8–84 तक आयोजित कक्षा 4 के समस्त विषयो की मूल्यांकन कार्यशाला मे नव सृजित पुस्तको एवं शिक्षक संदर्शिकाओं की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया तथा अपेक्षित मार्ग-दर्शन प्रदान किया ।
5. चायल ब्लाक के शिक्षको के प्रशिक्षण मे 13 से 18 अगस्त, 84 तक भाग लिया ।
6. 27/8 से 20/5 तक समुदाय के लिए शिक्षण सामग्री तैयार करने मे योगदान किया ।

II. यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजनाए

(क) यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना संख्या 1-ए पोषण, स्वास्थ्य शिक्षा एवं पर्यावरणीय स्वच्छता ।

आख्यागत माह मे कौडिहार विकास खण्ड के कक्षा 1, 2, 4 और 5 मे पढाने वाले अध्यापको को दिनाक 13–8–84 से 15–8–84 तक तथा 16–8–84 से 18–8–84 तक दो चक्रो मे प्रशिक्षण दिया गया जिससे वे विद्यालय तथा समुदाय स्तर पर परियोजना का कार्यान्वियन ठीक ढग से कर सकें ।

दिनांक 27–8–84 से 30–8–84 तक समुदाय के लिए पोषण स्वास्थ्य एवं पर्यावरणीय स्वच्छता संबंधी पोस्टर, चार्ट, फोल्डर, हैड आउट आदि शैक्षणिक सामग्री तैयार करने हेतु कार्यशाला आयोजित की गई । इस कार्यशाला मे स्वरूप रानी अस्पताल एवं बाल चिकित्सालय इलाहाबाद के डाक्टरों, चायल एव कौडिहार विकास खण्डो के ब्लाक-प्रमुखो, प्रति उप विद्यालय निरीक्षको एवं निरीक्षिकाओं, अध्यापक एव अध्यापिकाओं, गृह विज्ञान महिला प्रशिक्षण महाविद्यालय, इलाहाबाद की प्रवक्ताओं, भारत सरकार की खाद्य एव आपूर्ति विभाग की प्रदर्शन अधिकारी, शिक्षा प्रसार अनुभाग के प्रदर्शन अधिकारी,

अवकाश प्राप्त राजकीय अधिकारियो एव सस्थान के सदस्यो ने भाग लिया ।

(ख) यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना संख्या-2

पाठ्यक्रम नवीनीकरण परियोजना संख्या 2 के अन्तर्गत प्रदेश के 15 जनपदो के राजकीय दीक्षा विद्यालयो मे दिनांक 7–8–84 से 12–8–84 तथा दिनांक 13–8–84 से 14–8–84 तक दो चक्रों मे अभिनवीकरण कार्यशालाये आयोजित की गयी । इन कार्यशालाओ मे परियोजनागत 150 प्राथमिक विद्यालयो की कक्षा 4 के शिक्षको को दीक्षा विद्यालयो के प्रधानाचार्यो एव शिक्षक-प्रशिक्षको द्वारा प्रशिक्षण दिया गया । सस्थान के अधिकारी समस्त दीक्षा विद्यालयो की कार्यशालाओ मे शिक्षको के प्रशिक्षण हेतु सम्मिलित हुए । शिक्षको को भाषा, गणित, परिवेशीय अध्ययन (सामाजिक विषय एव विज्ञान) समाजोपयोगी उत्पादक कार्य एवं सृजनात्मक अभिव्यक्ति की शिक्षण विधि तथा पाठ्यपुस्तको एव शिक्षक संदर्शिकाओ के प्रभावी प्रयोग के सम्बन्ध में बताया गया । उन्हे मूल्यांकन प्रपत्रो को भरने हेतु प्रशिक्षण दिया गया ।

दिनांक 29–8–84 से 3–9–84 तक राज्य शिक्षा संस्थान मे परियोजनागत विद्यालयो की कक्षा 5 के लिये शैक्षणिक सामग्री निर्मित करने हेतु एक छ. दिवसीय कार्यशाला आयोजित की गयी । इसमे विषय विशेषज्ञो, लेखको एव संस्थान के सदस्यो द्वारा कक्षा 5 के लिये लिखे गये भाषा, गणित, परिवेशीय अध्ययन, समाजोपयोगी उत्पादक कार्य एवं सृजनात्मक अभिव्यक्ति के पाठों का वाचन एवं संशोधन कार्य किया गया । कार्यशाला में सम्मिलित प्रतिभागियों की संख्या 54 थी । कक्षा 4 हेतु निर्मित समस्त शैक्षणिक सामग्री परियोजनागत विद्यालयो एवं दीक्षा विद्यालयों को भेजी जा रही है ।

(ग) यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना संख्या-3

आख्यागत माह मे परियोजनान्तर्गत प्रकाशित होने वाली सामग्री पर राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् के परियोजना 3 के समन्वयक से विचार-विमर्श किया गया । परियोजना समन्वयक द्वारा सामग्री को और उपयोगी एव प्रभावी बनाने के लिए कतिपय सुझाव दिये गये । प्रदेश एव केन्द्रो के जनपदो को परिचय मुद्रित करने हेतु स्वीकृति प्राप्त हुई । प्रौढो के लिए स्वास्थ्य स्वच्छता एव पोषण पर आधारित प्रवेशिका भी अनुमोदनार्थ भेजी गयी । प्रवेशिका को भी कतिपय सुझावों के साथ वापस किया गया । परिषद् द्वारा दिए गये सुझावो के आधार पर पाठ्य सामग्री के सशोधन का कार्य प्रारम्भ किया गया ।

परियोजना की आन्तरिक मूल्यांकन आख्या का चक्रमुद्रण कराया गया ।

राज्य योजना आयोग, उत्तर प्रदेश के प्रोजेक्ट प्लानिंग एव मानीटरिंग सेल के तत्वावधान मे राज्य के आठ जनपदो मे सचालित क्षेत्रीय विकास मे सामाजिक निवेश कार्यक्रम के अन्तर्गत शिक्षा क्षेत्र सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए वित्तीय प्राविधान का विवरण तैयार किया गया ।

(घ) यूनिसेफ सहायता प्राप्त परियोजना संख्या-4 (पूर्व प्राथमिक शिक्षा)

भारत सरकार द्वारा महिलाओ को रोजगार देने के लिए 400पद स्वीकृत किये गये है । ग्रामीण हाई स्कूल उत्तीर्ण महिलाओ को उनके गाँव मे ही उपलब्ध रोजगार दिये जायेगे । उ प्र. के पूर्व प्राथमिक केन्द्रो मे शिक्षण का कार्य करने के लिये 60 पदो की मांग की गयी है । चायल ब्लाक की हाई स्कूल उत्तीर्ण महिलाओ की नियुक्ति चायल के पूर्व प्राथमिक केन्द्रो मे करने के लिए शासन और विभाग म पत्र-व्यवहार किया जा रहा है ।

बाल साहित्य को अन्तिम रूप दिया जा चुका है और उसके मुद्रण हेतु कार्यवाही की जा रही है ।

(ङ) यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना-5 (प्राथमिक शिक्षा व्यापक उपागम (केप)

1 आख्यागत माह मे केप परियोजनान्तर्गत पाठ्यक्रम विकास संबधी अष्ट दिवसीय कार्यशाला 6 से 13 अगस्त, 1984 के मध्य राष्ट्रीय शैक्षिक

अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली मे आयोजित हुई जिसमे राज्य शिक्षा सस्थान उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद की केप टीम के सदस्यो ने भाग लिया ।

2 आख्यागत माह के अन्तिम सप्ताह मे 21–8–84 से 28–8–84 तक राज्य शिक्षा संस्थान, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद मे एक अष्ट दिवसीय कार्यशाला आयोजित की गई, जिसमे विभिन्न पुरुष एव महिला क्षेत्रीय शिक्षा सस्थानो तथा राजकीय दीक्षा विद्यालयो (महिला एव पुरुष) के 23 शिक्षक प्रशिक्षको ने भाग लिया ।

उक्त कार्यशाला मे सात माड्यूलो के अन्तर्गत 42 कैप्स्यूलो का प्रक्रमण किया गया तथा दो माड्यूलो के अन्तर्गत 12 नये कैप्स्यूल लिखे गये ।

3 मुद्रणाधीन कैप्स्यूलो के लिए ब्लाक तैयार कराने तथा अधिगम सामग्री को मुद्रित कराने से सम्बन्धित सारी व्यवस्था आदि का कार्य भी सम्पन्न किया गया ।

I. स्थायी प्रकाशन

(1) **वार्षिक पत्रिका संस्थान विचार** – संस्थान विचार के अन्तर्गत पूर्व प्राथमिक शिक्षा विशेषांक अक 15, सूत्र 1984–85 के लिए लेख सग्रहीत किये जा रहे हैं ।

(2) **त्रैमासिक पत्रिका संस्थान समाचार** – संस्थान समाचार अंक 72 की पांडुलिपि की दो प्रतियां मुद्रण हेतु राजकीय मुद्रणालय प्रेषित की गई । संस्थान समाचार हेतु अंक 73 (अप्रैल 84 से 30 जून 84) के लिए लेख और आख्याएं संग्रहीत की गयीं । संस्थान समाचार अंक 68 की प्रूफ रीडिंग की गयी तथा संशोधित प्रूफ मुद्रण हेतु राजकीय मुद्रणालय प्रेषित किया गया ।

(3) **वार्षिक पत्रिका प्रतिभा की किरण** – प्रतिभा की किरण वर्ष 1984 का सम्पादन कार्य किया गया ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के क्षेत्रीय कार्यालयों से –

कश्मीर

जम्मू और कश्मीर विधानसभा ने एजुकेशनल बिल पास कर दिया है जिससे प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का सर्वव्यापीकरण होगा और 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा अनिवार्य हो जाएगी ।

एस. यू डब्ल्यू पी की गोष्ठी मे शिक्षामत्री ने यह उदघोषणा की है कि राज्य मे जिन स्कूलो मे केवल एक ही शिक्षक है उनमे अब कम से कम दो शिक्षक कर दिए जाएगे ।

गुजरात

गुजरात पाठ्यपुस्तक बोर्ड ने यह निश्चय किया है कि आदिवासी छात्रो को नि शुल्क पाठ्यपुस्तके दी जाएगी । कक्षा एक से चार तक प्राथमिक स्तर के छात्रो को तेतीस ताल्लुको मे बाटा जाएगा । पाठ्यपुस्तक बोर्ड लगभग 24685 पुस्तको के सैट ग्यारहवी कक्षा के उन छात्रो को बाटेगा जो आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए है । बोर्ड ने कक्षा आठ और नौ के लिए अभ्यास पुस्तकाए भी बनाई है ।

ध्यप्रदेश

चालू वर्ष मे 500 प्राथमिक स्कूल और 200 माध्यमिक स्कूल खोले जाएंगे और 65 लाख रुपए का बजट इसके लिए रखा गया है ।

1984–85 के दौरान राज्य मे 4 लाख छात्रो को प्राथमिक स्कूलो मे अतिरिक्त 2 लाख छात्रो को माध्यमिक स्कूलो में एनरोल करने का लक्ष्य है । इस दिशा मे प्रयास किए जा रहे है ।

11 जुलाई को मध्यप्रदेश विधानसभा ने उन छात्रो के लिए छात्रवृत्ति देना स्वीकार किया है जो अपने पिता की मृत्यु के कारण आगे पढाई नहीं कर पाते । यह छात्रवृत्तियां 1984–85 के आकादमिक सत्र मे मजूर की जाएंगी ।

राज्य शिक्षा सस्थान द्वारा आयोजित रूरल टेलेंट सर्च एग्जामिनेशन मे 2538 छात्र सफल घोषित किए गए है । इन छात्र-छात्राओ को 50 रुपए प्रति माह तक छात्रवृत्ति मिलेगी जिससे वे राज्य मे उच्चतर माध्यमिक स्तर तक की पढाई कर सके । □□

चिन्तन

मेरे पडोस में एक परिवार रहता है । उनका एक बेटा है – उम्र आठ वर्ष, नाम विनोद । सुबह शाम, जब भी समय हो, छत पर खडे होकर खोमचे वालों, कुल्फी मलाई वालों को चुपचाप बुला कर खडा कर देने की उसकी आदत सी बन गई है । यह बात नहीं कि घर में उस पर खाने पीने के विषय में किसी प्रकार का नियंत्रण रखा जाता है । बात केवल इतनी ही है कि लाड प्यार की सीमा को पार करके उस पर जो स्नेह की दृष्टि होती है, उसने बच्चे की आदत बिगाड दी है । उसके स्वभाव की यह धारा अब रोके नही रुकती ।

यह समस्या केवल विनोद की ही नहीं, सभ्य और संपन्न घरों मे पलने बढने वाले अनेक बच्चों की है । कई बार ऐसा ही होता है कि बाजार में बच्चे ने किसी चीज के लिए जिद् की, पिता ने उसे डांट दिया किन्तु माँ ने कहा, 'क्या दो चार पैसो के लिये बच्चे का मन तोड़ते हो ?' झुंझलाये से पिता बच्चे की इच्छा पूरी कर देते हैं और बालक खुशी से फूल उठता है । धीरे-धीरे रो कर, मचलकर मनचाहा करने की उसकी आदत सी बन जाती है ।

इस प्रकार के बच्चे जब स्कूल जाते हैं तो वह अनेक प्रकार की समस्यायें खडी कर देते हैं । कक्षा में उन्हें जो अच्छा लगता है वह वही करना चाहते हैं । जिसकी वस्तु अच्छी लगती है वह उसे जबरन लेना चाहते हैं और कई बार सीधे सादे बच्चों के लिए एक उलझन बन जाते हैं । कभी तो वह उनका कागज उठा लेते हैं, कभी उनकी पेंसिल ले लेते हैं तो कभी उनका खाने-पीने का सामान हीं हथिया लेते हैं आदि । इस समस्या से जुड़े हुए प्रश्न यह उठते हैं कि:

1 ऐसे बच्चो के साथ शिक्षकों द्वारा किस प्रकार का व्यवहार किया जाये ।
क्या वे उसे डांटे, प्रताडित करें अथवा प्यार से समझायें ?

2. यदि बालक जिद्दी है तो उसे किस प्रकार सही राह पर लाया जाये ?
क्या इस संबंध में स्कूल के अध्यापकों का अभिभावकों से कुछ कहना उचित होगा, या शिक्षक स्वयं ही इस समस्या को सुलझा सकते हैं ।

इस विषय मे आप अपने विचार हमें लिखकर भेजें । हमें हमेशा की तरह आपके विचारों की प्रतीक्षा रहेगी ।

– अकादमिक सम्पादक

नियमावली

1. आपके उत्तर लगभग 1000 से 1500 शब्दों तक सीमित होने चाहिए ।
2. आपके सुझावों की दो टंकित अथवा हस्तलिखित प्रतियां (डबल स्पेस) हमें एक माह के अंदर प्राप्त हो जानी चाहिए ।
3. लेख कागज के एक ओर ही लिखा होना चाहिए । बांई ओर तथा ऊपर नीचे चौडा हाशिया भी होना चाहिए ।
4. प्रशंसित सुझावो को हम ''शिक्षकों ने लिखा है'' स्तम्भ के अंतर्गत छापेंगे ।
5. प्रत्येक प्रशंसित प्रकाशित पत्र पर पारिश्रमिक की व्यवस्था है ।
6. लिफाफे पर ऊपर की ओर ''चिन्तन'' लिखा होना चाहिए ।

आपके पत्र ; समीक्षा और सुझाव

प्राइमरी शिक्षक अपने नये कलेवर में आपके सामने है । इस अंक की कौन-सी रचना आपको अच्छी लगी, कौन-सा लेख उपयोगी है, इसकी समीक्षा आप हमें भेजें । आपकी कौन-सी ऐसी समस्याएँ है जिनका समाधान हम प्राइमरी शिक्षक के माध्यम से कर सकते हैं, हमें बतायें ।

समीक्षा और सुझाव आपका अपना पृष्ठ है । इस स्तम्भ के लिए आप हमे पत्र अवश्य लिखें ।

यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का एक अंग है, तो मै हिन्दू कहलाने से इन्कार करता हूँ । यदि मानव के ऊपर कलंक-स्वरूप इस अस्पृश्यता को समाप्त नही किया जायेगा तो हिन्दू धर्म को जीवित रहने का अधिकार नही है । हमारे धर्म का आधार अहिंसा है और अहिंसा प्रेम के सिवा और कुछ नही है,अपने पडोसियो और अपने मित्रों से ही प्रेम नही बल्कि जो शत्रु हो, उनसे भी प्रेम करे ।

– गांधी

"घर मे या गली में खेलते हुए बच्चे को अगर आप देखे, तो वह सचेतन, आनन्दमय, जिज्ञासाकुल, आंखो मे चमक व ओठों पर मुस्कानयुक्त दिखाई देगा । वही बच्चा विद्यालय मे थका-थका, एकाकी, डरा-डरा, उकताया हुआ, निष्क्रिय सा, जिसकी आत्मा किसी गहरे कुएं मे उतर गई हो, ऐसा दिखाई देगा । इतना विचित्र दुखद परिवर्तन कैसे आ जाता है ? बालक विद्यालय मे भर्ती क्या होता है, उसकी कल्पना-शक्ति, सर्जन-शक्ति, अन्त:-स्फूर्ति आदि तमाम उच्च शक्तियाँ क्रमश: एक के बाद एक विदा होने लगती हैं । विद्यालय उसे कसाईघर लगने लगता है । यहां पर उसके जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व – स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण का आनन्द – उससे जबरन छीन लिया जाता है । यही नहीं, घंटों-घंटों तक विद्यालय में उसे कैद रख कर प्रकृति ने उसके विकास हेतु जो उपकारक तत्व प्रदान किये थे, वे सब हथिया लिये जाते हैं । इस प्रकार बालक के मन व शरीर को ऐसा क्षतिग्रस्त किया जाता है जिसे कभी पूरा नही किया जा सकता ।

बाल सम्मान को बुनियादी तत्व मानते हुए उसकी स्वतन्त्रता की दिशा में ठोस व स्थाई कदम उठाने की आज शालाओ को जरूरत है । स्वतन्त्रता प्रयोगो का प्राण है । जिस दिन प्रत्येक शाला शिक्षण की प्रयोगशाला बन जायेगी उस दिन शालायें प्रगति की दौड मे पीछे नहीं रहेगी । मनोविनोद व आनन्द को शिक्षण का विरोधी मानना भयंकर भूल है । जहाँ स्वतंत्रता है, वहीं प्रेम भी है । स्वाभाविक विकास ही मूल बात है ।"

– टालस्टाय

प्राइमरी शिक्षक

वर्ष 10, अंक 2 अप्रैल 1985

आगामी अंक के कुछ आकर्षण

बाल साहित्य : सही आयाम की खोज	जयप्रकाश भारती
आदिवासी छात्रों को कैसे पढ़ायें	खेमराज शर्मा
दिल्ली के स्कूलों में कृषि शिक्षा	डा जयन्ती प्रसाद मिश्र
प्राथमिक विद्यालयो में आवश्यक सुविधाएं	डा गणेश उपाध्याय

इसके अतिरिक्त अन्य सभी स्थाई स्तम्भ :

शिक्षको ने लिखा हैं

आपकें पत्र समीक्षा और सुझाव

चिन्तन आदि

नैतिक शिक्षा

□ डा. कृष्ण गोपाल रस्तोगी

आज सामाजिक जीवन मे अनैतिकता एक गंभीर समस्या है । हमारी मान्यताओ का दिनानुदिन ह्रास हो रहा है जिसके कारण देश मे **सामाजिक और नैतिक संघर्ष** पैदा हो रहे है । छात्रों मे प्रारभ से ही चरित्र-निर्माण एव देश-भक्ति की भावना जागृत करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है । अतएव छात्रो को नैतिक शिक्षा देना अनिवार्य हो गया है ।

(1) 1948–49 मे डा राधाकृष्णन के निर्देशन मे विश्व-विद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ । इस आयोग ने पहली बार नैतिक शिक्षा का सविस्तार विश्लेषण किया और **नैतिक शिक्षा को धार्मिक शिक्षा** की संज्ञा दी । किन्तु इस आयोग के विचार मे धार्मिक शिक्षा से तात्पर्य **संकुचित धार्मिक शिक्षा** से नहीं, अपितु यहाँ इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक संदर्भ मे लिया गया है और इसकी **परिणति आध्यात्मिक** शिक्षा मे बताई गई है । उन्ही के शब्दों में –

> "धर्म-निरपेक्ष होना धार्मिक दृष्टि से अशिक्षित होना नही है । इसका अर्थ सकीर्ण रूप मे धार्मिक न होकर गभीर रूप मे अध्यात्मिक होना है ।" (अनुच्छेद 29, पृ 300)

(2) इसके उपरान्त 1959 मे श्री प्रकाश के निर्देशन मे "धार्मिक एव नैतिक शिक्षा समिति" गठित हुई । इस समिति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसने पहली बार **नैतिक मूल्यों की परिभाषा दी –**

> "अन्य लोगो के प्रति समुचित व्यवहार करने मे जो कुछ हमारी सहायता करता है वह नैतिक मूल्य है ।" जो हमे स्व से बाहर की ओर ले जाता है और अन्य लोगो के हितार्थ या किसी महान उद्देश्य के लिए बलिदान हेतु प्रेरित करता है, अध्यात्मिक मूल्य है ।"
>
> इस समिति की सिफारिशो के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि यह नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो की शिक्षा देना अनिवार्य समझती है । बाल्यकाल से ही बालको मे अच्छी आदते पड़े, इस बात को यह समिति बार-बार दुहराती है । इसके लिए यह सुझाव देती है कि शिक्षक **उपदेश और उदाहरण द्वारा छात्रों में अच्छी आदतें डलवाने** का प्रयत्न करे । इसी संदर्भ मे इस समिति का विचार है –
>
> "हमे यह निरतर बताया जाना चाहिए कि जिस बात से हमे चोट पहुंचती, अन्य लोगो को भी उससे चोट पहुंचती है, हमे दूसरो के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा हम अपने प्रति अन्य लोगो का व्यवहार चाहते है ।"

(3) 1964–66 मे कोठारी शिक्षा आयोग का गठन हुआ । इस आयोग ने भी नैतिक शिक्षा की अनिवार्यता स्वीकृत की । **"नैतिक शिक्षा एवं धर्मनिरपेक्षता सर्वधर्म समभाव परस्पर विरोधी हैं** – ऐसी समीक्षा करने वालों को उत्तर देते हुए इस आयोग ने कहा –

> "धर्म-निरपेक्षवाद की नीति विधर्मी या धर्म विरोधी नही है । इससे इस रूप मे धर्म का महत्व कम नही होता ।
>
> "धर्मनिरपेक्षता" इस शब्द का अब तक पर्याप्त शोषण हुआ । इसीलिए सक्युलरिज्म शब्द को पुन: पारिभाषित करना पडा । आजकल इसका पर्याय है – "सर्वधर्म समभाव" ।

नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम को चलाने के लिए इस शिक्षा-आयोग ने परोक्ष और प्रत्यक्ष विधियो की सिफारिश की। "हमारा विश्वास है कि यह शिक्षा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सुझाव तथा चर्चा और शिक्षण दोनो विधियों द्वारा दी जानी चाहिए ।"

उपर्युक्त विचारों के संदर्भ में यहाँ नैतिक शिक्षा से अभिप्राय ऐसी शिक्षा से है जिसके माध्यम से छात्रों के व्यक्तित्व को **चतुर्मुखी विकास** के लिए, **आवश्यक तथा स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए एक और स्वतंत्र देश** के सुयोग्य नागरिकों के लिए वांछित सद्व्यवहार, सच्चरित्रता, समाज-सेवा, देश-भक्ति आदि सद्वृत्तियो को जागृत करके उन्हे सुदृढ बनाया जा सके ।

नैतिक शिक्षा की आवश्यकता किसी एक आयु विशेष अथवा अवस्था तक ही सीमित नहीं है । परन्तु फिर भी कच्ची मिट्टी पर अंकित चिन्ह मिट्टी पक जाने पर स्थायी हो जाता है । अत: इस शिक्षा की सर्वाधिक आवश्यकता बाल्यकाल मे ही है जहाँ अपेक्षित गुणो एवं संस्कारो की नींव पड सके ।

नैतिक शिक्षा मात्र तथ्यों की जानकारी तक ही सीमित नहीं है । पुस्तकों के माध्यम से भाषण, लेख तथा प्रतियोगिताओं द्वारा छात्रो को अपेक्षित सद्वृतियो के संबंध में जानकारी तो देनी ही चाहिए, किन्तु नैतिक शिक्षा यहीं तक सीमित नहीं रह जाती । **ज्ञान को अपने व्यवहार एवं आचरण में उतारना ही सच्ची नैतिक शिक्षा है** । सच बोलना चाहिए, इससे सारे ग्रन्थ भरे पडे हैं । इस विषय पर लम्बे-लम्बे निबन्ध लिखे जा सकते हैं । भाषण तैयार किए जा सकते हें । किन्तु केवल यही नैतिक शिक्षा नहीं है ।

"हमें उपदेश प्रदान करने की नहीं अपितु जीवन शक्ति के अंतरण की आवश्यकता है ।" श्री राधाकृष्णन्

सत्य भाषण यदि जीवन में आ जाए,तभी सच्ची नैतिक शिक्षा हुई । यहाँ राजा हरिशचन्द्र, युधिष्ठर और महात्मा गांधी का जीवन उद्धरणीय है ।

नैतिक शिक्षा थोपी नहीं जा सकती, नैतिक शिक्षा के लिए आदेश-निर्देश के शास्त्र भी सफल नहीं हो सकते । नैतिक शिक्षा की संभावना पर प्रकाश डालते हुए राधाकृष्णन आयोग ने बताया –

"हमारा प्रयास आदेश देने या कोई बात थोपने न होकर, सुझाव देने और समझाने का होना चाहिए । सुझाव देने की सबसे अच्छी विधि दैनिक जीवन व कार्य के व्यक्तिगत उदाहरण है और दिन प्रतिदिन पढी जाने वाली पुस्तके है । "सत्य उच्च है पर उससे उच्चतर सत्यनिष्ठ व्यक्ति है -श्री राधाकृष्णन् ।

उपदेश से उदाहरण अच्छा है । बालक अनुकरणशील होते है । प्रधानाचार्य, अध्यापक एवं समस्त कर्मचारीगण के आचरण एवं व्यवहार का उन पर प्रभाव पडता है । विद्यार्थियो के साथ समुचित व्यवहार न करने पर, कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि बच्चों में सुधार होने के बजाए अपराध प्रवृत्ति बढती चली जाती है । यदि किसी बालक ने कोई अपराध किया है तो शिक्षक को उसके प्रति उदार तथा विश्लेषणात्मक अपनाना होगा । उसे ज्ञानात्मक पक्ष के साथ-साथ व्यवहारात्मक पक्ष को भी विशेष रूप से उजागर करना होगा ।

उद्देश्य

वैयक्तिक विकास के लिए जहाँ एक ओर स्वच्छता, स्वास्थ्य, ईमानदारी, सच्चाई, कर्तव्यपरायणता, निर्भयता, स्वावलम्बन, त्याग आदि गुण अपेक्षित हैं, वहाँ सामाजिक व्यवस्था की सुदृढता के लिए पारस्परिक सहयोग, पर सेवा, सहानुभूति, एकता, मित्रता, अनुशासन, सहयोग, राष्ट्रीय भावना, सर्वधर्म, समभाव, मनुष्य मात्र के प्रति सम्मान की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है । वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टि से उपर्युक्त सभी गुणो को छात्रो के व्यवहार मे उतारना नैतिक शिक्षा का उद्देश्य होगा ।

क्षेत्र

समय और सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि छात्रों में कुछ सीमित क्षेत्रों में ही अपेक्षित व्यवहार विकसित किए जाएँ । नैतिक शिक्षा की दृष्टि से व्यक्ति, परिवार, विद्यालय एवं समाज – ये चार क्षेत्र ही अधिक उपयुक्त हैं ।

व्यक्तिगत रूप में

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है । अतएव छात्र पर ऐसे संस्कार डाले जाएं कि वह अपने स्वास्थ्य के प्रति पूर्ण सजग रहे । वह नियमित रूप से व्यायाम करे तथा स्वस्थ एवं

– संतुलित भोजन करे । यह ध्यान रखा जाए कि वह मादक द्रव्यो के सेवन से सदा दूर रहे ।

व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने का वह सदा प्रयास करे । समय पर उठने, व्यायाम करने, सत्साहित्य का अध्ययन करने की उसमें स्वाभाविक आदत पड जाए । उसमे सादा जीवन जीने की आदत पडे । बच्चों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी दैनन्दिनी लिखें तथा रात में सोने से पूर्व दिनभर हुई घटनाओ के संदर्भ में, अपने गुण-दोषो पर विचार करें ।

परिवार

परिवार ही बालक का प्रथम सामाजिक वृत है । इसके संदर्भ में हमें देखना यह है कि वह बडो का समुचित आदर करे और छोटों से स्नेह करे । उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह पारिवारिक कार्यों में सहयोग दे तथा अतिथि सत्कार करे । कभी-कभी बच्चों के समीप कुछ ऐसी समस्याएं आती हैं कि वह खुलकर किसी से कह नहीं सकते, फलतः उनमे कुंठाएँ बढने लगती है । अतएव उनमे ऐसी भावना उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि वे अपनी विभिन्न समस्याओं में परिवार के अनुभवी सदस्यो का परामर्श लें ।

विद्यालय

विद्यालय, परिवार, समाज व देश सभी का एक लघु रूप में प्रतिनिधित्व करता है । यह एक प्रयोगशाला है जिसमे बच्चों के चरित्र का निर्माण होता है । अतः अध्यापको की भूमिका नैतिक शिक्षा के क्षेत्र मे सर्वाधिक है ।

अध्यापको का छात्र-प्रेम एवं अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठा ही उनके प्रति छात्रों मे भक्ति भाव का सृजन करती है । छात्र पग-पग पर गुरु के आदर्श के प्रति उन्मुख होता है और अपने आचरण को उसी प्रकार डालने की चेष्टा करता है । यही वह कर्मस्थली है जहाँ उसमे गुरुजनों, मित्रमण्डली, अन्य सहपाठियो व कर्मचारियो, पशु-पक्षियों, पौधों व वनस्पति के प्रति अर्थात विद्यालय के भौतिक वातावरण के प्रति भी आत्मीयता की भावना पनप सकती है और पनपनी चाहिए । तभी बडा होने पर वह सामाजिक एवं सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा व उसका समुचित प्रयोग कर सकेगा ।

हमें यह देखना है कि बालक विद्यालय के नियमों का दृढता के साथ पालन करता है, अध्यापको को उचित सम्मान देता है और छोटी कक्षा के विद्यार्थियो की भरसक सहायता करता है और उसे स्नेह देता है । वह विद्यालय को स्वच्छ एव सुभूषित रखता है, कक्षाओ एवं बुलेटिन बोर्डो को सुरुचिपूर्ण चित्रो एवं चार्टों से सजाता है, वह नियमित रूप से अध्ययन मे रुचि लेता है तथा विद्यालय के सभी कार्यक्रमो मे भाग लेता है ।

समाज

समाज के प्रति भी उसके व्यवहारों को विकसित करने की आवश्यकता है । वह आवश्यकता पडने पर अपने पड़ोसियो की सहायता एवं सेवा करे । अपने मित्रो एवं पडोसियों के साथ सभ्य भाषा का व्यवहार करे । वह समाज के सभी सदस्यो के प्रति भद्र व्यवहार करे, किन्तु बूढो, लडकियो एवं महिलाओ के साथ विशेष रूप से भद्र व्यवहार की आवश्यकता है । वह सार्वजनिक संपत्ति को अपनी संपत्ति समझे तथा सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना रखे । सनातन काल से विश्व बन्धुत्व की भावना को विकसित करने पर बल दिया जाता रहा है । आज "बसंधैवकुटुम्बकम्" का जयघोष विश्व की प्रचुर एवं तीव्रग्रामी आवागमन की सुविधाओं के साथ-साथ और अधिक मुखर हो रहा है ।

नैतिक शिक्षा एकान्तिक नहीं है । छात्रो के प्रति समाज के भी कुछ कर्तव्य एवं दायित्व है । जिस प्रकार हम छात्रों से कुछ अपेक्षाएँ रखते हैं, उसी प्रकार नैतिक शिक्षा के लिए समाज से भी कुछ अपेक्षाएँ है । यदि हम चाहते है कि छात्र उन्मुक्त यौवनाचार के कुपरिणामो से बचें तो निश्चित रूप से समाज मे इस प्रकार का वातावरण निर्माण करना होगा । जब तक सिनेमा या टी. वी. में उन्मुक्त कामाचार या नग्न दृश्यो का प्रदर्शन होता रहेगा, तब तक काम-कुपरिणामो से बचने की नैतिक शिक्षा अधूरी रहेगी । जब तक समाज के अग्रणी नेता, धनी लोग, लेखक अथवा अधिकारी वर्ग के आचरण में नैतिकता नहीं आएगी तब तक नैतिक शिक्षा अधूरी रहेगी ।

यहाँ यह बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि लोगों की आम धारणा सी बन गई है कि वैयक्तिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में कोई संबध नहीं है । कोई कथावाचक प्रातः से संध्या तक कथावार्ता द्वारा नीति की ऊँची से ऊँची शिक्षा क्यो न देता हो किन्तु अपने वैयक्तिक जीवन में यदि उसके ठीक विपरीत आचरण करता हो, तो उसकी शिक्षा व्यर्थ होगी । समाज के अग्रणी नेताओं

एव उम्र मे बडे लोगो के आचरण से समाज बहुत प्रभावित होता है ।

कार्य-विधि

प्राय: देखा गया है कि नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम की जिम्मेदारी किसी एक शिक्षक पर सौप दी जाती है तथा नैतिक शिक्षा के लिए एक या दो कालांश की व्यवस्था की जाती है । यह विधि प्राय: निष्प्राण सिद्ध हुई है । अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि नैतिक शिक्षा को संपूर्ण शिक्षा के साथ अनुस्यूत कर दिया जाए । समग्र शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा को अनुस्यूत करने का कार्य दो प्रकार से हो सकता है – प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से । नैतिक शिक्षा के लिए कुछ प्रत्यक्ष कार्यक्रम तो किए ही जाएँ, साथ-साथ विभिन्न विषयो को पढ़ाते समय भी छात्रो मे नैतिक गुणो का विकास किया जाय ।

विद्यार्थियो को गणित पढाते समय उसमे विश्लेषण कौशल, सत्य,प्रेम आदि सद्‌गुणो का विकास किया जा सकता है । विज्ञान पढाते समय स्वच्छता, आत्मानुशासन, निर्भयता आदि सद्‌प्रवृत्तियो को उभारा जा सकता है । साहित्य पढाते समय सहयोग, नम्रता, ईमानदारी, दया, सहानुभूति शिष्टाचार आदि सद्‌व्यवहारों को विकसित किया जा सकता है । इतिहास और नागरिक शास्त्र पढाते समय देशप्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, सुयोग्य नागरिकता, न्यायप्रियता आदि गुणो का विकास किया जा सकता है । पढाते समय समानता, श्रम-सम्मान आदि गुणो का विकास किया जा सकता है ।

विद्यालयो में नैतिक शिक्षा का आयोजन करने के लिए अपनाई जानेवाली कार्य-विधि के अन्तर्गत दो बाते आवश्यक है –

1. विद्यालय के समग्र वातावरण को नैतिक शिक्षा के अनुकूल तैयार करना ।
2. विद्यार्थियो को नैतिक शिक्षा के संदर्भ मे उपयुक्त शैक्षिक अनुभव प्रदान करना ।

वातावरण के अन्तर्गत भी दो पक्ष आते है – मानवीय तथा भौतिक । मानवीय पक्ष के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि प्रधानाचार्य, अध्यापक एव छात्रो का परस्पर का व्यवहार मधुर, सौहाद्रपूर्ण एव आदर्श हो । अध्यापक एव प्राचार्य के व्यक्तित्व, वेशभूषा, व्यवहार आदि का प्रभाव छात्रो के नैतिक उन्नयन पर काफी पडता है । यह आवश्यक है कि विद्यालय के वरिष्ठ से कनिष्ठ कार्यकर्ता तक जाति, धर्म एव पद का बिना भेदभाव किए परस्पर स्नेह, सम्मान एव सौजन्य से पूर्ण व्यवहार करे । भौतिक पक्ष के अन्तर्गत विद्यालय, बुलेटिन बार्डो आदि को महापुरुषो महाकवियो, कलाकारो तथा वैज्ञानिको के चित्रो एव अन्यायन्य शैक्षिक चार्टों से विभूषित किया जाए । क्रीडा क्षेत्र और उद्यान को साफ-सुथरा तथा व्यवस्थित रखा जाए ।

दूसरा पक्ष है छात्रो को शैक्षिक अनुभव प्रदान करना । प्रत्यक्ष रूप मे विद्यालय की प्रार्थना, पाठयेतर एव सहगामी क्रियाए – जैसे, धर्मात्माओ एव महापुरुषो की जयन्ती, राष्ट्रीय उत्सव, कार्यानुभव, क्रीडा-समारोह, विषय-क्लब, समाज सेवा आदि कार्यक्रमो द्वारा राष्ट्रीयता, लोकतत्र, सहयोग, ईमानदारी, अनुशासन एव सामाजिक दायित्व के वहन की भावना विकसित की जा सकती है । अप्रत्यक्ष रीति से भाषा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित रोचक कथाओं, उपाख्यानो या प्रतीको के सदर्भ में नैतिक शिक्षा दी जा सकती है । गणित और विज्ञान की शिक्षा देते समय सत्य, तर्क और आत्मविश्वास की शिक्षा दी जा सकती है ।

मूल्यांकन

नैतिक शिक्षा का संबध विशेष रूप से विद्यार्थियो की भावना तथा व्यवहार से है । भावनात्मक पक्ष और व्यवहारात्मक पक्ष का मूल्याकन ज्ञानात्मक पक्ष के मूल्याकन से कठिन होता है और साथ ही उसमे इतनी वस्तु-निष्ठता नही आ पाती । फिर भी यह स्वाभाविक है कि किसी भी योजना को चलानेवाले कार्यकर्ता उसका मूल्याकन करना चाहते हैं जिससे वे निर्धारित उद्देश्यो के संदर्भ मे अपने प्रयास तथा विद्यार्थियो की सप्राप्ति के संबध में जानकारी कर सके और योजना के उन्नयन के लिए आवश्यक परिष्कार कर सके । मूल्यांकन की दो पद्धतियाँ प्रचलित है –

1. स्वयं द्वारा किया गया मूल्यांकन
2. दूसरो के द्वारा किया गया मूल्यांकन

नैतिक शिक्षा का संबध विद्यार्थियो के भावनात्मक तथा व्यवहारात्मक पक्ष से है, जिसका उन्नयन स्वय के प्रयास से अधिक होता है । अतएव इसके लिए आत्मविश्लेषण की पद्धति अधिक उपादेय है ।

नैतिक शिक्षा के मूल्याकन के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन आयामो का मूल्यांकन किया जा सकता है –

1 नैतिक शिक्षा के उद्देश्यो का मूल्यांकन

2 नैतिक शिक्षा की कार्य-विधि का मूल्यांकन

3 विद्यार्थियो की संप्राप्ति का मूल्याकन

नैतिक शिक्षा के उद्देश्यों का मूल्यांकन भी निम्नलिखित आयामों के आधार पर किया जा सकता है –

(क) **पक्ष** – व्यक्ति के विकास के तीन पक्ष होते हैं – ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा व्यवहारात्मक । नैतिक शिक्षा के उद्देश्यो मे तीनो ही पक्ष प्रबल होने चाहिए । अतएव मूल्यांकन तीनो ही पक्षों का होना चाहिए । पर चूँकि नैतिक शिक्षा का वास्तविक संबंध भावना एव व्यवहार से है, इसीलिए मूल्यांकन करते समय इन दो पक्षो पर विशेष बल देने की आवश्यकता है ।

(ख) **औचित्य** – नैतिक शिक्षा के उद्देश्य व्यक्ति तथा सामाजिक दोनो दृष्टियो से उचित होने चाहिए । उनमे शाश्वत तथा समसामयिक सामाजिक मान्यताएँ दोनो प्रतिबिम्बित होनी चाहिए ।

(ग) **व्यवहार्य** – नैतिक शिक्षा के उद्देश्यो का निर्धारण बच्चों की आयु एवं मानसिक स्तर दोनो को ध्यान में रखकर किया जाए ।

कार्य-विधि का मूल्यांकन

नैतिक शिक्षा की कार्यविधि का मूल्यांकन निम्नलिखित आयामो पर संभव है –

1 वह उद्देश्य प्राप्ति मे सक्षम हो ।

2 वह विद्यार्थियों की आयु और मानसिक स्तर के अनुरूप हो ।

3 वह सामाजिक दृष्टि के विकास मे सक्षम हो ।

4. वह विवेक बुद्धि के विकास मे सक्षम हो ।

विद्यार्थियों की संप्राप्ति का मूल्यांकन

इसके अन्तर्गत बच्चो के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं व्यवहारात्मक तीनो ही पक्षो का मूल्यांकन किया जाना चाहिए । इनका मूल्याकन करने के लिए पर्यवेक्षण तथा आत्मनिरीक्षण की पद्धति अधिक व्यावहारिक होगी । पर्यवेक्षण के लिए मौखिक परीक्षण, साक्षात्कार, बातचीत आदि पद्धति अपनायी जा सकती है । आत्मविश्लेषण के लिए चिन्तन एवं मनन प्रणाली ही उपयुक्त है । इन दोनो के लिए जाँचकर्ता या स्वयं विद्यार्थी चैक लिस्ट कर प्रयोग कर सकते है ।

व्यवहार के परीक्षण के लिए विद्यालय या विद्यालय से बाहर कुछ कृत्रिम स्थितियाँ पैदा की जा सकती है या उन्हे किसी अन्य उपयुक्त स्थान पर वास्तविक स्थिति में परखा जा सकता है । कृत्रिम स्थितियाँ प्रश्न-पत्र एवं व्यवहार दोनों रूपो मे उत्पन्न की जा सकती है । उपयुक्त अथवा वास्तविक स्थितियो के संबंध मे परिवार, पडौस, विद्यालय, अस्पताल, सड़को पर उनके व्यवहार को देखा जा सकता है ।

यदि कोई अध्यापक बालको के भावनात्मक और व्यवहारात्मक पक्ष का मूल्यांकन तकनीकी रूप मे करना चाहता है तो इसके लिए परीक्षण-यंत्र भी बनाए जा सकते है ।

अन्त मे एक महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात यह है कि नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम तथा उसके अन्तर्गत मूल्यांकन को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए विद्यार्थी, अध्यापक तथा परिवार के सदस्यों सभी का पारस्परिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक है । □□

प्राथमिक पाठशाला – वास्तविकता एवं आदर्श

☐ श्रीमती रेणु कौल

नीरज पाँच वर्षीय बालक था, शिशु शाला से निकल कर उसने एक अच्छे प्राथमिक विद्यालय में प्रवेश लिया । क्या विद्यालय वास्तव मे अच्छा था ? हाँ – उसमे बड़े-बडे कक्ष थे, हरी-गुलाबी-पीली दीवारे थीं, छोटी-छोटी मेज तथा कुर्सियाँ थीं, कमरो में चार-चार पंखे थे और कोने में खिडकी के पास एक गुलदस्ता भी था, जिसमे रंग-बिरंगे फूल सजे थे । यह वातावरण एक बालक को मोहने के लिये पर्याप्त था । किन्तु कक्षा में प्रवेश करने के उपरान्त, अनेकों अन्य बालको को रोते देखकर नीरज की आँखों मे भी आँसू आ गए । पहले उसने चुपके-चुपके आँसू पोंछे, किन्तु थोडी देर में आंसू सिसकियों मे बदल गये – फिर कुछ देर बाद नीरज भी अन्य बालकों के साथ मम्मी-मम्मी करके रोने लगा । नीरज की माँ बाहर खडी हुई अपने इकलौते बेटे का यह हाल देखकर रुमाल से अपने आसू पोंछ रही थी कुछ समय बाद कक्षाध्यापिका बाहर आई, एव मधुर स्वर में नीरज की माँ से बोली –

'बहिन जी, आप घर जाये । आपका बेटा मेरे जिम्मे है । मै उसकी उसी तरह से देखभाल करूंगी जैसी आप करती है । आप निश्चिंत रहे । मैं तो अध्यापन केवल इसीलिये करती हूँ कि मुझे बच्चो से प्यार है, ममता है, स्नेह है ।'

नीरज की माँ को अध्यापिका की बात सुन कर बडी तसल्ली हुई । फिर भी वह घर वापस नही गई – बरामदे के दूसरी ओर एक अन्य कक्ष के सामने खड़ी हो गई, जिससे वह अपने बेटे की दृष्टि से दूर रहे ।

इस कक्ष का माहौल कुछ दूसरा ही था । इसमे भी लगभग तीस पैतीस बच्चे एक स्वर से चीख चिल्ला रहे थे । अध्यापिका देखने मे तो सुन्दरी थी परन्तु हाथ छडी लिये बच्चों को सम्हालने का प्रयत्न कर रही थी । बीच-बीच में बच्चो की एक समवेत चीख से घबराकर सामने मेज पर अपनी छडी को इस तरह पटक रही थी कि बच्चे तो क्या बड़ो का भी दिल काँप उठे ।

नीरज की माँ से यह दृश्य बर्दाश्त न हुआ । वह बाहर आ गई । स्कूल के गेट के पास जो पत्थर की बेंच पड़ी थी, उस पर अन्य आगन्तुकों के साथ वह भी बैठ गई । मन में विचारो की तरंगे लहराने लगी ।

"कितना कठिन है नन्हे बच्चों का अध्यापक बनना । मैं अपने दो बच्चो से ही कभी-कभी परेशान हो जाती हूँ – बच्चों को डाँटती हूँ, मारती हूँ और ये बेचारी इतने सारे बच्चो को कैसे सम्हाले ? फिर भी ये अध्यापिका क्यों बनी ? यदि इनमे सहनशक्ति नहीं है, प्यार नही है, स्वभाव मे मधुरता नहीं है, तो शायद इन्हे इन नन्हे मुन्ने बच्चों की अध्यापिका बनने का कोई अधिकार नही है । इन्हे नौकरी चाहिए, ये स्वावलम्बी बनना चाहती हैं, तो क्यों नहीं ये फैक्टरी मे काम करती । वहां मशीनें केवल एक ही स्वर में आवाज करती है । जब परेशान हो जाती" तो एक स्विच दबा देती और सारी मशीनें एक साथ शान्त हो जातीं, पर नन्हें मुन्ने बच्चे ? ये तो अनुभूतिशील हैं, संवेदनशील हैं, ये ईश्वर की देन हैं – इनके साथ यह क्रूरता क्यो ?"

नीरज की माँ इसी उधेड बुन मे फँसी हुई थी कि इतने में

उन्होंने देखा उनके बेटे नीरज को उनकी अध्यापिका हाथ पकड कर उसी तरफ ला रही थी । वह झट से एक झाडी के पीछे छिप गई एवं वहाँ से अपने बेटे को देखने लगी । बेटे की आँखे लाल हो रही थी, रोते-रोते उसकी पलके भारी हो गई थी एवं रह-रह कर वह सिसकियाँ भी ले रहा था । उसकी अध्यापिका ने उसका हाथ नहीं छोडा । जिस तरह माँ अपने रुठे हुए बच्चे को पुचकारती है, उसी प्रकार से नीरज की अध्यापिका भी बडे प्यार से उसके सिर पर हाथ फेर रही थी । वह नीरज को लेकर नल के पास आई । एक ग्लास मे पानी भर कर नीरज का मुँह धुलाया और अपने रुमाल से उसका मुंह पोछा । थोडी देर तक वही बाहर टहलती रही । वह नीरज से कुछ बातें भी कर रही थी। नीरज के चेहरे से अब भय हट गया था । अब वह रो नहीं रहा था और अपनी अध्यापिका का हाथ जोर से पकडे हुये था, मानो उसे उस मुट्ठी मे अपनी माँ का स्नेह मिल रहा हो ।

नीरज का वह पहला दिन उसके जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण था । प्राथमिक विद्यालय का यह प्रथम दिवस बालक के सम्पूर्ण छात्र जीवन पर एक अमिट छाप छोड जाता है । शैशवावस्था मे जब बालक पाठशाला भेजा जाता है तो सबसे पहले उसे आवश्यकता ऐसे व्यक्ति की होती है जो उसे स्नेह दे सके, उसका विश्वास जीत सके ।

किसी प्रकार से हाई स्कूल तथा इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करके, दो वर्ष में प्रशिक्षण समाप्त करके कुछ महिलाये निकल पडती है जीविकोपार्जन की खोज में और ठेका ले लेती है इन कोमल शिशुओ के चरित्र निर्माण का । यदि नीरज की अध्यापिका की तरह समस्त बाल-अध्यापिकायें अपने स्नेह से शिशुओ का मन जीत सके तो हमारी पाठशालाओ मे सुन्दर एवं स्वस्थ जीवन की भूमिका बंध सके । किन्तु आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सामाजिक उलझनो और कठिनाइयो के बीच फंसी हुई प्राथमिक पाठशालाओ की अध्यापिकाये राष्ट्र की भावी कर्णधार नन्हें-मुन्ने छात्र-छात्राओ के चरित्र निर्माण में दत्त चित्त होकर कार्य नही कर पाती ।

पाठशालाओं को आकर्षित बनाने के लिये सुयोग्य अध्यापिकाओ के साथ उचित वातावरण की भी अत्यन्त आवश्यकता है । कितनी पाठशालायें ऐसी हैं जहाँ बैठने के कमरे तक नही है । गांव मे चार छोटे-छोटे अंधेरे कमरो मे बच्चे टाट पट्टी पर बैठकर शिक्षा ग्रहण करते हैं । कही-कहीं पर तो उसका भी अभाव है । एक लम्बे बरामदे मे तीन ब्लेक बोर्ड के सामने खडी होकर तीन अध्यापिकाये पृथक-पृथक स्वर मे चिल्लाती है, "दो एकम् दो, दो दूनी चार," "रामू" अपने चाचा के साथ खेत गया, उसका भाई भी उसके साथ था । "बच्चो इन सवालो को अपनी कापी मे उतार लो ।"

इस प्रकार की शिक्षा बच्चो के दिलो और दिमाग पर क्या सही असर डाल सकती है इसका अन्दाजा लगाना कठिन नही है । ऐसी भी पाठशालाये है जहां बच्चे रोज अपने बस्ते के साथ एक गेहूँ का बोरा भी ले आते है । पाठशाला मे उसी को बिछा कर बैठते है और फिर छुट्टी होने पर उसे तहाकर बस्ते के साथ घर वापस ले जाते हैं । इसमे यदि मौका मिले तो एक बच्चा दूसरे बच्चे का टाट चुराने में चूकता नही । ऐसी परिस्थितियों मे शिक्षा को आकर्षक बनाने की कल्पना क्या केवल कल्पना मात्र नही है ?

ऐसी ही एक अंधेरी कोठरी में कभी-कभी पाठशाला अध्यापिका अपने नाश्ते का झोला लिये हुए कभी साढे दस बजे कभी ग्यारह बजे अथवा साढे ग्यारह बजे तक कक्षा मे प्रवेश करती है । यदि उनके साथ उनकी अपनी सन्तान भी आती हो तो सर्वप्रथम वह किसी बालक से यह अपेक्षा करती है कि वह उनके बच्चे को बहलाता रहे । नाश्ते के समय अध्यापिका नाश्ता खाकर कागज का टुकडा वही डाल देती है – बेंच के नीचे । कैसे हो सकेगी इन विद्यालयो मे चरित्र निर्माण की पहली शिक्षा – स्वच्छता ? यही बाह्य स्वच्छता धीरे-धीरे आन्तरिक स्वच्छता में परिणित होती है । स्वच्छता नैतिक शिक्षा की पहली कडी है । हमारे प्राथमिक विद्यालयो को स्वच्छ एवं सुन्दर रखने के लिये अधिक धन की आवश्यकता नही है – आवश्यकता है सही मनोवृत्ति की । अध्यापिका की उचित प्रेरणा से तो नन्हे-मुन्ने बच्चो से ही अपनी-अपनी कक्षा को स्वच्छ रखने का कार्य लिया जा सकता है ।

पाठशालाओ की बाह्य स्वच्छता के अतिरिक्त पाठो को सरल बनाना भी अत्यन्त आवश्यक है । किन्तु यह तभी सम्भव है जब अध्यापिका को अपने कार्य मे रुचि हो । बाल स्वभाव के प्रतिकूल यदि अध्यापन कार्य मे केवल पाठ्यपुस्तक को ही महत्व दिया जाये एवं नन्हें-मुन्ने बच्चों से यह आशा की जाये कि वे एक स्थान पर बैठकर, देर तक पाठ्यपुस्तक की पक्तियां दोहराते रहें तो वह अध्यापन नही है । अक्षर ज्ञान तथा अंक ज्ञान के आधुनिकतम तरीको को अपनाकर अध्यापन को सुरुचिपूर्ण बनाना, प्रत्येक अध्यापिका का कर्तव्य है । किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उन्हे कहाँ से ज्ञान हो, इन आधुनिकतम तरीको का ? वर्षों पूर्व उन्होंने अपने दीक्षा विद्यालय में जो दीक्षा पाई थी, वह पुरानी हो गई है और नवीनतम

प्रणालियो का उन्हें कही आभास तक नही मिलता । प्राथमिक पाठशालाओ मे ऐसे पुस्तकालय नही होते है जहां अच्छी पत्रिकाएँ उपलब्ध हो । यदि ये पत्रिकाएँ अध्यापिका तक पहुँच भी जाती है तो उन्हे पढ़ता कौन है ? जीवन के झंझावतो से लडती हुई अपने पैरो पर खडी होने वाली अधिकतर अध्यापिकाओ की पढने-पढाने मे रुचि नही रह पाती है । अत: आवश्यकता है उन्हे उचित प्रेरणा देने की । यह तभी सम्भव है जब इस प्रकार के कार्यक्रम हो, जिसमे देश के विभिन्न प्रदेशो से एकत्रित अध्यापिकाये आपस मे एक दूसरे से मिलें, विचारो का आदान-प्रदान करें एव एक दूसरे से प्रोत्साहित हो । शिशुओं की बुनियादी शिक्षा को मजबूत बनाने के लिये, शिशुओ की शिक्षा के प्रति रुचि पैदा करने के लिए, पाठशाला जीवन को आकर्षक बनाने के लिये अध्यापन का सरस होना नितान्त आवश्यक है ।

यह मान लेना कि प्राथमिक पाठशाला की कोई भी अध्यापिका अपने कार्य मे रुचि नही लेती – अतिशयोक्ति होगी । जहां एक तरफ अधिकतर पाठशालाओ मे नीरसता है, उदासीनता है, कुछ पाठशालाये ऐसी भी है जहाँ शिक्षण कार्य अति उत्तम होता है । ऐसे पाठशालाओ में होड लग जाती है, छात्रो के प्रवेश की । बेसिक शिक्षा के निरीक्षकों का यह दायित्व होना चाहिये कि वे अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले प्राथमिक पाठशालाओं की अध्यापिकाओ को टोलियो मे उत्तम पाठशालाओं में ले जाये जिससे वे आधुनिकतम नवीन प्रणालियो का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर ले और उससे प्रेरित होकर अपनी पाठशालाओ मे परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें । अनभिज्ञता बहुधा उदासीनता का कारण बन जाती है – अज्ञानता नीरसता का । केवल औपचारिक गोष्ठियाँ उतनी लाभप्रद नहीं होती है – क्योंकि अध्यापिकाओ को जब व्यवहारिक कठिनाइयों का सामना करना पडता है तब उसे सुलझाने के लिये आवश्यकता होती है व्यावहारिक अनुभव की । बेसिक शिक्षा के नाम पर देश में काफी मात्रा मे धन प्रावधानित किया जाता है किन्तु उसके स्तर को ऊँचा करने का प्रयास विशेष दृष्टिगोचर नही होता है । प्राथमिक पाठशालाओं मे निरीक्षण कार्य और अधिक सुदृढ होना नितान्त आवश्यक है । साथ ही आवश्यकता है वातावरण में आमूल परिवर्तन की ।

परिवर्तन का एक सूत्र सक्रियता है । देश की अधिकतर पाठशालायें पाठ-प्रधान हैं, कार्य-प्रधान नही । किन्तु नन्हे-मुन्ने बच्चों के लिये कार्य-प्रधान पाठ्यक्रम ही उन्हे विद्यालय मे बांध सकते है । भारतीय संस्कृति मे प्रत्येक प्रदेश का अपना स्थानीय संगीत एवं नृत्य है, जो उस प्रदेश की संस्कृति की झलक है । कितनी पाठशालाये ऐसी है जिसमें बच्चों को नृत्य और संगीत के माध्यम से उन्हे भावाभिव्यक्ति का अवसर प्रदान होता है ? स्थानीय लोक संगीत एवं नृत्य का समावेश करने मे कुछ आर्थिक व्यय भार नहीं पड़ता है । इसके लिये आवश्यकता है अध्यापिका की कल्पना शक्ति की । देश नायक महात्मा गांधी की बेसिक शिक्षा की कल्पना मे इन पाठशालाओ मे पुस्तकीय अध्यापन की अपेक्षा कार्यशीलता को महत्व दिया गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी कल्पना अभी भी साकार नही हो सकी । हमारी पाठशालायें रूढिवादी अक्षरज्ञान और अंकज्ञान की परिधि से बाहर नहीं जा सकीं । संगीत, नृत्य, बागवानी, नाटक, पपेट शो इत्यादि के समावेश से प्राथमिक शिक्षा को भी सुरुचिपूर्ण बनाया जा सकता है । क्या यह नितान्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति नही है कि प्राथमिक विद्यालय के अन्तर्गत बच्चों को जिन्हे परिवार में केवल अपने छोटे भाई-बहिनो को पालना, पिता के साथ खेत मे काम करना तथा घर मे रूखी-सूखी दाल-रोटी खाने के अतिरिक्त और कोई मनोरंजन का साधन नही है इतना भी मनोरंजन न मिले ? वे बच्चे विद्यालय के नाम से कतराते है एवं सर्वथा यही प्रयत्न करते है कि उन्हे किसी न किसी बहाने से विद्यालय न जाना पडे । प्राथमिक विद्यालयो मे सर्वप्रथम आवश्यकता है आकर्षण की जो स्वत: ही बच्चो को विद्यालय आने के लिए प्रेरित करेगी । भारत जैसे समृद्धिशाली देश जहाँ सूर्य की किरणें प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है, जहाँ हरियाली का राज्य है, जहाँ जगह-जगह पर छोटी-बडी नदियां अठखेलियां करती रहती हैं, वहां हम पाठशाला के शिशुओं को दो अंधेरी कोठरी मे बन्द करके शिक्षा देने के नाम पर शिक्षा का परिहास करते रहते है । बालक को बाह्य जगत के अनुकूल बनाने के लिए उस बाह्य जगत के सम्पर्क में आना पड़ेगा । यह सानिध्य पुस्तको मे उपलब्ध नही हो सकता । स्पष्ट है कि प्राथमिक विद्यालयों की कार्य-प्रणाली मे आमूल परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक है सक्रिय चिन्तन की जिससे इन विद्यालयों में एक नया संस्कार जागृत हो सके । रूढिवादी नीरस पाठ्यक्रम के स्थान पर आवश्यकता है नवीनतम चिन्तन की । जिससे इन विद्यालयों में स्नेह तथा स्वछन्द वातावरण का अविर्भाव हो एवं नयी पीढी केवल संकुचित वातावरण मे सीमित न रहकर बहिंजगत का भी परिचय प्राप्त करे जिससे भावी जीवन में व्यावहारिकता तथा वास्तविकता में कोई विरोधाभास उत्पन्न न हो । ☐☐

पूर्व विद्यालय भाषा-ज्ञान लिखित भाषा के संदर्भ में

□ राजेश कुमार

आम तौर से देखा जाता है कि शिशु विद्यालय के नाम से बिदकते हैं, वे स्कूल जाना नही चाहते और रुचिपूर्वक तो जाते ही नहीं ।

इसके विपरीत अमेरिका का हाल ही का समाचार है कि एक 13 वर्षीय किशोर को विश्वविद्यालय ने उसकी योग्यता और क्षमता देखते हुए विज्ञान के एक स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में प्रवेश दिया है, जहां वह अपने से इयोढी उम्र के वैज्ञानिकों के साथ-विचार-विमर्श करता है ।

इससे हम अनेक निष्कर्ष निकाल सकते है ।जैसे –

(i) हमारे विद्यालय अविकसित हैं ।

(ii) अध्यापक प्रशिक्षित नहीं है ।

(iii) शिशु पढने के बजाय खेलो मे रुचि लेते है ।

(iv) कुछ शिशुओं मे अलौकिक प्रतिभा होती है, विशेषत विदेशी शिशुओं मे ।

आइए, हम एक वैज्ञानिक तथ्य का विश्लेषण करें । विद्यालय मे शिशु के साथ क्या व्यवहार होता है ? उसे पढाया जाता है, तो क्या बच्चा पढना नही चाहता है ?

वैज्ञानिकों का कहना है कि शिशु के मस्तिष्क का विकास बहुत तेजी से, लेकिन घटते-क्रम मे होता है यानी कि जितना विकास पहले दिन होता है उतना दूसरे दिन नहीं होता, और यह विकास आठ वर्ष की आयु तक पूरा हो लेता है । इसके बाद 8 से 80 वर्ष तक मस्तिष्क का जो विकास होता है, वह आठवे वर्ष मे हुए विकास से भी कम होता है । भौतिक रूप मे भी जन्म के समय शिशु के मस्तिष्क का भार शरीर का 11 प्रतिशत होता है, जबकि एक व्यस्क मे यह प्रतिशत केवल 2.5 रह जाता है । शिशु के शरीर के विकास पर भी यही नियम लागू होता है । अगर ऐसा न हो तो हमे बहुत विराटकाय मनुष्य देखने को मिले ।

प्रयोगो और निरीक्षण से यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रथम वर्ष मे विद्यार्थी जितना सीख लेता है, उससे कम दूसरे वर्ष मे सीखता है और यही घटता हुआ क्रम आठ वर्ष तक चलता है । आठ वर्ष के बाद सीखने की यह क्षमता अत्यन्त न्यून हो जाती है ।

तब क्या बात है ? शिशु को विद्यालय का नाम सुनते ही बुखार क्यों चढने लगता है ? कारण, वहाँ पढाया जाता है जबकि विद्यार्थी सीखना चाहता है । और स्कूल मे जिस तरह से उसे पढाया जाता है, उसमे अभी तक उसका प्रशिक्षण तो क्या परिचय भी नही हुआ होता ।

प्राय: स्कूल मे विद्यार्थी पांच वर्ष का होने पर आता है । अब तक उसका मौखिक भाषा पर तो पूरा अधिकार हो जाता है, लेकिन लिखित भाषा से उसका परिचय स्कूल मे ही और पहले दिन से ही होता है । उसे अटपटा लगता है, क्योकि इस उम्र में उसके सीखने की क्षमता और रुचि पहले से काफी कम हो चुकी होती है ।

कई बार देखा जाता है कि एक ढाई-तीन वर्ष का बच्चा ''बोर्नविटा'' के डिब्बे पर लिखे इस शब्द को पढ कर बोल देता है । हम इस बात पर या तो ध्यान नही देते अथवा उसे आश्चर्य से देखने

लगते है । हालांकि इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नही । आज शिशु के वातावरण मे पढना सीखने के अनेक साधन अनायास उपलब्ध है । दूरदर्शन विज्ञापन मे बडे-बडे अक्षरो मे "बोर्नविटा" लिखा हुआ आता है और साथ ही स्पष्ट रूप से इसका उच्चारण किया जाता है । विद्यार्थी इसे पकड लेता है ।

विदेशो मे अनेक लोगो ने अपने शिशुओ के इस व्यवहार को देखकर उनकी पढने की भूख को पहचाना और तदनुरूप उन्हे पढना सिखाने के प्रयास किए और ये प्रयास आश्चर्यजनक रूप मे बहुत सफल रहे । ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहां 18 माह से लेकर 2½ वर्ष तक के बच्चो मे पढने की क्षमता विकसित हो गई ।

हम लोग यह सोचते रह जाते है कि पढना बहुत गरिष्ठ दक्षता (Skill) है और शिशु को स्कूल में जाकर ही इसे सीखना चाहिए, इससे पूर्व शिशु को पढना सिखाना हानिकारक सिद्ध हो सकता है । शायद ही कोई और बात इससे ज्यादा गलत हो ।

वस्तुत: भाषा की समझ विद्यार्थी के मस्तिष्क से संबंध रखती है । तीन साल तक ही शिशु की भाषा बोलने-समझने की क्षमता अत्यंत विकसित हो जाती है क्योंकि भाषा के मौखिक रूप से उसका रात-दिन वास्ता पड़ता है । भाषा के लिखित रूप से उसको परिचित नहीं करवाया जाता, अत: उसका मस्तिष्क इस मामले में कोरा रहता है । वह भाषा को कानों से विद्युत-रसायन संकेतों के रूप में तो मस्तिष्क तक भेज लेता है, पर आँखों से वह यही काम करने मे अभी समर्थ नहीं हो पाता ।

निरीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि पांच वर्ष तक की आयु में विद्यार्थी पांच भाषाएं तक सीख सकता है और उनका धाराप्रवाह प्रयोग भी कर सकता है, जबकि छह वर्ष की आयु के बाद किसी विदेशी भाषा पर अधिकार करना प्राय: असंभव रहता है ।

अमेरिका में फौज़ी अधिकारियों को विदेशों में कार्य पर भेजे जाने का चलन है । विदेशों मे जाने से पहले अधिकारी विदेशी भाषा पर अधिकार करने की चेष्टा करता है और इसके लिए आधुनिक उपकरणों और अनुभवी शिक्षकों से लैस विद्यालय भी है । मेजर स्मिथ 30 वर्षीय स्वस्थ्य व्यक्ति हैं । वे स्नातक हैं व उनकी मेधा भी औसत से 15 बिंदु अधिक है । उन्हें जर्मनी जाना है । जर्मन भाषा सीखने के लिए वे विद्यालय मे जाते है ।

मेजर स्मिथ मेहनत से पढाई करते हैं, क्योंकि उनके कार्य में जर्मन भाषा का प्रयोग जरूरी है । फिर वे जर्मनी चले जाते हैं ।

लेकिन एक वर्ष बाद जब वे अपने बच्चे के साथ बाजार जाते है, तो ज्यादातर बाते बच्चा ही करता है क्योंकि जर्मन भाषा पर उसका अधिकार अपने पिता से अधिक है ।

ऐसा कैसे हुआ ?

पिता को अत्याधुनिक तरीकों से विशेषज्ञ अध्यापको ने जर्मन भाषा पढाई और फिर भी वह अपने उस बच्चे से कम जर्मन जानता है, जो जर्मन सीखने के लिए कभी स्कूल नही गया ।

तब बच्चे को जर्मन किसने सिखाई ? वास्तव मे किसी ने नही । घर मे जर्मन बोलने वाली नौकरानी थी और बस शिशु ने भाषा को पकड़ लिया ।

पिता को जर्मन भाषा सिखाई गई पर वह उसे बोल नही सकता ।

बच्चे को जर्मन भाषा सिखाई नही गई पर वह उसे बोलता है ।

ऐसा कहा जा सकता है कि यहां वातावरण का अंतर आडे आता है । पिता को जर्मन बोलने वाला वैसा साथी नहीं मिला जैसा पुत्र को मिल गया । अत: यह बच्चे की विशेषता न होकर वातावरण का असर था, जिसने बच्चे को जर्मन सिखा दी । लेकिन आइए हम श्रीमती स्मिथ से मिले, जो उसी घर मे उसी नौकरानी के साथ रहती हैं । उनकी जर्मन भाषा तो पति से भी कमजोर है और बच्चे से तो वह बहुत-बहुत पीछे है ।

अगर हम एक कल्पना करें कि मेजर स्मिथ के अनेक संतान है, तो जर्मनी में निवास के दौरान जर्मन भाषा पर उनका अधिकार आयु के अनुरूप होगा । बच्चे की आयु जितनी ज्यादा होगी, भाषा पर उसका अधिकार उतना ही कम होगा ।

पांच वर्ष का बच्चा पर्याप्त जर्मन सीख लेगा, लेकिन उसका ज्ञान तीन वर्षीय शिशु से कम होगा ।

दस वर्षीय बच्चा काफी जर्मन सीख लेगा, लेकिन उसका ज्ञान पाँच वर्षीय बच्चे से कम होगा ।

पंद्रह वर्षीय बच्चा कुछ जर्मन सीख लेगा, लेकिन वह शीघ्र ही इस भाषा को भूल जाएगा ।

और बेचारे स्मिथ दंपति वस्तुत: कुछ भी जर्मन नही सीख पाएँगे ।

अत' हमे शिशुओ को अक्षर ज्ञान अर्थात् भाषा के लिखित रूप से परिचित कराने की दिशा मे गंभीरता से विचार करना चाहिए । इस प्रशिक्षण के बाद वे स्कूल मे अपने आपको खोया-खोया महसूस नही करेगे, अपितु ज्ञान को अधिक रुचि से ग्रहण करेगे । लेकिन शिशु को अक्षर-ज्ञान कैसे कराया जाए ? वस्तुत: शिशु मे सीखने की लगन और सामर्थ्य इतनी अधिक होती है कि उसे किसी भी पद्धति से सिखाया जाए – वह सीख लेता है, अगर पद्धति बहुत ऊटपटांग ही न हो । पद्धतियो के स्तर के अनुरूप यह ज्ञान कम-ज्यादा हो सकता है । अनेक लोगो ने अनेक प्रकार से अपने शिशुओ को पढाने की कोशिश की और सफल रहे ।

यो इस दिशा मे जो शोध और कार्य अब तक हुआ है, उसके आधार पर हम एक बेहतर शिक्षण पद्धति अवश्य आयोजित कर सकते है । पर यह एक अगाध विषय है, अत' इस पर हम फिर कभी चर्चा करेगे । □□

उत्तरांचल में भाषा-शिक्षा की समस्या

☐ यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'

भारत का हिमालय क्षेत्र विश्व की प्राचीन संस्कृतियो का संगम और प्राचीन ऋषि-मुनियों की तपस्थली रहा है । इस भू-भाग की संस्कृति में विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियो को जीवंत रूप मे देखा जा सकता है । विश्व इतिहास में मातृदेवी पृथ्वी की उपासना की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा मिस्र की मातृदेवी इजिस (हथौर) में थी । मिस्र के त्रिदेव मातृदेवी इजिस पितृदेव ओसिरिस और पुत्र होरस का ईसाई रूप सन्त मेरी, परमेश्वर पुत्र ईसा का यवन प्रभाव गभार में बौद्ध हारिती अविलोकितेश्वर और बोधिसत्व बना । कुमाऊँनी बोली मे इजि आज भी माँ के लिए प्रयुक्त शब्द है । वैदिक साहित्य मे पृथ्वी को गौ-माता और उसको आवृत्त करने वाले पर्यावरण को वरुण कहा गया । इसी निदर्शना का रूप ग्रीक पृथ्वी माँ गैया है । उसका पति द्योस या ग्रीक जियोस और रोमन द्योपिस्तर जुपिटर के रूप मे मान्य हुए । यह रूप गान्धार से आया । सगुण उपासना का द्रविड रूप आदि शंकराचार्य के समय से दूर दक्षिण समुद्र तट से हिमालय क्षेत्र में पहुँचा । नवीं सदी ईस्वी से आज तक भी हमारी बद्रीनाथ, केदारनाथ, महामहेश्वर आदि मन्दिरो के पुजारी केरल के नम्बूतरी ब्राह्मण ही होते आए है । हिमालय क्षेत्र इन सार्वभौम और सार्वदेशिक सांस्कृतिक परम्पराओ का संरक्षण शिक्षा के द्वारा ही संभव है ।

शिक्षा की सबसे बडी आवश्यकता ऐसे योग्य और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापको का चयन है जो इस भू-भाग की सांस्कृतिक विरासत से अनभिज्ञ हों और देश की एकता तथा सांस्कृतिक अखण्डता की नीति के प्रति प्रतिबद्ध हो । बालको के लिए ऐसी पाठ्यपुस्तको का चयन हो जो अन्तर्राष्ट्रीयता के संदर्भ मे इस भू-भाग का एक राष्ट्र, एक देश और एक सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई के रूप में शिक्षण देकर उनकी भावनाओं और कलात्मक रुचि को प्ररित और पोषित करें ।

हिमालय क्षेत्र की बोल-चाल की भाषा खसकुरा है जो ब्रिटिश शासन के पहले पर्वतीया कही जाती थी । सन् 1815 ई. मे पूर्व मे आसाम की तिस्ता नदी से लेकर पश्चिम में सतलज नदी तक का पहाडी भू-भाग नेपाल के गोरखा शासकों के आधीन था । नेपाल युद्ध के बाद सिगौली की सन्धि के अन्तर्गत शारदा नदी नेपाल और ब्रिटिश-भारत की सीमा बनी । शारदा और सतलज का मध्यवर्ती भू-भाग वर्तमान कुमाऊँ-गढवाल तथा हिमाचल-प्रदेश पर बर्तानवी सत्ता स्थापित हुई । सिगौली की सन्धि जिन तीन भाषाओं मे लिखी गई वे थीं फारसी, अंग्रेजी और पर्वतीया । भारतीय भाषा सर्वेक्षण सर जार्ज ग्रियर्सन ने इस पर्वतीया को तीन प्रमुख पहाडी बोलियों और पचास से अधिक उप-भाषाओं में विभक्त करके मूल खशकुरा शब्द को ही भुला दिया ।

आज शिशु कक्षाओं के अक्षरबोध के जो चार्ट या प्राथमिक पुस्तकें या प्राइमरी शिक्षा विभागों ने बडे परिश्रम और शोध यत्न के बाद रचे हैं, वे हिमाचल प्रदेश के शिशु के स्थानीय परिवेश को ध्यान में रखकर नहीं बनाए गए हैं । उदाहरणार्थ – अ का उच्चारण सिखाने के लिए अनार या अमरूद का चित्र प्रदर्शित किया जाता है । आ के लिए आम, इ के लिए इमली और ई के लिए ईख । ये चारों वस्तुएँ पहाडी भू-भाग में नहीं होती । ईख को पहाडी में रिखु

(संस्कृत इक्षु) कहा जाता है और 'ई' अक्षर को 'ऋ' समझ बैठता है ।

पहाडी गाव का बालक जिस परिवेश मे पालित-पोषित होता है उसका यहा सक्षिप्त वर्णन करना असंगत न होगा । स्कूलो का शिक्षासत्र जुलाई से आरम्भ होता है । वर्षाकाल मे पर्वत पार्श्वों के वर्षाजल से निरन्तर गीले रहने से ढलवा भू-भाग मे दरारें पड जाती हैं । अधिक पानी पड़ा तो दरारो से पानी भीतर घुसकर **गिरिणितम्ब**[1] (भेल) को पहाड से पृथक कर देता है । **पहाड़ का उभरा नितम्ब भाग (भे ओल**[2]) उससे **अलग होकर नीचे खिसक**[3] जाता है । नीचे बसी-बस्तियाँ और सडके गिरे हुए मिटटी पत्थर से नष्ट हो जाती है ।

एक नदी घाटी को दूसरी नदी घाटी से जोडने वाली **उभरी जलविभाजक ऊर्घोतर भूमि**[4] यद्यपि कुछ ही मीटर चौडी होती है किन्तु वर्षाकाल मे उसे पार करके दूसरी घाटी मे नही पहुचा जाता । उभरी रेखा के समानान्तर **बहता पानी का बरसाती नाला**[5] अपने साथ आठ दस किलोग्राम भारी ककड-पत्थरो को बहाता बड़ी तीव्र गति से घाटी के मध्य बहती बडी नदी मे जा मिलता है । ये बहते हुए पत्थर कुछ आपस मे रगडकर और कुछ नदी के बडे पत्थरो से हुए प्रहारो से मैदान भू-भाग तक पहुँचते पहुँचते **चिकने और गोलमटोल पत्थर**[6] (गगलोड) हो जाते है ।

प्रति वर्ष 17 सितम्बर की **वर्षा ऋतु की समाप्ति की संक्रान्ति का दिन**[7] (खतड्डु) अगले छ मास तक चलने वाली जाडे की ऋतु का आरम्भ है । समुद्रतल से दो ढाई हजार मीटर ऊँचे स्थलो मे सुबह उठने पर **हाथ-पांव ठिठुरने लगते हैं** ।[8] खेतो और चारागाहो पर **जमे हुए पाले की**[9] (तुष्यार) सफेद चादर सी बिछी दिखलाई देती है जो दोपहर तक पिघलती है । एक महीने बाद जाडा और बढ जाता है । तालाबो का उभरा जल जमकर ठोस हो उन्हे खाकर **(पारदर्शक ठोस जल) से (ग्लेज्ड) मढ**[10] देता है और अधिक ठंड हुई तो बहती हुई नदियो और नालो की उभरी **मीटर दो मीटर मोटी परत जमकर ठोस हो जाती है** । **नीचे नदी का अपना प्रवाह रहता**[11] है । जो नदियां वर्षाकाल मे पार नही हो सकती थी उन पर हिम की पक्की समतल सडक बन जाती है ।

ऊँची हिमश्रेणियो की मध्यवर्ती हिमघाटियो मे **बर्फ के पिघलने का काम उसके भार के कारण**[12] होता है । सबसे नीचे कुछ पृथ्वी की स्वाभाविक गर्मी और कुछ ऊपर के बर्फ के भार से **हिमपिघलन क्रिया शुरू हो जाती है**[13] । फलत सारी घाटी चलायमान हो जाती है । ककड-पत्थर, मिटटी, चटटाने और सर्दियो से **जमी बर्फ की कई वर्ग किलोमीटर मे फैली धरती**[14] आगे खिसकने लगती है । यह खिसकना इतनी मन्द गति से होता है कि पिछले सौ वर्ष मे अल्मोडा जिले मे स्थित **पिंडर नदी की उदगम घाटी**[15] 80 किलोमीटर आगे बढी है । इस खिसकन से घाटी का जो स्थान उसने खाली छोडा वह ताजी पडी बर्फ के ढेर से **मुलायम हिम का ऐसा दल दल**[16] हो गया है जिसे कुशल पर्वतारोही अपने **हिमकुदाल**[17] **कील काटों**[18] और **सीढियो**[19] से भी पार नही कर सकता ।

जाडे मे रात में वर्षा न होने पर निचली घाटियो मे एकाएक ठंड इतनी अधिक बढ जाती है कि **ओस की बूदे जम**[20] जाती हैं । **हरी घास हीरो से जडी**[21] चमचमाती लगती है । **छतो पर से टपकती जलधारा**[22] (बन्धार) **जमकर चाँदी के लटकते तार सी**[23] सी हो जाती है । झरने का गिरता पानी जमकर पर्वत के ऊपर से पृथ्वी तक तना हुआ **हिम-कांच मण्डित रस्सों के पुल (झूला)**[24] सा लगता है । बदरीनाथ से 8 किलोमीटर आगे बसुधारा नामक झरना लगभग एक किलोमीटर ऊंचाई से कई धाराओं में सरस्वती नदी में गिरता है । यदि यात्री सवेरे ही वहाँ पहुँच जाएँ तो वे **ठोस बने झरनों के रस्सो के झूले**[26] को देख सकते हैं । दोपहर तक वे हिम-रस्से फिर तरल जल धाराओ से बदलकर हवा मे झूलने लगते है । कभी झरने की जलधारा यात्रीदल के ठीक सिर के ऊपर गिरती है तो कभी आधे किलोमीटर पहले ही यात्रीदल को भिगो देती है और कभी आधे किलोमीटर पीछे हट जाती है ।

सभी प्राचीन पहाडी गांव नदी घाटी मे पहाड की आधी ऊंचाई पर बसे है । गारे पत्थर के चिने **दुमजिले मकानों की पंक्ति**[26] (बाखली) मे मकान का दो बडे-बड़े कमरो का **निचला खण्ड**[27] (गोठ) होता है । उसके **आगे बरामदा**[28] होता है । उन दो कमरों की **छतो पर आडे पडे हुए बडे भराण**[29] (समूचे पेड के तनो से बने शहतीर) होते है । यह शहतीर छत के ऊपर के तल की दीवाल का आधार बनती है । इस भाति गोठ के दो बडे कमरे दुतल्ले मे चार कमरे बन जाते हैं । **बरामदे के बीच का भाग गोठमाल में खोली**[30] द्वार होता है, जिसपर पत्थर की सीढियो से दूसरे खण्ड (मजिले) मे प्रवेश किया जाता है । ऊपर की मजिल की छत दोनो ओर ढलवा होती है । **बीच का उठा भाग (धूरि)** जल

बल्लियों और **पलजुवो**[33] **पर दादर**[34] (चीड की खपच्चियो को **बिछाकर ऊपर से गारा-चूना) डालकर**[35] साधे जाते है । इस भाति छते जाडे के दिनो मे धूप सेकने के अतिरिक्त फल, सब्जी तथा बडी, मगोडी आदि सुखाने के काम आती है ।

गाँव के आगे नदी-घाटी की ओर ऐसे खेत होते है जिनमे **नदी से निकाली गई छोटी नहरों**[36] **(कुल्या)** से सिंचाई होती है । ये खेत **तलाऊँ**[37] कहलाते है । गाँव के घरो के आगे-पीछे सीढीदार खेतों मे **चैती धान**[38] और गेहूँ, जौ की **सूखी खेती**[39] होती है । **आडू, खुबानी**, नाशपाती, सेब, **दाडिम**[40], अखरोट के वृक्षगाँव की इसी उपजाऊ भूमि मे होते है । गाँव के पीछे **पहाड की बढ़ती ऊँचाई पर सरल (सोब्ल) वृक्षों का जंगल**[41] होता है । कुछ और ऊँचे चढें तो **बाज (ओक)**[42] जाति के वृक्षो का वन होता है । बढती ऊँचाई के साथ-साथ झक्करदार वृक्ष नुकीले और **आकाश को भेदती सूच्याकार आकृति**[43] लिए रहते है । बीच-बीच मे **बुरांश का सदाबहार वृक्ष**[44] होता है जिसके बडे-बडे लाल फूल जनवरी से मार्च तक सारे वन प्रान्त में अनोखी लालिमा छिटकाए रहते हैं । अधिक ऊँचाई पर ये वृक्ष लाल-बेजनी, नीले और अन्त मे श्वेत फूल देने लगते हैं । स्याही देवी जंगल मे जब बर्तानवी सेना सन् 1815 मे कुमाऊँ राज्य पर आक्रमण करने के लिए मोर्चा बांधे थी तो इन पुष्पों से इतनी प्रभावित हुई थी कि **इस पेड के पौधे**[45] इंगलैड के क्यू गार्डन को भेजे गए थे । यह बात कुछ वर्ष पहले भारतीय डाक-तार विभाग ने फूलो पर निकाले गए डाक-टिकटो को बिक्री के लिए जारी करते समय उनके विवरण मे व्यक्त की थी ।

तीन साढे तीन हजार मीटर ऊँचे पर्वतो पर बडे-बडे वृक्षो का सिलसिला समाप्त हो जाता है । एक या सवा मीटर ऊँची **बेर (बदरी) जाति की झाड़ियाँ**[49] ही वहाँ है । बदरीनाथ और केदारनाथ ऐसे ही क्षेत्र हैं जहाँ जलाने की लकडी दुलर्भ है । यहाँ खेती होती है किन्तु वर्ष मे एक बार एक **जई**[46], **कोदू**[47], **फाफर**[48] उगता है । चार हजार मीटर से अधिक ऊँचाई पर मध्य हिमालय की ऊँची श्रेणियो के नीचे अनेक स्थानो पर आधे या पौन किलोमीटर चौडे बीस-बाईस किलोमीटर **लम्बे मैदान (पयार या बुग्याल) है**[50] । घुमक्कड चरवाहों के लिए ये चरागाह का काम देते है । कुछ वर्ष पहले तक तिब्बती सीमान्त के व्यापारी अपने घोडो और लद्दू जानवरों को गर्मियों मे इन घास के मैदानो मे छोड देते थे और जाडे की ऋतु के आरम्भ होने पर फिर उनपर सामान लादकर निचली घाटियो मे चले जाते थे ।

हिम प्रदेश के उक्त विवरण मे खशकुरा या पहाडी बोलियो के अंकित 50 सामान्य शब्दों के अर्थ हिन्दी के पूरे वाक्य या वाक्यांश देकर व्यक्त किए गए हैं । खशकुरा भाषा के ये आंचलिक शब्द प्राक्आर्य प्राकृत के हैं । ये कुछ आर्य-भाषाओं के अलिरिक्त द्राविड भाषाओं में भी मिलते हैं । कुछ तो तनिक उच्चारण परिवर्तन के साथ ग्रीक भाषा में भी हैं, किन्तु हिन्दी पाठ्यपुस्तकों में भी इन्हें नही लिया गया है । हिमालय प्रदेश में जन्मे हिन्दी कवि और साहित्यकार कविवर गुमानी, सुमित्रानदन पन्त, शिवानी, शैलेश मटियानी आदि ने अपनी रचनाओ मे इनका उपयोग किया है किन्तु हिन्दी शब्द कोश मे भी ये नही मिलते । इसका परिणाम यह हुआ कि पर्वतीय बालक इन खशकुरा भाषा के शब्दो का प्रयोग करते हुए झिझकता है । उसे इनका प्रयोग अपनी हीनता का बोध कराता है । स्वयं खश शब्द अशिक्षा और असभ्यता का प्रतीक बन गया है । खश ध्वनि से रामचरित मानस की यह उक्ति उसे याद हो आती है –

स्वपच, सबर, खस, जमन, जड
पामर, कोल, किरात ।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात

उपरोक्त 50 वाक्यांशो और शब्दो के प्रथम 25 के अंग्रेजी पर्याय . Over–hanging precipice, ravine, boulder, equinox, frostbite, hoar frost, glacified, snow–ice, snow–scape, icefloe, thaw, glacier, avalance, moraine, ice–axe, ski, snow–pearl, icle उपलब्ध है । अगले 15 प्रयोगो के अंग्रेजी रूपान्तर सुलभ नही है । वनस्पतियो और वृक्षों के 41 से 49 तक के Oak, Rododendron, juniper, elm, conifer आदि जाति नाम अंग्रेजी में उपलब्ध है । किन्तु एक ही जाति के पृथक वृक्षों के नाम उपलब्ध नहीं है । आलूचा, काफल, हिसालु आदि सभी berry कहे जाते है । नम्बर 50 alpine nedow का हिन्दी पर्याय नही मिलता ।

उन पाठ्यपुस्तको मे जो पर्वतीय नवसाक्षरों के लिए रची जाएं उक्त प्रयोगों के पर्वतीया (खशकुरा) शब्दो को लेना एक ओर हिन्दी शब्द सम्पदा की वृद्धि करेगा और दूसरी ओर अनपढ के साक्षर होने मे सहायक होगा । □□

लोकोक्तियों में विज्ञान

☐ इक़बाल मुहिउद्दीन

कृषि और मौसम संबंधित लोकोक्तियाँ किसानों के सदियो के अनुभवो का निचोड़ है जो पीढियो से होती हुई हम तक पहुँची है । जिन में वैज्ञानिक महत्व कूट-कूट कर भरा है ।

यह कृषि और मौसम संबंधित लोकोक्तियाँ जो बहुत पुरानी है, किसानो के जातीय अनुभवो पर आधारित हैं । जिन्हे सोलहवी शताब्दी के प्रसिद्ध कवियो – घाघ, भडरी और रहीम इत्यादि ने कवता के रूप में परिवर्तित करके लोकवाणी बनाया ।

हमारे यहाँ की 80 प्रतिशत से भी अधिक आबादी गाँव मे रहती है और अधिकतर वह खेतीबारी पर ही निर्भर है तथा खेती का बडा भाग मानसून (वर्षा) पर निर्भर है । किसान भाई अपने अनुभवो के आधार पर, हवाओ के रुख को देख कर और बादलो के भिन्न-भिन्न आकार को देख कर यह बता सकते है कि किन हवाओ से और किन बादलो से वर्षा होगी । उदाहरणार्थ इस लोकोक्ति से प्रतीत होता है –

करिया बादर जिव डरवाये ।
भूरे बादर पानी लाये ।।

यह ठीक है कि वैज्ञानिक युग मे जब कि उपग्रहो के द्वारा खेती, गृहस्थी मे और मौसम पूर्वानुमान मे बडी सहायता मिल रही है, परन्तु किसान भाइयो के अपने व्यक्तिगत अनुभवो ने खेती मे चार चाँद लगा दिये है । सदियो की बुद्धिमत्ता विज्ञान के रूप मे इन लोकोक्तियो में भरी हुई है जिन को आज भी हमारे किसान भाई सीने से लगाये हुए है । उन को ठीक समय पर सिंचाई, नराई, खाद और बीज की मात्रा के ज्ञान की वजह से उन की खेती मे दूना लाभ होता है ।

भारत मे खेती का बडा आर्थिक महत्व है । कृषि ही ऐसा उद्योग है जो यहां की अधिकतर आबादी को रोटी रोजी देने का जरिया है । इसीलिए विज्ञान से भरी इन लोकोक्तियो की जानकारी उन किसान भाईयो को देना बहुत आवश्यक है जो इनसे अनभिज्ञ है ।

मौसम पूर्वानुमान लोकोक्तियाँ

कलसा पानी गरम होए, चिडियाँ नहावै धूर ।
अंडा ले चीटी चले तो बरखा भरपूर ।।

गुरू, शुक्र की बादरी रहे सनिश्चर छाये ।
कहे घाघ सुन घाघनी बिन बरसे ना जाये ।।

उत्तर चमके बीजुरी, पुर्वा बहनो बाओ ।
घाघ कहे भडडर से बरघा भीतर लाओ ।।

सावन पछुआ भादो पुरवा
आसिन बहे ईसान ।
कातिक कनता सीक न डोले
गाँजे सबहि किसान ।।

दिन के बद्दर, रात निबद्दर
पुरवा बहे झब्बर झब्बर ।
घाघ कहे कुछ होनी होई
कुआँ का पानी धोबी धोई ।।

चमके पच्छिम उत्तर ओर ।
तब जानो पानी है जोर ।।

वर्षा के जो आसार आज के वैज्ञानिक कम्प्यूटर द्वारा बताते है वही सब कुछ किसान अपने अनुभवो के आधार पर ठीक-ठाक बताते है ।

पौधों की बीमारी

किसी खास मौसम मे किस दिशा की हवा चलेगी और उस का कृषि पर क्या प्रभाव पडेगा यह जानकारी भी हमारे किसान भाइयो को अपने अनुभवो के आधार पर रहती है, जिस को ग्रामीण लोकोक्तियों मे प्रकट किया गया है । पौधो को कब और कौन सा कीडा ख़राब कर देगा । इसकी जानकारी भी लोकोक्तियो मे दी गई है ।

पौष माघ बहे पुरवाई ।
तब सरसो को माहुन खाई ।।

गेहूँ गेरुई, गंधी धान ।
बिना अन्न के मरा किसान ।।

नीचे ओद ऊपर बदराई ।
घाघ कहें गेरुई अब आई ।।

फागुन मास बहे पुरवाई ।
तब गेहूँ मे गेरुई आई ।।

चना मा सरदी बहुत समाई ।
ता को जान गधैला खाई ।।

जेकरे ऊँखडी लगे लोहाई ।
तेहि पर आवै बडी तबाही ।।

सिंचाई, निराई, मेहनत-मजूरी, नकद फसलें, मिली-जुली खेती और फसलों की कटाई

समय पर सिंचाई, निराई और मेहनत से देखभाल की जाए तो खेती बहुत ही अच्छी हो सकती है । नकद-फसले किसान बो कर बहुत लाभ उठा सकता है । फसलों की कटाई कब होनी चाहिए, इन सब पर जो लोकोक्तियाँ है उनका बहुत ही वैज्ञानिक महत्व है ।

सिंचाई कब होनी चाहिए, हमारे किसान भाई अपने अनुभव के आधार पर जानते है –

गेहूँ आया बाल ।
खेत बनाओ ताल ।।

काले फूल न पाया पानी ।
धान मरा अध बीच जवानी ।।

खोद के जामा लाये ।
सीच के बाधा लाये ।।

जो जल षाढ़ लगते ही बरसे ।
नाज नियार बिन कोई न तरसे ।।

खरबूजा चाहे धूप को और आम चाहे मेह ।
नारी चाहे जोर को और बालक चाहे नेह ।।

खेतो की नराई बहुत जरूरी होती है । खर पतवार को जब तक साफ नही किया जायेगा अच्छी खेती की आशा करना बेकार है ।

दो पती क्यों न निराये ।
अब बीनत क्यों पछताये ।।

खेत बिगाडे खरतुआ और सभा बिगाडे दूत ।
खेतन मा खुरपी करे ता से भागे भूत ।।

खेती में मेहनत बहुत जरूरी चीज है । बिना मेहनत के खेती हो ही नही सकती । जो लोग कृषि मे मेहनत से जी चुराते है उनको नुकसान ही नुकसान होता है । ग्रामीण लोकोक्तियाँ इस बात को कैसे प्रकट करती है –

सावन में ससुरारी गये, पूस मे खाये पूआ ।
चैत मे छैला पूछत डोले तोहरे कितना हुआ ।।

कस के जोते, कस के बोए, कस के दे कियारी ।
बिस्सा मने न जाय तो घाघ को दीहे गारी ।।

तीन पानी तेरह कोड ।
तब देखो ऊँखी का पेड ।।

खेती, पाती, बीनती औ घोडे का तग ।
अपने हाथ सँवारिये, चहे लाख लोग हो संग ।।

चीना जी का लेना, सोलह पानी देना
बीस-बीस के बच्छा हारे, हारे बलम नगीना
एको बार बहे पुरवाई, लेना है न देना

नकद-फसलों के बोने से किसान को बहुत लाभ होता है । ग्रामीण लोकोक्तियाँ इसके बारे में कहती है –

या तो बोवो कपास और ईख ।
या तो खाओ माँग के भीख ।।

जिसको हो टोटा माल का ।
वह ईख बोवे असोजका ।।

मिलीजुली खेती करने से किसान को बहुत लाभ हो सकता है ।

खेती करे गाजा बाजा ।
जौने लागे तौने राजा ।।

फसलो की कटाई कब होनी चाहिए । इस बारे में ग्रामीण लोकोक्ति कहती है –

दो दिन पछुआ, छे पुरवाई
गेहूँ जौ को लीहो दँवाई ।
ताके बाद ओसावे जो
भूसा दाना अलगे हो ।।

बैलों की किस्में और उन की ताक़त

आज भी हमारे देश के बहुत गाँवो मे खेती हल बैल के द्वारा ही की जाती है । कुछ गाँवों मे ट्रैक्टर के जरिये जमीन को जोता जाता है । अत: बैल जो किसानो की बहुमूल्य संपदा है, खेतों के लिए बलवान होना बहुत ज़रूरी है । किसानों को अपने अनुभवो के आधार पर यह मालूम होता है कि कौन सा बैल खेती के लिए ठीक होता है और कौन सा नही । ग्रामीण लोकोक्तियाँ बैलो की किस्मे और उनकी ताकत के बारे मे कहती है –

नाटा खोटा बेच के चार धुरन्दर लेहू ।
अपना काम निकार के औरहू मॅगनी देहू ।।

मैनी बैल बडा बलवान ।
तनिक मा करिहै ठाढे कान ।।

बडसिंघा जिन लीजो मोल ।
कुआँ मा डारो रुपया खोल ।।

नीला कंधा बैगन खुरा ।
कबहूँ न निकलै कन्ता बुरा ।।

ना मोहे नाधो उलिया कुलिया
ना मोहे जोतो दाये ।
बीस बरस तक करूं वरदई
जो ना मिलिहौ गाये ।।

खाद संबंधित लोकोक्तियाँ

गॉव के रहने वाले अधिकाश किसानो को खेतो मे खाद डालने का पूरा अनुभव होता है । वे जानते है कि खाद डालने से खेत उपजाऊ हो जाते है और फसले बहुत अच्छी पैदा होती है । खाद संबंधित लोकोक्तियाँ कहती हैं –

खादे कूडा ना टरे, करम लिखा टरि जाये ।
रहिमन कहत बनाये के देखो खाद बनाये ।।

सनई बोवे, सनई काटे, सनई सारे खेत मा झार ।
उलटे पलटे दोनों जोते, वही लीजे गल्ला का झार ।।

फसल-चक्र संबंधित लोकोक्तियाँ

ज़मीन को उपजाऊ रखने के लिये खेती मे फसल-चक्र करना आवश्यक है । बार-बार एक ही अनाज को उसी भूमि पर बोने से भूमि की शक्ति कम हो जाती है । इसीलिए बदल-बदल कर फसले उसी जमीन पर बोई जाती है । ग्रामीण लोकोक्तियाँ इस बात को ऐसे प्रकट करती है –

साठी मे साठी करे और बाडी मे बाडी ।
ऊँख मे जो धान बोवै, फूँको वा की दाढी ।।

बाडी मे बाडी करै और ईख मे ईख ।
वे घर यो ही जायेगे, सुने पराई सीख ।।

बीज की मात्रा प्रति बीघा

एक बीघा मे कितना बीज बोना चाहिए इस के लिए निम्नांकित लोकोक्तियो मे बताया गया है –

जौ गेहूँ बोवे तीन पसेर
मटर को बीघा तीसे सेर
बोवे चना पसेरी तीन
तीन सेर बीघा जोनहरी कीन
दो सेर मोथी अरहर मास
डेढ सेर बीघा बीज कपास
पाँच पसेरी बीघा धान
तीन पसेरी जडहन मान
सवा सेर बीघा सावाँ मान
तिल्ली सरसो अँजुरी जान

बररे कोदो सेर बोआवो
डेढ सेर बीघा तीसी नाओ
डेढ सेर बजरा बजरी सावाँ
कोदो काकुन सवैय्या बोवा
जब यही विधि से बोवे किसान
दूने लाभ की खेती जान ।।

बोआई-क्रम संबंधित लोकोक्तियाँ

भारतीय किसान अपने अनुभवो के आधार पर जानते है कि खेत मे बीज कितनी दूरी पर बोना चाहिये । इस सिलसिले मे जो लोकोक्तियाँ प्रसिद्व है वे विज्ञान से भरी हुई है –

कदम कदम पर बाजरा
कदौनी ज्वार ।
ऐस ` जो कोई
घर घर भर कोठार ।।

पहिले ककडी, पीछे धान ।
उस को कहिये पूर किसान ।।

सना घना बन बेगडा
मेढक फन्दे ज्वार
पैग पैग पर बाजरा
करै दरिद्दर पार

इन सबसे इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि किसानो के सैकडो वर्षो के अनुभवो के आधार पर यह लोकोक्तियाँ वैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल ठीक व उपयोगी है । □□

समस्या कैसे हल हुई

□ भँवर नागदा

पर्यावरण मनुष्य का प्रथम मित्र एवं शिक्षक है । वातावरण मे मिलने वाले अनुभवो के आधार पर व्यक्ति अनेक बातें सीखता है और अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है । बालक प्रकृति से आनन्द लेते है । बालक की वृद्धि एवं विकास के लिये वातावरण प्रथम एवं प्रमुख तथ्य है । अत: यह उचित समय है । बालक यह समझने लग जाये कि वास्तव में पर्यावरण का कितना महत्व है, साथ ही जीवन का अभिन्न अंग भी । जिस वातावरण मे हम रह रहे है, उसके प्रति हमारी क्या जिम्मेदारियाँ है ? यह आज के प्रत्येक बालक को परिचित कराना होगा, क्योकि बढती हुई जनसंख्या और तकनीकी परिवर्तन के लिये एक अत्यधिक समंजनीय और उदार मस्तिष्क वाले शिक्षक की आवश्यकता महसूस करती है ।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमे वर्तमान के पाठ्यक्रम में परिवर्तन लाना होगा । पर्यावरण को आधार मानकर प्रत्येक विषय का ज्ञान कराना होगा ।

यही सोचकर लेखक ने कक्षा-4 के विज्ञान विषय के अन्तर्गत "पदार्थ और उसके गुण" पाठ का निर्माण पर्यावरण को आधार मानकर किया और उसी के अनुरूप उसकी क्रियान्विति की । इस अध्ययन की प्रमुख विशेषता यह रही कि इसमे छात्र-अध्यापक दोनों ही क्रियाशील रहते हैं । इसमें बालक स्वयं करके सीखता है और स्वयं निष्कर्ष निकालता है । इससे उसकी विश्वसनीयता बढ जाती है । इस प्रकार उसका सीखा हुआ ज्ञान स्थायी होता है । अध्यापक के प्रति उसकी सहानुभूति बढती है । वह पाठ में बराबर रुचि लेता है । पाठ निम्न हैं –

पदार्थ और उसके गुण

हमारे चारों ओर कई प्रकार के पदार्थ दिखाई दे रहे हैं । पदार्थों की अपनी कुछ विशेषताएँ एवं आकृतियाँ होती है, जिसके कारण हम उन्हें आसानी से पहचान सकते हैं ।

गेहूँ और चावल की अपनी विशेष आकृति होती है, जिसके कारण उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है । इसी प्रकार कुछ पदार्थ अपने रंग विशेष के कारण पहचान लिये जाते हैं । जैसे कोयला, स्याही, काजल आदि ।

क्या तुम बता सकते हो कि पदार्थों को रंगों के अनुसार कितने भागों में बांटा जा सकता है ?

आओ जानकारी करें

तुमने विभिन्न पदार्थों को देखा होगा । इन सभी पदार्थों को हम साधारणतया 2 भागों में बाँट सकते है । एक वे पदार्थ जो रंगीन होते है और दूसरे पदार्थ वे होते है जो रंगहीन होते है या जिनका विशेष रंग नहीं होता ।

अब अपने दैनिक जीवन में काम में लाये जाने वाले पदार्थों की आवश्यकता अनुसार सूची बनाओ और सारणी के अनुसार उन्हें छाँट कर लिखो –

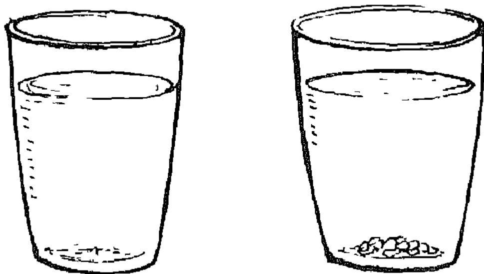
क्र. सं.	रंगीन पदार्थ	रंगहीन पदार्थ

इस सारणी से तुमने यह पाया कि पानी एवं हवा का कोई रंग नही होता । अत: पानी एवं हवा रंगहीन पदार्थ है । इसी प्रकार स्याही, काजल, कोयला, शक्कर, नमक आदि पदार्थ रंगीन हैं । इन पदार्थों की निश्चित आकृतियाँ एवं गुण विद्यमान है ।

क्या तुमने कभी सोचा कि पदार्थों के क्या-क्या गुण होते हैं ?

आओ पता लगाएँ

एक गिलास में पानी लेकर इन पदार्थों को बारी-बारी से डालकर हिलाओ । देखो, अब क्या प्रतिक्रिया होती है । कौन सा पदार्थ जल मे घुल जाता है और कौन सा नहीं ।



प्रत्येक क्रिया को बड़े ध्यान से देखो और सारणी में लिखो ।

क्र. सं.	नाम पदार्थ	पानी में घुल जाता	पानी में नहीं घुलता
1.	शक्कर		
2.	खड़िया		
3.	कोयला बुरा		
4.	हवा		
5.	तेल		
6.	पिसी हुई मिर्च		
7.	आटा		

तुमने पाया कि शक्कर, स्प्रिट, हवा, नमक, पानी में घुल जाता है तो खड़िया, मिर्च, कोयला, आटा, तेल पानी में नहीं घुलते हैं ।

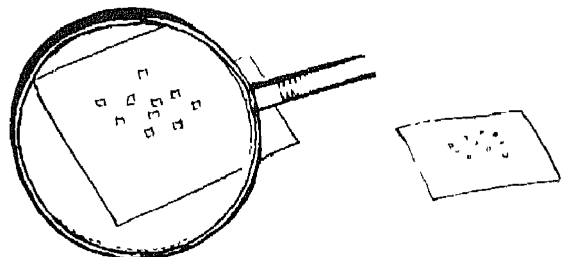
जो पदार्थ पानी में घुल जते हैं उन्हे हम घुलनशील पदार्थ कहते हैं । इसी प्रकार जो पदार्थ पानी मे नहीं घुलते, उन्हें हम अघुलनशील पदार्थ कहते हैं ।

तुमने देखा होगा कि नमक, शक्कर, खड़िया, तीनों का रंग एक सा है । फिर नमक घुलनशील है ; तो खड़िया नहीं ।

क्या तुमने कभी सोचा, ऐसा क्यों होता है ?

आओ पता लगाएँ

नमक और खड़िया के कणों को लेकर आवर्धन लैंस से बड़े ध्यानपूर्वक देखो ।



लैंस से देखने पर ज्ञात पर ज्ञात होगा कि नमक एवं शक्कर के कणो की आकृति निश्चित होती है । किन्तु चूने (खडिया) कणो की कोई स्थिर आकृति नही है ।

जिन पदार्थों के कणों की विशेष प्रकार की आकृति होती है, उन्हें हम दानेदार (क्रिस्टल) पदार्थ कहते है । इसी प्रकार वे पदार्थ जिनके कणो की विशेष आकृति नही होती वे पदार्थ बिना दानेदार (अक्रिस्टल) कहलाते है ।

इस प्रकार हम देखते है कि उपरोक्त सभी पदार्थ ठोस पदार्थ की श्रेणी मे आते है । क्या तुम ठोस पदार्थों के गुण धर्म के बारे मे बता सकते हो ?

आओ पता लगाएँ

(क्रियात्मक कार्य)

(1) तुम एक हाथ में पत्थर और दूसरे हाथ मे ईंट का टुकडा लेकर एक की दूसरे पर चोट मारो ।

(2) एक लकड़ी लेकर उस पर पत्थर से चोट मारो ।

(3) लोहे व एल्युमिनीयम की छड़ी लेकर एक-दूसरे पर चोट मारो ।

(4) पत्थर का कोयला लेकर घीया-पत्थर पर चोट मारो ।

ऊपर किये गये कार्यों के आधार पर तालिका भरो –

क्र	नाम पदार्थ	परिणाम जो देखा	कठोर नरम
1.	पत्थर-ईंट		
2.	लकडी-पत्थर		
3.	लोहा-एल्युमिनियम		
4.	घीया पत्थर-पत्थर का कोयला		

अब तुम समझ गये कि जो पदार्थ कठोर होते है, वे नरम पदार्थों पर खरोच का निशान बना देते है ।

अत: स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों की कठोरता भी भिन्न-भिन्न होती है । कई बार तुमने देखा होगा कि जब हाथ से चीनी या काँच के बर्तन हाथ से छूटकर जमीन पर गिरजाते हैं तो वे टूट-फूट या बिखर जाते हैं, जो किसी काम के नही रहते ।

क्या तुम बता सकते हो कि ऐसे पदार्थों को हम क्या कहते है ?

आओ चर्चा करें

ऐसे पदार्थ जो गिरने से टूट कर बिखर जाते है या उनको और तोडा जाए तो वे बिखरते चले जाते है । वह पदार्थ भगुर कहलाते हैं । इस बिखरने के गुण को हम भंगुरता कहते है । जैसे-काँच, चीनी-मिट्टी के बर्तन, कोयला, ईंट, पत्थर आदि ।

तुमने अपने गाँव या शहर के आस-पास गाडी लिये लुहारों को हथौडे से लोहे को पीटते हुए देखा होगा । शहरो मे सुनारो को दुकानों पर आभूषण बनाते समय हथौडे से धातुओं को पीटते हुए देखा होगा ।

क्या तुमने कभी सोचा कि ये धातुओं को क्यो पीटते है ?

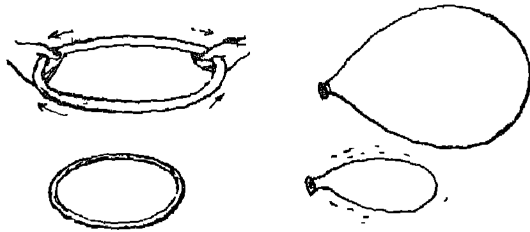
आओ चर्चा करें

सुनार गहने बनाने व लुहार लोहे के औजार बनाने के लिये धातु को एक विशेष आकार (रूप) देने के लिये धातु को हथौडे मे पीटते हैं ।

जो पदार्थ कूटने पर फैलकर चादर के समान बन जाते है । आघात वर्द्धनीय कहलाते हैं, जैसे – लोहा, सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, सीसा, जस्ता आदि ।

तुमने बिजली के खम्भो पर तार लगाते एवं मकानों मे लोहे के सरियो का प्रयोग करते देखा होगा । जिस धातु के तार (सरिये) बनाने होते है, उन्हें पहले पीटकर या पिघलाकर, साँचे में ढालकर पतले तारो मे बदलते है ऐसे पदार्थ जिनके तार खीचे जा सकते हैं । वे तन्य पदार्थ कहलाते हैं । सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, एल्युमिनीयम आदि तन्य पदार्थ है । सीसा व जस्ता तन्य पदार्थ नही है ।

साइकिल के ट्यूब का एक टुकडा लेकर, उसे खीचकर छोड दो । और एक फुग्गे में हवा भर कर धीरे-धीरे उसकी हवा निकलने दो । इसी प्रकार रबर की रिंग लेकर खीचकर छोड दो ।



तुम देखोगे कि खीचने या हवा भरने पर रबर की लम्बाई बढ़ी तथा छोड़ने पर या हवा निकालने पर रबर पुनः अपनी पूर्व की स्थिति मे आ गई ।

क्या तुमने कभी सोचा कि पदार्थ के इस गुण को क्या कहते हैं ?

आओ चर्चा करें

ऐसे पदार्थ जो खीचने पर बढ जाते हैं तथा छोडने पर वापस अपनी पूर्व की अवस्था में आ जाते हैं । पदार्थ के इस गुण को प्रत्यास्थ कहते हैं ।

तुमने मकानों की खिड़कियों में साधारण धारीदार या रंगीन काँच लगे हुए देखे होंगे ।

क्या तुम बता सकते हो कि खिडकियों में काँच क्यों लगाये जाते हैं ?

आओ जानकारी करें

खिडकियाँ कमरे में हवा एवं प्रकाश आने के लिये लगाई जाती है । कमरे में अच्छा प्रकाश रहे । इसके लिये खिड़कियों के दरवाजों में काँच लगाये जाते हैं, जिससे प्रकाश काँच के दूसरी ओर आर-पार निकल सके । जिन खिडकियों के दरवाजों में केवल लकडी लगी होती है उस कमरे मे प्रकाश पहुँच नहीं पाता, जिससे कमरे मे अंधेरा रहता है ।

क्या तुम बता सकते हो कि जिसके आर-पार दिखाई दे या प्रकाश गुजर सकता हो, ऐसे पदार्थ क्या कहलाते हैं ?

आओ चर्चा करें

ऐसे पदार्थ जिनके आर-पार स्पष्ट दिखाई दे या प्रकाश गुजर सकता हो । ऐसे पदार्थ पारदर्शक कहलाते हैं, इसीलिए काँच, हवा, पानी पारदर्शक हैं ।

जिनके आर-पार देखने पर दूसरी ओर की वस्तुएँ धुंधली दिखाई देती है, वे पदार्थ पारभासी कहलाते हैं, जैसे – तेल लगा कागज, घिसा हुआ काँच आदि ।

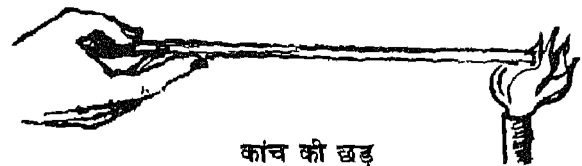
इसी प्रकार जिनके आर-पार बिलकुल नहीं दिखाई पड़ता हो, वे पदार्थ अपारदर्शक कहलाते हैं, जैसे – गत्ता, दीवार, लकडी, पत्थर आदि ।

तुमने धूप में रखी हुई धातुओं की वस्तुओ को छुआ होगा, जैसे – बर्तन, लोहे की छड आदि । और पाया होगा कि ये वस्तुएँ इतनी गर्म हो जाती हैं कि जिन्हें हम हाथ से छू तक नहीं सकते ।

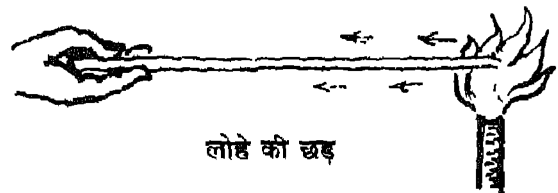
क्या तुम बता सकते हो कि धातु की वस्तुएँ धूप में इतनी गर्म क्यों हो जाती हैं, और अन्य पदार्थ क्यों नहीं ?

आओ पता लगाएँ

एक लोहे की छड़ और एक काँच की छड़ लेकर एक सिरे से पकड रखो तथा दूसरे सिरे को गर्म करो ।



कांच की छड़



लोहे की छड़

कुछ समय पश्चात् हम देखेंगे कि लोहे की छड एक सिरे से गर्म होती हुई दूसरे सिरे तक आ गयी, और अब हम हाथ से नहीं पकड़ सकते हैं । जबकि काँच की छड का दूसरा सिरा, जिसे हमने पकड़ रखा है बिलकुल गर्म नहीं हुआ ।

अत: स्पष्ट है कि कुछ पदार्थ ऊष्मा के चालक हैं । इन पदार्थों में ऊष्मा एक सिरे से दूसरे सिरे तक सहज ही जा सकती है जैसे – लोहा, ताँबा, चाँदी, पीतल, एल्युमिनियम आदि ।

कुछ पदार्थ ऊष्मा के कुचालक हैं । ऐसे पदार्थों में ऊष्मा एक सिरे से दूसरे सिरे तक जल्दी नहीं जा सकती है जैसे – कॉच, लकडी आदि ।

इसलिये तुमने देखा होगा कि अगीठी को पकडने के लिए हैण्डल लकडी के बनाये जाते है ।

तुमने सोना-चाँदी के आभूषण चमकते देखे होंगे । क्या तुम बता सकते हो कि ये क्यों चमकते हैं ?

आओ चर्चा करें

जब हम स्टील के बर्तन धोकर धूप मे सुखाते हैं तो वे सूर्य के प्रकाश में चमकते दिखाई देते हैं ।

चमक धातु का अपना विशेष गुण है । जब कभी भी धातु की छड को तोडा जाय तो टूटे हुए स्थान पर धातु के कण चमकते हुए दिखाई देंगे । जैसे – दर्पण, सोना, चाँदी आदि ।

इसीलिये सोना, चाँदी के गहने चमकते हैं, जबकि लकडी, सीसे व जस्ते में ऐसी चमक नहीं होती । पारा भी चमकने वाला पदार्थ है । □□

दृष्टिहीन बच्चों की सामान्य स्कूलों में शिक्षा

☐ डा. एन. के. जंगीरा

हमारे देश में दृष्टिहीन बच्चों की सख्या काफी बडी है । बिलकुल सही आकडे तो उपलब्ध नही है, परन्तु राष्ट्रीय परिमाप सगठन द्वारा अनुमानित आंकड़ों के आधार पर 15 साल की आयु तक के बच्चों की संख्या लगभग 3–6 लाख आंकी गयी है । ये सब बच्चे भी सामान्य बच्चों की भांति शिक्षा पाने के अधिकारी हैं । जिस प्रकार सामान्य बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना हमारा कर्तव्य है, उसी प्रकार इन बच्चों के लिए भी उपयुक्त शिक्षा का प्रबन्ध करना हमारा कर्तव्य बनता है । आप सब जानते हैं कि हमारे संविधान मे भी इस सुविधा का प्रयोजन किया गया है । आइये, जरा सोचे कि ऐसे बच्चों की शिक्षा का हमारे यहां क्या प्रबन्ध है और हम इसको किस प्रकार और अधिक प्रभावशाली बना सकते है ।

हमारे देश के दृष्टिहीन बच्चों के लिए विशेष रूप से बने लगभग 250 स्कूलो मे लगभग 15000 बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे है । यह दृष्टिहीन बच्चों का लगभग 2 प्रतिशत है तो फिर और बच्चो की शिक्षा का क्या होगा ? क्या वे शिक्षा सुविधा से वंचित रहेगे ? आखिर कब तक ? क्या यह मानवता के अधिकार की अवहेलना नही होगी ? ये प्रश्न तीखे और उत्तर जरा खट्टे-मीठे है । इन बच्चों के लिए स्कूल अधिकतर नगरो मे स्थापित है जबकि आबादी के अनुसार लगभग 80 प्रतिशत बच्चे ग्रामीण क्षेत्रो मे रहते है । दूसरे ऐसे विशेष स्कूलों के लिए काफी धन की आवश्यकता होती और सीमित साधनो के कारण बहुत तेजी से नये स्कूलो का खोलना बहुत कठिन है । अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे स्कूल अनिवार्य हैं ? क्या इन बच्चो की शिक्षा विशेष स्कूलो मे ही हो सकती है ? क्या ऐसा नही हो सकता कि सामान्य स्कूलों मे कुछ अधिक सुविधा उपलब्ध करा के इन बच्चो की शिक्षा का प्रबन्ध किया जा सके ? वर्तमान विचारधारा के अनुसार यह न केवल संभव, परन्तु वांछनीय भी माना जाता है । कारण साधारण है । इन बच्चों को सामान्य बच्चो के साथ शिक्षा प्रदान करने से इनका अन्य बच्चों के साथ-साथ समाजीकरण भी होता रहता है । दोनों के बीच सामाजिक फांसला पट जाता है । एक दूसरे के प्रति विश्वास जागता है जो दोनों प्रकार के बच्चों के अलग-अलग स्कूल में पढ़ने से नहीं होता । साथ ही ये बच्चे माता-पिता के साथ रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । भावनात्मक विकास भी सही दिशा मे होता है । इसी कारण भारत सरकार की वर्तमान नीति के अनुसार ऐसे बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध सामान्य स्कूलो मे किया जा रहा है । ऐसे बच्चो को पढाने के लिए उपयुक्त शिक्षण सामग्री जुटाकर तथा अध्यापको को इन बच्चों की शिक्षण सम्बन्धी जानकारी करा कर, दृष्टिहीन बच्चों की शिक्षा का आयोजन सामान्य स्कूलों में किया जा रहा है । अब देखना यह है कि इन बच्चों की शिक्षा का आयोजन प्रभावकारी ढंग से किस प्रकार किया जा सकता है ।

दृष्टिहीन बच्चों के लिए सामान्य बच्चों के साथ सामान्य कक्षा मे शिक्षण का प्रयोजन करने के लिए अधिगम कार्य का विश्लेषण अध्यापक को तनिक भिन्न प्रकार से करना पडेगा । इस विश्लेषण का मुख्य ध्येय होगा दृष्टिहीन बच्चो की शिक्षण सम्बन्धी

आवश्यकता अनुसार शिक्षण विधि का समायोजन अधिगम कार्य विश्लेषण के निम्न अंग होने चाहिए –

(क) प्रत्यय जो किसी कक्षा के बच्चों को पढ़ाना है उसके गुण कक्षा के स्तर अनुसार ।

(ख) अधिगम अनुभव जो इस प्रत्यय के विभिन्न पहलुओं को सामान्य बच्चों के साथ ही, कक्षा के दृष्टिहीन बच्चों को उपलब्ध कराए जा सकते हैं ।

(ग) अधिगम अनुभव जो इस प्रत्यय के विभिन्न पहलुओं को दृष्टिहीन बच्चों को पढ़ाने के लिए सामान्य बच्चों के लिए अधिगम अनुभवों से अधिक सामान्य कक्षा में ही उपलब्ध कराए जा सकते हैं ।

(घ) अधिगम अनुभव जो दृष्टिहीन बच्चो को सामान्य कक्षा से बाहर संसाधन कक्ष (Resource Room) मे उपलब्ध कराने हैं ।

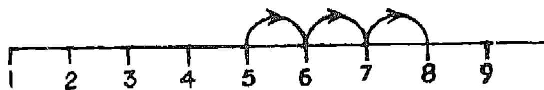
आइये एक उदाहरण लेकर देखें कि यह कार्य किस प्रकार किया जा सकता है । मान लीजिये कि हम बच्चों को संख्या रेखा के प्रयोग द्वारा 1 से 9 तक संख्याओं का बिना हासिल का जोड़ तथा घटाना सिखाते हैं । इसके लिए दृष्टिहीन बच्चों की अधिगम सम्बन्धी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अधिगम अनुभवो का प्रयोजन किया जा सकता है ।

अधिगम रेखा सामान्य बच्चों के लिए श्यामपट तथा अभ्यास पुस्तिका में होगी तथा दृष्टिहीन बच्चों के लिए समुभृत्त (embossed) संख्या रेखा होगी । यह भी उसी प्रकार रेखा संख्या पर संख्या 1 से 9 तक अंकित होगी । अध्यापक पाठ के प्रारम्भ में ही निर्देश दे देगे । दृष्टिहीन बच्चों को कागज पर धागा चिपका या रेगमाल से खुरदरी बनाई रेखा संख्या दे देंगे कि जैसे-जैसे शिक्षक बोले वे रेखा संख्या पर उंगली फेर कर अधिगम कार्य सम्बन्धी प्रक्रिया करते जाएं । सामान्य बच्चों को अपनी अभ्यास-पुस्तिका तथा श्यामपट पर रेखा संख्या सम्बन्धी कार्य करने के लिए कहा जाएगा । जैसे –

अध्यापक	रेखा संख्या पर अंकों की पहिचान करो, कि कौन-कौन से अंक हैं ।
सा. छात्र	1 से 9 तक ।
अध्यापक (दृष्टिहीन बच्चे को नाम द्वारा सम्बोधित करते हुए)	अनिल आपने रेखा संख्या पर 1 से 9 तक अंक पहिचान लिए ।
अनिल	जी हाँ ।
अध्यापक	रेखा संख्या के प्रयोग से 4 और 3 जोडो । सर्वप्रथम क्या करेंगे ?
सा. छात्र	रेखा संख्या पर 4 की संख्या को अंकित किया ।
अध्यापक	सब छात्र रेखा संख्या पर 4 का अंक कहां है ?
छात्र	(4 की ओर संकेत करते हुए) यहां है ।
अध्यापक	अनिल आपने संख्या रेखा पर 4 के अंक पर उंगली रख ली ?
अनिल	जी हाँ ।
अध्यापक	अब क्या करेंगे ?
अनिल	4 से आगे संख्या रेखा पर 3 अंक और गिनेंगे ।
अध्यापक	शाबास ! गिनो छात्रो
छात्र	पांच, छः, सात
अध्यापक	कहां तक पहुँचे ।
छात्र	सात तक ।
अध्यापक	अनिल ।
अनिल	सात तक ।
अध्यापक	इस प्रकार 4 + 3 = 7

इसी प्रकार और 2–3 उदाहरण देने के पश्चात नियम पर पहुंच सकते हैं । रेखा संख्या के प्रयोग द्वारा जोड करने के लिए प्रथम अंक की पहचान कीजिए, इस अंक के दाईं ओर दूसरे अंक के

अनुसार गिनिये, इस प्रकार जिस अंक पर पहुंचे वही इन दो अंकों का जोड होगा । इसको नीचे दिये गये चित्र में दिखाया गया है –



इसी प्रकार दूसरे उदाहरणो के चित्र बनेगे ।

संख्या रेखा 2 के प्रयोग पर आधारित जोड़ सम्बन्धित खेल भी आयोजित किए जा सकते हैं । जैसे – बच्चे 1 से 9 तक अंक का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं । उनको एक पंक्ति में खडा कर प्रत्येक को एक अंक प्रदान किया जा सकता है । संख्या रेखा की भांति एक विद्यार्थी पहला अंक बोलता है (इस उदाहरण अंक 4) इससे आगे दूसरे अंक के अनुसार बच्चे आगे अंक बोलते हैं (इस उदाहरण में दूसरा अंक तीन है । अत: पांच, छ:, सात) तथा उपयुक्त उत्तर पर पहुंच जाते है । इसमें दृष्टिहीन बच्चे का अध्यापक ध्यान रखते हैं और उसे भी सब की भांति संख्या रेखा का सदस्य बनने का अवसर दिया जाता है ।

ये कुछ सुझाव अध्यापकों के लिए उदाहरण मात्र हैं । इसी प्रकार अध्यापक अपने शैक्षिक अनुभव तथा रचनात्मक विचार शक्ति द्वारा और शिक्षण क्रियाओं का आयोजन कर सकते हैं ।

□□

अकबर का दीन इलाही

☐ श्रीमती शान्ति श्रीवास्तव

सभ्यता एवं संस्कृति की गोद में सदा से ही मानवीय भावनायें पनपती हैं। समय की माँग उसे पथ-प्रदर्शन कर उत्तरोत्तर उन्नति की दिशा प्रदान करती है। ऐसा ही एक युग मध्यकालीन इतिहास के समय में आया। दो सभ्यताओं के सम्मिलन से सांस्कृतियों के समीप्य ने देशकाल और जाति को एक नया तथा अपने में अनोखा रूप प्रदान किया। एक नया मोड दिया-। घृणा, उत्पीड़न, अत्याचार से उत्पन्न समस्याओं ने करवट ली और सहयोग, सहिष्णुता एवं पारस्परिक सौहार्द का नया रूप प्राप्त किया।

अमर हो गया वह शासक, जग गई वह ज्योति और सम्पूर्ण विश्व उस ज्योति से ज्योतिमय हो गया। इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं कि मानव मानव है हिन्दू मुस्लिम कोई वर्ग नहीं कोई धर्म नहीं कोई सभ्यता नही सब एक है। सदा से एक थे और एक ही रहेगे।

आज भारत मे भाई-भाई ही लड रहे हैं एक दूसरे के लहू के प्यासे हो रहे हैं। झगड़े के साथ आंतक से भयभीत जन एक दूसरे के गले मिलने से इन्कार कर रहे हैं ऐसी ही कुछ देश की स्थिति ने मेरी आंखो के सम्मुख इतिहास के पन्ने फडफडा दिये और मेरे सामने पुनः उसी युग में मित्रो को चिन्तित होने में क्षण भी न लगा। मै सोचने लगी,नही यह सब क्षणिक है। भारत के हर लाल ने इसी गंगा का पानी पिया है इसी शस्य श्यामला धरती में साथ-साथ खेल कर बड़े हुये हैं इसी भारत माँ के आँचल में अपने दुख-सुख झेले हैं। इसी माँ ने उनकी हर तरह से रक्षा की है। ऐसा नहीं हो सकता हिन्दुस्तान पाकिस्तान बना हिन्दु मुस्लिम सम्प्रदाय गलतियो के पश्चाताप स्वरूप –

सब एक हैं एक थे एक रहेंगे। गूँज उठा आकाश एक बार पुनः सोचने को मजबूर हो गई हूँ मै – इतिहास इसका साक्षी है तो आइए उसी इतिहास को आज हम क्यो नही दुहराते जबकि कहा भी गया है। "History repeats ıtself" उन स्वर्णिम दिनों की याद हम क्यों विस्मृत कर बैठे।

आइये उसी युग की कुछ चर्चा पर विचार करें वह युग था मुगल काल और उस मुस्लिम संस्कृति का जन्मदाता था सम्राट-अकबर जिसकी तुलना इतिहास में अशोक और गाँधी जी से की जाती है।

अकबर स्वभाव से ही रहस्यवादी था कई बार उसे रहस्यानुभूतियाँ हुई थी। उसे उल्लेकाओ से शान्ति न मिली, उसे सूफी संत भी संतोषजनक न प्रतीत हुआ और उसकी जिज्ञासु प्रवृति ने उसे समाधान और सभ्य की खोज के लिये मजबूर कर दिया और उसने हिन्दू साधु सन्यासियों, इसाई पादरियों तथा पारसी विद्वानों का सत्संग करना आरम्भ कर दिया। सत्य तक पहुँचने के लिये उसकी जिज्ञास वृत्ति इतनी अधिक तीव्र थी कि रात्रि के आराम और नींद के त्याग कर भी वह अपने शयन कक्ष में ब्राह्मण विद्वान तथा अन्य मत सम्प्रदायों के धर्मावलम्बियों के साथ वि[illegible]-विमर्श करता रहता था किन्तु हिन्दू, जैन, बौद्ध, प[illegible] ई[illegible] कोई भी मत उसके



सुविस्तृत अन्त: तल को प्रभावित न कर सका । किन्तु साहस न छोडा साधना में निरन्तर तल्लीन ही रहा वैज्ञानिक भाव से सत्य की खोज मे वह लगा ही रहा ।

इतिहासकार बदायूँनी लिखता है "रात और दिन लोग ज्ञान विज्ञान के गूढतम प्रश्नों, इतिहास और विभिकताओं प्रकृति और आश्चर्यों और ईश्वरीय ज्ञान सम्बन्धी तत्वो की खोजबीन करते ही रहते थे । सम्राट ने इन सभी पक्षों को देखाभाला है । सभी तरह की धार्मिक क्रियाओं और मत विश्वासों को भी देखा समझा है और अपनी संग्रह बुद्धि तथा इस्लाम सिद्धान्त के प्रतिकूल खोजबीन की भावना से उन चीजों का संग्रह कर लिया है जिन्हें लोग पुस्तकों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं ।" जीवन भर की खोजबीन का यह परिणाम हुआ कि अकबर यह विश्वास करने लगा था कि "सभी धर्मों में समझदार लोग रहते हैं और वे स्वतंत्र विचारक भी होते हैं जब सत्य सभी धर्मों मे है तो यह समझना भूल है कि सच्चाई सिर्फ इस्लाम धर्म में है जबकि इस्लाम धर्म अपेक्षाकृत नहीं है और इन्हीं विचारों ने अकबर में भावात्मक एकता का बीजारोपण कर दिया वह उन्मुख हो गया ऐसे मार्ग की ओर जिस पर चलकर वह एक राष्ट्रीय शासक की संज्ञा प्राप्त कर सकता था । बहुत सी हिन्दू और फारसी नीतियों और विश्वासों को भी उसने अपना लिया था, जैसे प्रवर्तक का सिद्धान्त और सूर्य उपासना ।

धार्मिक रूढियों और सत्ता से असंतुष्ट होकर अकबर ने तर्क को ही धर्म का मूलाधार बनाया और अपने साम्राज्य मे प्रत्येक मत सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की उसके समन्वयवादी दृष्टिकोण ने धार्मिक विद्वेष को दूर करने के उद्देश्य से सभी मतों का समन्वय कर एक नवीन धर्म – "**दीन इलाही**" को जन्म दिया जिसका अर्थ था देवी एकेश्वरवाद – यह एक सामाजिक धार्मिक भ्रातृ सम्प्रदाय था, जिसका संगठन विभिन्न जातियों को एक दूसरे के अधिक से अधिक निकट लाने के विचार से किया गया था । इसका जन्म "सुलहेकुल" के सिद्धान्त पर हुआ था । स्वयं सम्राट ने सभी धर्मों में से अच्छी बातें संगृहीत कर इसमें रखी थीं ।

यह नया सम्प्रदाय ईश्वर की एकता में विश्वास करता था । हिन्दू, जैन, पारसी धर्मों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त इसकी आधारशिला थे । उसने इस बात की आवश्यकता पर जोर दिया कि सभी धर्म भिन्न रहते हुये भी एक रहें । साथ ही एक सम्प्रदाय में जो अच्छाई हो उसके लाभ से वंचित न हो तथा एक दूसरे धर्म में जो अच्छाइयाँ है उन्हे भी ग्रहण करें ।"

दीन इलाही के सिद्धान्त

पारस्परिक सहयोग, सौहार्द की भावना से आवद्ध थे । विरोधी संस्कृतियो के सम्मिलन का यह प्रयोग का एकता के सूत्रों पर ही इसके सभी सिद्धान्त आधारित थे । 'दीन इलाही' के सदस्यों की संख्या हजारों में पहुँच गई । बीरबल ने भी इस धर्म को स्वीकार किया । किन्तु इस नवीन धर्म की मर्त्सना सबसे पहले **इतिहासकार बदायूनी** ने की । वह यह समझता था कि अकबर ने इस्लाम धर्म को पूर्णतय: त्याग दिया । कुछ लोगो ने इसे इस्लाम धर्म का कट्टर विरोधी बताया है । इतिहासकार स्मिथ तथा बूल्जलेहेग दोनों ने ही नये धर्म की स्थापना करने के लिये अकबर पर आरोप लगाया और यहाँ तक कह डाला कि "दीन इलाही अकबर की बुद्धिमता का नहीं, बल्कि उसकी नासमझी का उदाहरण था ।" यह आलोचना उचित और न्याय संगत नहीं कही जा सकती । अबुलफजल के इस कथन पर विश्वास किया जा सकता है – "He passes every moment of his life in self examination or in adoration of God". उसके हृदय की इस विशालता, विवशता तथा राजनैतिक उद्देश्यों के फलस्वरूप उसने इस नवीन धर्म की स्थापना की । इस "दीन इलाही" की स्थापना में अकबर का महान राजनीतिक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा वह हिन्दू और मुसलमान धर्मों को मिलाकर मुगल साम्राज्य में राजनीतिक एकता कायम कर सके ।

दीन इलाही के प्रवर्तक के रूप में उसने जो भी किया वह उसकी सार्वजनिक, सहिष्णुता की नीति का द्योतक था और यही उसके राष्ट्रीय आदर्शवाद का प्रमाण भी है । अकबर अपने को जनता का अधिनायक न समझकर अपने को प्रजा का पोषक,प्रजा का प्रेमी एवं प्रजा का सेवक समझता था । दीन इलाही के परिणाम देश के लिये हितकर सिद्ध हुये, धार्मिक सहिष्णुता, राष्ट्रीय उत्पत्ति, धार्मिक कुरीतियों का अन्त, हिन्दू मुस्लिम एकता विचारो की संकीर्णता का अन्त, धार्मिक सिद्धान्तो की व्याख्या पर स्पष्टीकरण आदि इसके हितकारी परिणाम सिद्ध हुये ।

अंत मे हम यह कह सकते है कि अकबर के साथ ही साथ यद्यपि उसके पूजा के ढंग भी समाप्त हो गये हैं किन्तु उसकी व्यापक उदारता एवं दृष्टिकोण की विशालता ने देश मे एक ऐसी सम्भावना उत्पन्न कर दी जो देश को एकता का मार्ग दिखा सकी संघर्ष को, घृणा भाव को समाप्त कर सकी ।

अकबर ने दीन इलाही का निर्माण करके उस युग मे राष्ट्रीयता का निर्माण किया था जिस युग मे यूरोप में एक महान परिवर्तन हो रहा था, धर्म के स्थान पर मनुष्य की बलि दी जा रही थी अकबर मानवता का वह पुजारी इस देश मे सभी धर्मों की सहिष्णुता पर जोर दे रहा था । सभी धर्मों के सिद्धान्तों का मिश्रण उसने किया जिससे सभी धर्म वाले उसको अपना समझ सके । अकबर के लिये किसी विद्वान का यह कथन सत्य है "Akbar's Heart was never touched by any doctrine and he died as he had lived for many years, a man whose religion nobody could name "

आज देश को ऐसी ही महान आत्माओं की आवश्यकता है जो यही पुकार कर सके कि हम सब एक हैं देश हमारा है इसका हर प्राणी हमारा है हम आत्माओ से हृदय से एक सूत्र में बंधे हैं । हमें संसर की कोई शक्ति विलग नही कर सकती क्योंकि हम परम्परा से एक हैं । □□

विद्यार्थियों की समस्यायें : कुछ व्यावहारिक सुझाव

विक्षिप्त बच्चे

☐ डा. सत्यवती देवी

नाखूनों को दांत से काटना या अंगूठा चूसना

कुछ बच्चों का स्वभाव ऐसा होता है कि वे जल्दी घबरा जाते हैं और अनायास ही नाखूनों को दाँत से काटने लगते हैं या अंगूठा चूसने लगते हैं । यदि उन्हें ऐसा करते समय टोका न जाये तो उन्हें धीरे-धीरे नाखून काटने या अंगूठा चूसने की आदत सी पड जाती है । यह आदत छुड़ाने के लिये उन्हें उपयुक्त अवसर पर टोकना चाहिये और कभी सहानुभूति से, कभी प्यार से समझाना भी चाहिये । यदि बच्चा बहुत व्यग्र स्वभाव का है तो उसे मनोचिकित्सक के पास भेजना चाहिये क्योंकि कई बार घबराहट दूर करने की दवा देने से वह ठीक हो सकता है ।

सिरदर्द की शिकायत

यदि बच्चा शरीर से स्वस्थ है और पढने के पश्चात् सरदर्द की शिकायत करता है तो उसकी आँखो की जाच करवानी चाहिये । यदि आँखे ठीक हैं और सरदर्द यदा कदा होता रहता है तो बच्चे की एक बार डाक्टरी जांच अवश्य होनी चाहिये क्योंकि सरदर्द अनेक रोगों का एक लक्षण हो सकता है । यदि बच्चे को डाक्टरी जांच के बाद ठीक बताया गया है तब उसके माँ-बाप से परिवार के वातावरण के बारे मे अच्छी तरह से पूछताछ करनी चाहिये; यह मालूम करने को कि किसी विशेष वस्तु या परिस्थिति से बच्चे को कोई मानसिक उलझन तो नही है, यदि है तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

पेट का दर्द

कुछ बच्चे अक्सर पेट के दर्द की शिकायत करते हैं । ज्यादातर यह बदहज्मी के कारण होता है क्योंकि बच्चे कई बार घर के अतिरिक्त बाहर से भी कुछ खा लेते हैं और उससे पेट ख़राब हो सकता है । कई चीजे गैस पैदा करती है उनसे भी पेट में दर्द हो सकता है । कभी-कभी बच्चे स्कूल न जाने के लिये पेट के दर्द का बहाना बना देते हैं । यदि घर में कोई उत्सव हो जैसे नई बहू आई हो तो बच्चे काफी उत्तेजित हो जाते हैं और स्कूल नही जाना चाहते । यदि पेट-दर्द अधिक हो और साथ में ज्वर, उल्टी या पेशाब की कोई तकलीफ हो तो डाक्टर को अवश्य दिखाना चाहिये ताकि कोई शरीरिक बीमारी हो तो उसका पता चले और उसका ठीक से इलाज भी हो सके ।

उल्टी के दौरे

किसी-किसी बच्चे को उल्टी के दौरे पड़ते हैं जो 2 या 3 दिन तक पडते रहते हैं और फिर अपने आप ठीक हो जाते हैं । उल्टी आने से पहले आँखों के नीचे स्याही सी हो जाती है, बार-बार उल्टी आने से बच्चा सूख जाता है और खाना न हजम होने के कारण उसे कमज़ोरी आ जाती है, आँखों के नीचे गड्ढे पड जाते हैं और शरीर में पानी की कमी के कारण ज्वर भी आ सकता है । ऐसे बच्चे को डाक्टर को दिखाकर ठीक से उपचार करवाना चाहिये । उल्टी के समय बच्चे को ग्लूकोस मिला कर थोडा-थोड़ा पानी पिलाना चाहिये । उल्टी रोकने की दवा भी दी जा सकती है । वैसे घबराने की कोई बात नहीं है, उल्टी 2–3 दिन में अपने आप रुक जाती है और बच्चा बिल्कुल ठीक हो जाता है ।

बेहोशी के दौरे

कुछ क्षणो के लिए बच्चा यदि बेहोश हो जाये तो घबराना नही चाहिये । सोचिये –

— कही यह गर्मी के कारण तो नही है ?

— या फिर बुखार के कारण ?

— कही बच्चा डर तो नहीं गया किसी वस्तु या स्थिति से ?

ख्याल इस बात का रखना चाहिये कि किस अवस्था में बच्चा बेहोश हुआ ? उसे चोट तो नही लगी ? क्या उसके हाथ-पाँव हिल रहे थे ? उसकी जबान तो नही कटी ? क्या वह ठीक से सांस ले सकता था ? नीला तो नही पडा ? इन सब बातों को ठीक से देखकर माँ-बाप को पूरी तरह से बता कर हिदायत देनी चाहिये कि बच्चे को डाक्टर को दिखा दें । यदि स्कूल में बच्चे को दौरा पड गया है तो उसे आराम से सुविधाजनक स्थान पर शुद्ध हवा मे लिटा देना चाहिये । थोडी देर मे वह ठीक हो जायेगा । तब उसे पानी या चाय पिला सकते है । यदि वह घर जाना चाहे तो घर भेज दे ।

हिस्टीरिया

प्राथमिक स्कूल के बच्चो मे कभी-कभी हिस्टीरिया के लक्षण दिखाई देते है, जैसे – बच्चे को दिखना बन्द हो जाये, या कानो से सुनाई न दे या फिर उसकी बोली बन्द हो जाये । कभी-कभी तो उसकी याददाश्त गुम हो जाती है और वह इधर-उधर घूमता रहता है बेहोशी की सी हालत मे । ऐसी स्थिति मे बच्चे को कोई मानसिक तनाव हो सकता है जिसके कारण वह परेशान हो । हिस्टीरिया के लक्षण पैदा होते ही उसका मानसिक तनाव खत्म हो जाता है । ऐसी हालत मे शारीरिक जाँच करने पर कोई खराबी नही नजर आती – न अन्धापन, न बहरापन, न गले की कोई खराबी और न मस्तिष्क की ही कोई खराबी । काफी छानबीन के पश्चात् पता चलता है कि बच्चे को कोई मानसिक चिन्ता है जिसके कारण उसे हिस्टीरिया के लक्षण पैदा हो गये हैं । वह कारण पता करके उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिये – इससे बच्चा ठीक हो जाता है ।

□□

शिक्षकों ने लिखा है

"कतिपय शब्द व्युत्पत्ति (सौन्दर्यानुभूति) अनुभूत प्रयोग एवं नई व्याख्याएं"

☐ लक्ष्मी लाल अमेठा

गुरु पूर्णिमा का दिन था, आसमान से घन घटाएँ रह-रहकर पावस की सुनहली बौछार कर रही थी, नदी-नद अपना कल-कल नाद आरम्भ कर रहे थे, शिखी-शिखिनी, चातक-चातकी, शुका-मैना एवं अन्य वन्य-जीव असीम सुखानुभूति कर रहे थे, उसी दिन राजस्थान की अरावली शैल-मालाओं की उपत्यका में स्थित 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के मूल मन्त्र को साकार करने वाले विद्यालय में माननीय अतिरिक्त जिला शिक्षा अधिकारी जी का दौरा था । अधिकारी जी ने विद्यालयी-निरीक्षण करने के तदुपरान्त यहां के सार्वजनिक-आश्रम के महन्त जी के दर्शन की मनोभिलाषा की । हम राज-मार्ग होते हुए आश्रम में पहुँचे ।

महन्त जी, दिक्-वस्त्रधारी, तेजोमय मुख-मण्डल, लम्बी जटाओं की मौलि बांधे, दिव्य जाज्वल्यमान हीरक सी आभा वाले, पद्मासन लगाये अपने परिकरों एवं शिष्यों की प्रज्ञाचक्षुओं को खोल रहे थे । हमने वहां पहुंच कर प्रणाम किया, महन्त जी ने साधुवाद देते हुए सन्निकट लगे आसन पर बैठने का संकेत किया । हमने अपना आसन ग्रहण किया । तदनन्तर महन्त जी ने अपना संस्मरण सुनाया, वह इस प्रकार था –

मैने एक विद्वान से प्रश्न किया – 'लोक' शब्द का क्या अर्थ है ?

इस पर विद्वदजन ने उत्तर दिया – जहां पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, नदी, सागर, पेड, पहाड आदि हों उसे लोक कहते है ।

मैने उसे 'लोक' शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाया –

'लोक' शब्द 'लुक्' शब्द से बना हुआ है, जिसका अर्थ 'देखना' से लिया जाता है । अर्थात् जो कुछ भी इस स्थावर जङ्गम में दिखायी देता है, उसे ही लोक कहते है । इसी लोक शब्द के पूर्व आ + लोक = आलोक = प्रकाश, पर + लोक = परलोक, इह + लोक = इहलोक (संसार), स्वर्ग + लोक = स्वर्गलोक, पाताल + लोक = पाताललोक आदि शब्द बनाये जा सकते हैं ।

वास्तव मे भाषा के आविर्भाव से यह समग्र संसृति गूंगो की विराट् बस्ती बसने से बच गया है । भाषा ने शनै: शनै: युगीन परिस्थित्यानुकूल विकास के डगर पर अपने पांव जमाने का अभ्यास किया तथा अपनी मां संस्कृत से बहुत कुछ सीखा । भाषा के पल्लवित एवं पुष्पित होने में विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक संस्थितियां विशेष रूप से अग्रगण्य रही हैं ।

भाषा में वह शक्ति निहित है, जो तोप, तलवार एवं बम के गोले में भी नहीं होती । हिन्दी साहित्य के वीरगाथा-काल अर्थात् विक्रम सम्वत् 1050 से 1375 तक की अवधि में चारण, भाट, दरबारी कवियों एवं राज-पुरोहितों ने अपने शासको को सदैव उत्प्रेरणात्मक गीत सुनाकर युद्ध में विजय वैजयन्ती पहनाई थी । इसके साथ ही महाराजा जयसिंह जब अपनी नवोढ़ा रानी के प्रेम मे इतने पागल हो गये थे कि वे राज्य-कार्य की सुधि भी भूल गये । इससे प्रजा-मण्डल में भयंकर विक्षोभ एवं अशान्ति फैल गई । ऐसे अवसर पर ही ग्वालियर स्टेट के वसुआ गोविन्दपुर ग्राम के माथुर चौबे जाति के गागर में सागर भर्ता नवोदित उदियमान कवि बिहारी ने अधोलिखित दोहा सुनाया, जो इस प्रकार है –

"नहिं पराग नहिं मधु मधु, नहि विकास इहि काल ।
अलि कलि ही सो बन्ध्यो, आगे कवन हवाल ।।"

उक्त दोहे से राजा जयहिंस इतने प्रभावित हुए कि उन्होने पूर्ववत् अपना राज-कार्य बडी चतुराई से करने लगे ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि आइसलैण्ड को डेन्मार्क के अधीन अनवरत-काल पर्यन्त पराधीनता के नृपारापान्न मे कभी चन्द्रमा के दर्शन नही हुए । फलस्वरूप आइसलैण्ड वासियो ने केवल भाषणो के बल से ही स्वतन्त्रता प्राप्त की । वास्तव मे शब्दो मे इतनी शक्ति प्रभावशीलता होती है कि श्रोतागण कभी-कभी वक्ता को अतुल पुरस्कार प्रदान करते है, तो कहीं अनादर ।

जैसा कि कहा भी है – 'बातहिं हाथी पाइये, बातहिं हाथी पॉव ।'

यह तो सर्व विश्रुत है कि हिन्दी भाषा की लिपि (लिखने की शैली,ढग) देवनागरी लिपि है । इसमे अ से अः तक बारह वर्ण (अक्षर) होते है, जिन्हें स्वर कहा जाता है, तथा क से ज्ञ तक व्यञ्जन होते है । इन बारह स्वरो की मात्रात्मक लेखन-शैली एवं प्रत्येक व्यञ्जन के मिश्रण से बारह खडी का निर्माण किया जाता है । इस प्रकार क्रम से अक्षरो के मेल से शब्द और शब्दो के मेल से वाक्य का प्रार्दुभाव हुआ ।

कुछ वस्तुएँ ऐसी है, जिनका नामकरण उनके स्वभावजनित लक्षणो एव कर्मों के आधार पर हुआ है । यथा – अग की रक्षा करने वाली – 'अंगरखी' कहलायी तथा पांव की रक्षा करने वाली 'पगरखी' कहलायी ।

हमारे देश की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एव न्यापालिका जिन्हें कानून लागू करना, कानून बनाना एवं कानून का उल्लंघन करने वाले को सजा देना प्रमुख कार्य सौपे गये है । इसी आधार पर मेरे मत मे इन्हे ब्रहमा, विष्णु एव महेश की संज्ञा देना अत्युक्तिपूर्ण नही होगा । चूंकि ब्रहमा सृष्टि का नियामक है, उसी प्रकार देश की संसद विधि निमात्री कही जाती है, विष्णु सृष्टि का पालन कर्त्ता है, तो हमारी कार्यपालिका भी शासन कर्त्ता कही जाती है और महेश जो असुरों का संहार करते है, उसी प्रकार न्यायपालिका भी कानून का उल्लंघन करने वाले अपराधी को सजा देती है ।

हिन्दी मे कुछ शब्द ऐसे है, जिनकी व्युत्पत्ति अन्य भाषाओ के शब्दो के मेल से हुई है । ऐसे कतिपय शब्दो की चमत्कारिक सारणी इस प्रकार दृष्ट्व्य है –

भाषायी सारणी

भाषाएं	हिन्दी	संस्कृत	अंग्रेजी	राजस्थानी
शब्द	प्रतिशत	प्रतिशत	परसेण्ट	सेकडा
	लाख	लक्षम्	लेक्स	लाक
	रुपया	रूप्य	रुपी	रुपियो
	फुटबाल	पाद कन्दुक	फुटबॉल	फुटबोल
	श्यामपट्ट	श्यामपट्ट	ब्लेकबोर्ड	बोड
	दुमजिला	द्विभूमिक	सेकेण्डस्टोरी	दो मजिल
	बाट	प्रतिक्षा	वेट	वाट
	थैला	वेष्टनम्	बेग	बस्ता
	स्टेशन	यानावतार	स्टेशन	टेशण
	भवदीय	भावत्क	यॉर्क्स	आपका

वस्तुतः हिन्दी भाषा की विविध विधाओं के स्तरानुकूल शिक्षण के उद्देश्यो के क्रम से वैविध्यता का निरूपण करना अप्रासंगिक नही होगा । गद्य-शिक्षण मे जहां एक ओर ज्ञान (शब्द, व्युत्पत्ति, अर्थ-भेद, वाक्य-रचना), पद्य-शिक्षण मे रस (सौन्दर्यानुभूति, भावानुभूति, रसानुभूति), कहानी-शिक्षण मे कथन समीक्षा, रचना पाठ में अभिव्यक्ति, नाटक-शिक्षण मे संस्थित्यानुकूल अभिनेयता एवं व्याकरण-पाठ मे नियमीकरण की पूर्ति प्रमुख रूप से सभी भाषायी अध्यापक वृन्द व्यावहारिक धरातल पर अवश्यमेव करते आये है ।

अरावली शैल मालाओ मे स्थित विद्यालयी छात्रो मे कतिपय छात्र ऐसे है, जो पारम्परिक रूप मे कुछ शब्दो का अशुद्धोच्चारण करते है । यथा – सच को चच, चस ; ससार को संचार, चचार, चसार , छुआछूत-सुआसूत, चौथी-सौती, चाहिये-साहिये । इन शब्दो मे प्रयुक्त **स** को **च** तथा **च** को **स** के रूप मे उच्चारित करते है ।

इसके निराकरण हेतु स तथा च वर्णो के उच्चारण स्थलो से पर्याप्त अभ्यास कराया गया । इसी क्रम मे तालु से बोले जाने वाले तालुव्य श, मूर्धा से मूर्धानी ष तथा दात से दन्त्य स का उच्चारण ज्ञान करवाया गया । इसी तरह क वर्ग मुख विवर के कण्ठ से, च वर्ग तालु से, ट वर्ग मूर्धा से, त वर्ग दन्त से, प वर्ग औष्ठ से,

अन्तस्थ व्यञ्जन य तालु से, र मूर्धा से, ल तथा व दन्त स्थलो से उच्चारित करवाने का अभ्यास करवाया गया ।

मैंने अपनी अनुभव की पाठशाला में शब्द व्युत्पत्ति के कुछ और नवीन रूप देखे । जो इस प्रकार है –

कक्षा VIII की हिन्दी-अध्यापन करते समय गोस्वामी तुलसी दास के काव्यांश में प्रयुक्त "तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी" चौपाई में बिलोकि शब्द को इस प्रकार व्युत्पन्न किया वि + लोक + इ, देखकर । इसी प्रकार आंग्ला भाषा में प्रयुक्त लुक् Look शब्द का अर्थ भी देखना ही होता है ।

हिन्दी में ऐसे वर्ण भी प्रचलित हैं, जो अलग-अलग शब्दों के साथ प्रयुक्त होते हुए अर्थ चमत्कार प्रकट करते हैं । ये है - ज = पैदा होना, द = देने वाला, ध = धारण करने वाला, ग = जाने वाले ।

उदाहरणार्थ – पानी शब्द के पर्यायवाची जल + ज = जलज= कमल, जल + द = जलद = बादल, जल + धि = जलधि = सागर शब्द बन जाता है । इसी तरह ज + ग = जग (जन्म-मृत्यु जहां हो), ख + ग = खग (आकाशचारी) आदि शब्द भी बनाये जा सकते है ।

अनुभूत प्रयोग

गत सत्र कक्षा VIII के छात्रो को पानी शब्द के 5 पर्यायवाची शब्द बताये गये तथा उक्त ज, द, धि वर्णों को प्रयुक्त करते हुए कमल, बादल एवं सागर शब्दो के पर्यायवाची बनाना सिखाया गया तथा मध्यावधि अवकाश के लिए 10 पर्यायवाची शब्द कठस्थ करने की उक्त सुगम परिपाटी बताई गई । उक्त कक्षा के लगभग 80% छात्रो ने उक्त पर्यायवाची शब्द कंठस्थ सुनाएं ।

किसी शब्द को कर्तावाचक बनाने के लिए उस शब्द के बाद 'क' लगाया जाता है – यथा – पच् + क = पाचक-पकाने वाला, पठ् + क = पाठक-पढने वाला, नी + क = नायक-ले जाने वाला, गाय + क = गायक-गाने वाला आदि शब्द बनाये जा सकते हैं । इसके साथ ही शिक्षक एवं अध्यापक शब्द पृथक्-पृथक् वर्ण के अन्तर्गत अर्थ-वैशिष्ट्य प्रकट करते है – यथा – शिक्षक = शि-शिष्टता, क्ष = क्षमाशील, क = कर्तव्यनिष्ठ।

अध्यापक = अ-अध्ययनशील, ध्या = ध्यान-मग्न, प= परिश्रमी, क = कर्तव्यनिष्ठ ।

इसके साथ ही हिन्दी के कुछ शब्द व्युत्पत्ति क्रम मे गणना-शास्त्र की एक अक की सबसे बडी संख्या कर दिखाते है – ये शब्द है –

1. कृष्ण –
   व्युत्पत्ति – क + ऋ + ष् + ण
   वर्ण क्रमांक – 1 + 7 + 31 + 15 = 54 अर्थात् 5 + 4 = 9
2. राधिका –
   व्युत्पत्ति – र + आ + ध + इ + क + आ
   वर्ण क्रमांक – 27 + 2 + 19 + 3 + 1 + 2 = 54, 5 + 4 = 9
3. राम –
   व्युत्पत्ति – र + आ + म
   वर्ण क्रमांक – 27 + 2 + 25 = 54, 5 + 4 = 9
4. सीता –
   व्युत्पत्ति – स + ई + त + आ
   वर्ण क्रमांक – 32 + 4 + 16 + 2 = 54, 5 + 4 = 9

इसी तरह हिन्दी वर्णमाला के स्वर + व्यञ्जन (12 + 33 = 45), 4 + 5 = 9 होते है । हिन्दी-साहित्य मे शब्दो का विशाल अजायबघर है । जिनकी व्युत्पत्ति का पार पाना असम्भव सा है । जो कुछ भी श्रम साध्य किया वह वाग्विलासिनी शारदे मां की असीम सानुकम्पा का ही प्रताप है ।

'नान्यपंथा विद्यतेऽनयाय' □□

आज का काम

□ कृष्णाराव भट्ट 'कृषक'

नित्य प्रति पानी कौन दे पौधो को और जहाँ घास तक नही उगती' उस स्थान को बगीचे में कैसे बदले । यह सोचकर रशीदा बेगम उदास रहती थी । एक दिन मैने उनसे कहा था – 'भाभी – मैं बगीचा लगा दूँ तो आप मुझे क्या देगीं ?'' उन्होने कहा – भाई साहब, आप को मन चाही चीजें भेंट दूँगी । तब से मै औरी मेरी पत्नी किसी अलभ्य वस्तु को पाने की लालच से नहीं, वरन् बागवानी का शौक पूरा करने के लिये रशीदा जी के घर आँगन में प्रतिदिन दो घटे मेहनत करके हरे-भरे बगीचे के स्वप्न को साकार करने जाते रहे । एक दिन भी हमने आलस नही किया । सचमुच आज रशीदा जी खुश हैं और उनके घर जुही, गुलाब, मोगरे, कनेर के फूल, फूल रहे हैं ।

इसी प्रकार मनोहर, मेरा अभिन्न मित्र, पिछले वर्ष एम. ए. मे अनुत्तीर्ण हो जाने से खिन्न रहने लगा था । उसे पुन: परीक्षा देने हेतु तैयार करने मे मुझे अपनी कला-कौशल का उपयोग करना पड़ा था । वह कला-कौशल है प्रतिदिन के क्रियाकलापो का समय विभाजन चक्र बनाकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का सक्षम आनन्द लेना । इसी का नाम मैने रखा है – ''आज का काम'' ।

आज का काम, मात्र एक रूपरेखा नही है, वरन् जीवन कैसे जियें, सुखी, स्वस्थ्य सानन्द कैसे रहें और अपने वाक् चातुर्य व व्यवहार सम्पादन मे लोक प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त करे, इसकी एक योजना है जो आज के तनाव पीडित जन समूह को मुक्ति दे सकती है, संशय नही ।

आइये, हम ''आज का काम''एक डायरी मे एक पृष्ठ पर अंकित कर ले । सुबह का समय शौच, स्नान स्वल्पाहार करने तक सीमित रहता है । इसके लिये प्रतिदिन डायरी मे लिखना अनिवार्य नही तथापि प्रारम्भिक दिनों मे इनका उल्लेख किया जा सकता है । आप प्रात: छ:, साढे छ. से आठ बजे तक इन कार्यों को निपटा सके तो ज्यादा अच्छा रहेगा ।

ठीक आठ बजे रेडियो (आकाशवाणी) से समाचार सुनिये तथा अपने घर-पड़ौस से लेकर अखबार की खबरे पढिये । लेकिन इस कार्य में अधिक समय न लगाकर साग-सब्जी लेने जाइये या घर में ही रहना हो तो अपने कमरे की सजावट, पीने के पानी की व्यवस्था, लेखन, चित्रकला, संगीत के अभ्यास या रसोई घर मे मदद कीजिये । ऐसे ही कार्यों की सूची बनाई जा सकती है जिन्हे उम्र, आवश्यकता और प्राथमिकता के आधार पर हमे करना होता है ।

भोजन के पूर्व तक कोई श्रम साध्य काम अवश्य कीजिये । इससे भूख बढेगी, मन प्रसन्न रहेगा तथा आलस्य नही आयेगा । भोजन के बाद आप कुछ देर (पाँच दस मिनट) विश्राम लीजिये और पुन: अपने व्यवसाय कार्य मे लग जाइये । शाम को घूमने, मित्रों से मुलाकात करने या खेलकूद व्यायाम आदि मे अवश्य लगाइये । फिर रात्रि में शयन के पहले व भोजनोपरान्त सत्साहित्य, अखबार आदि पढ़िये अथवा घर के सदस्यो से बातचीत कीजिये, उनकी समस्याओ का समाधान कीजिये और हो सके तो छोटे बच्चो को कहानी, कविता सुनाइये, उन्हें पढाई में लगाइये व स्वयं थोडा ध्यान देकर पढाइये ।

आपकी सहायता के लिये आप डायरी साथ में रखिये अथवा छिद्रित पृष्ठ वाली डायरी के एक पृष्ठ को भी रख सकते है ।

एक नमूना शिक्षक व्यवसायी के लिये इस प्रकार है –

आज का काम		दिनॉक '		
क्रम	समय	स्थान	पाठ्य वस्तु/निविध कार्य	
		कक्षा	विषय	विवरण
1	11 00 से 11.45	2nd Pd 1 X C	हिन्दी	'वर दे' कविता पाठ
2	11 45 से 12 10	X B	सस्कृत	वद धातु रूप
3				
4	. .			

आवश्यकता के अनुरूप आप "आज का काम" पृष्ठ पर समय के साथ पोस्ट आफिस/बैक/स्टेशन आदि जाने व उपयुक्त कार्य करने का उल्लेख कीजिये । साधारण रूप से कार्य करते हुये आप अपने मनोरंजन का भी ध्यान रखिये । विशेष कार्यों को किया है अथवा नहीं इसीलिये कलम से चिन्हाँकित कीजिये तथा न कर पाये कार्यों को पुन: दूसरे दिन के कार्यों के साथ लिख लीजिये । आप महसूस करेंगे कि इस प्रकार से प्रतिदिन आपका मन तनावमुक्त हो रहा है तथा आपका समय विभाजन स्वयं के अतिरिक्त औरो के लिये उपयोगी हो रहा है ।

कुछ ही दिनों में आपकी "आज का काम" लिख कर करने की आदत छूट जायेगी और स्वत: स्फूर्त होकर आप अबाघ गति से कार्य करने में कुशल होने लगेंगे । एक लोकोक्ति का अनुकरण आपके जीवन में बहार लाता है "इवोल्युशन लव्स रिवोल्युशन" अर्थात् प्रगति क्रांति से प्यार करती है अत: आप स्वयं के जीवन मे नित्य प्रति के कार्यों में क्रान्ति का सूत्रपात कीजिये और यह कार्य असाध्य नही है । आप कृत संकल्प होइये कि यह या वह कार्य मुझे आज और अभी करना है तो सच बडे से बड़ा काम सुनियोजित ढग से करने पर छोटा हो जायेगा और आप छोटे से छोटे होकर भी हिमालय की सी ऊँचाइयों को प्राप्त करने मे अपने आपको सक्षम पायेंगे । □□

समाचार और विचार

राज्य शिक्षा संस्थान, उ.प्र., इलाहाबाद

यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना

(1) यूनीसेफ सहायता प्राप्त परियोजना के अन्तर्गत (पोषण, स्वास्थ्य शिक्षा एवं पर्यावरणीय स्वच्छता) कार्य आरम्भ हुआ ।

आख्यागत माह में दिनांक 17–9–84 से 20–9–84 तक एक कार्यशाला आयोजित की गयी । समुदाय के लिए निर्मित शैक्षिक सामग्री को परिष्कृत कर अंतिम रूप दिया गया । इसमे राज्य के विभिन्न विद्यालयों के कला अध्यापकों और अध्यापिकाओं ने भाग लिया ।

समुदाय सम्पर्क कार्यक्रम के अन्तर्गत 21–9–84 को इस परियोजना से संबंधित संस्थान की टीम चायल विकास खण्ड में पीपल गांव और दिनांक 27–9–84 को कौड़िहार विकास खण्ड में कौड़िहार गयी । मेडिकल कालेज के डा. सिन्हा भी टीम के साथ थे । समुदाय के लोगों ने इस परियोजना के प्रति अपनी उत्सुकता दिखाई तथा ग्राम प्रधान एवं वहां के अन्य लोगों ने अपना पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया ।

(2) पाठ्यक्रम नवीनीकरण परियोजना के अन्तर्गत प्रदेश के 15 जपदों के 150 चुने गये प्राथमिक विद्यालयों की कक्षा 1, 2 तथा 3 के 18 हजार बच्चों की भाषा, गणित, परिवेशीय अध्ययन, सामाजिक विज्ञान, समाजोपयोगी उत्पादक कार्य के मूल्यांकन हेतु आवश्यक तैयारी की गयी । छात्र-छात्राओं के मूल्यांकन हेतु परीक्षण प्रपत्रों का मुद्रण कराया गया ।

कक्षा 3 की शिक्षण सामग्री जिसका मूल्यांकन गत वर्ष (83–84) किया गया था, उसका संकलन किया गया ।

(3) आख्या गत माह में परियोजनान्तर्गत निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये गये –

कार्यशाला

शैक्षणिक सामग्री निर्माण कार्यशाला – अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत जू. हा. स्कूल स्तर के लिए पाठ्य-सामग्री के विकास हेतु एक कार्यशाला दिनांक 17 से 22 सितम्बर, 84 तक आयोजित की गयी । इस कार्यशाला में कुल 54 प्रतिभागियों ने भाग लिया । कार्यशाला में कक्षा 7 के स्तर के लिए पाठ्यवस्तु का निर्धारण किया गया और लेखकों को पाठों का आबंटन किया गया ।

स्वास्थ्य स्वच्छता एवं पोषण पर आधारित प्रवेशिका के संशोधन का कार्य भी पूरा किया गया ।

विविध

राज्य योजना आयोग, उ. प्र. को क्षेत्रीय विकास में सामाजिक निवेश कार्यक्रम के लिए शिक्षा क्षेत्र पर होने वाले व्यय का विवरण संशोधित करके भेजा गया ।

यूनीसेफ के अगले "मास्टर प्लान आफ आपरेशन्स 1985–90" के लिए टिप्पणी एवं नवीन परियोजनाओं के लिए प्रस्ताव तैयार करके भेजे गये ।

(4) पूर्व प्राथमिक शिक्षा परियोजनागत विद्यालयो के प्रधाना-ध्यापकों के प्रशिक्षण का द्वितीय फेरा दिनांक 10–9–84

से 15–9–84 तक संस्थान मे आयोजित किया गया । कार्यक्रम मे 26 प्रधानाध्यापको ने परियोजना के उद्देश्य, क्षेत्र, कार्यप्रणाली, शिक्षण विधियां एवं मूल्यांकन की तकनीक मे प्रशिक्षण प्राप्त किया । राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद की श्रीमती चित्रा रामचन्द्रन 11–9–84 से 13–9–84 तक कार्यक्रम मे उपस्थित रहीं एवं अपना बहुमूल्य योगदान दिया ।

"शिक्षक संदर्शिका" – "पूर्व प्राथमिक शिक्षा" तथा अन्य बाल साहित्य मुद्रणाधीन है । पूर्व प्राथमिक केन्द्रो में शिक्षिकाओ की नियुक्ति हेतु प्रयास किये जा रहे हैं ।

(5) प्राथमिक शिक्षा व्यापक उपागम (केप) के अन्तर्गत आख्यागत माह मे निम्नांकित कार्य सम्पन्न हुए –

परियोजनांतर्गत विकसित स्व-अधिगम सामग्री को प्रक्रमिक करने के उद्देश्य से एक अष्ट दिवसीय कार्यशाला 8–9–84 से 15–9–84 तक की तिथियों मे क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, मोदीनगर (गाजियाबाद) में आयोजित की गई । कार्यशाला मे प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रीय शिक्षा संस्थानों तथा राजकीय दीक्षा विद्यालयो के कुल 29 शिक्षक प्रशिक्षकों ने भाग लिया । राज्य शिक्षा संस्थान, उ. प्र., इलाहाबाद की केप टीम के सात सदस्यों ने भी उक्त कार्यशाला में भाग लिया । साथ ही राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली के चार विशेषज्ञों ने भी भाग लिया । डा आर एम. कालरा, डा एस डी रोका, डा. (श्रीमती) के. अरोरा और डा. मुट्टू ने केप सम्बन्धी स्व-अधिगम सामग्री को अन्तिम रूप देने में अपने अमूल्य सुझाव देकर सहयोग प्रदान किया ।

उपर्युक्त कार्यशाला में 10 माड्यूलो को, जिनमें 73 कैप्स्यूल हैं, प्रक्रमण कार्य हेतु लिया गया । संदर्भित 10 माड्यूलों में से 2 माड्यूलो के अन्तर्गत 13 कैप्स्यूलों का प्रथम आलेख्य तैयार किया गया । शेष 8 माड्यूलों के अन्तर्गत 60 कैप्स्यूलों को अन्तिम रूप से प्रक्रमित किया गया । उक्त कार्यशाला मे, प्राइमरी स्कूल स्तर के पाठ्यक्रम के छूटे हुए अंशों को केप स्व-अधिगम सामग्री में सन्निहित करने के उद्देश्य से 3 माड्यूलों का डिजाइन तैयार किया गया तथा उनके अन्तर्गत नये 26 कैप्स्यूल विकसित किये गये ।

आख्यागत माह के अन्तिम सप्ताह मे एक दूसरी अष्ट दिवसीय कार्यशाला 24–9–84 से 1–10–1984 तक की अवधि मे राज्य शिक्षा संस्थान, उ. प्र इलाहाबाद में आयोजित की गई । उक्त संदर्भित कार्यशाला मे विभिन्न क्षेत्रीय शिक्षा संस्थानो तथा राजकीय दीक्षा विद्यालयो के 28 शिक्षक-प्रशिक्षको ने भाग लिया । राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली की केप ग्रुप की रीडर डा (श्रीमती) के अरोरा ने भी स्व-अधिगम सामग्री के प्रक्रमण तथा नये कैप्स्यूलों की रचना मे मार्ग दर्शन करके सहयोग दिया ।

उक्त कार्यशाला मे चार माड्यूलो के अन्तर्गत 35 कैप्स्यूलो का प्रक्रमण का कार्य किया गया तथा प्राइमरी स्तर के तीन माड्यूलों के अन्तर्गत 22 नये कैप्स्यूल लिखे गये ।

आख्यागत माह में भाषा तथा विषय-वस्तु के सम्पादन का कार्य, चित्र तथा ब्लाक तैयार करने का कार्य भी सम्पन्न कराया गया । इनके अतिरिक्त उक्त माह में स्व-अधिगम सामग्री की छपाई का काम भी प्रगति पर रहा । □

गुजरात

सूचना और प्रसारण विभाग के डायरेक्टोरेट आफ पब्लिसिटी तथा गीत और नाटक विभाग द्वारा अहमदाबाद में 9–12 अक्तूबर, 1984 को राष्ट्रीय एकता समारोह मनाया गया । गुजरात के गवर्नर श्री बी. के. नेहरू ने अपने भाषण में साम्प्रदायिक भावना की बढ़ोत्तरी के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त की । उन्होने कहा कि इस प्रकार की भावना देश की एकता के लिए हानिप्रद है । इस समारोह के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम और संगोष्ठियाँ भी आयोजित की गई ।

अहमदाबाद मयुनिस्पिल स्कूल बोर्ड द्वारा संस्कार में 17 अक्तूबर 1984 को भारत दर्शन शीर्षक से एक शैक्षिक मेला सम्पन्न किया गया । श्री प्रबोध रावल, शिक्षा मत्री ने अपने भाषण में शिक्षकों से कहा कि उन्हें बच्चों को आदर्श नागरिक बनाने में

बड़ा योगदान देना है । उन्होंने शिक्षको से अनुरोध किया है कि वे छात्रों मे जीवन सबंधी मूल्य उत्पन्न करने मे अपना सहयोग दे ।

गुजरात मुख्य मंत्री श्री माधव सिंह सोलंकी ने 8 अक्तूबर 1984 को कहा कि उनकी सरकार कक्षा 1 से 10 तक के छात्रो को दोपहर का खाना देने के लिए बहुत उत्सुक है । यह योजना शीघ्र ही लागू की जायगी ।

चण्डीगढ़

श्रीमती फ्रेनी सतारावाला ने 21 सितम्बर 1984 को बच्चो के लिए एक चार दिवसीय कार्यगोष्ठी का शुभारम्भ किया । इस गोष्ठी मे 325 बच्चो ने भाग लिया और यह गोष्ठी 1 नवम्बर 84 को समाप्त हुई । इसके अतिरिक्त चण्डीगढ रोटरी क्लब और चण्डीगढ चाइल्ड वैलफेयर कौंसिल के साथ मिल कर 23 सितम्बर 84 को 5–14 आयुवर्ग के बच्चो के लिए चित्र प्रतियोगिता का आयोजन किया ।

चिन्तन

माँ बहुत देर से मुन्ने को खाने के लिए बुला रही थी । वह नही आया तो वह स्वयं कमरे मे पहुँची – देखा तो जमीन पर दवात उलटी पडी थी, कापी के पन्ने धूल में लौट रहे थे, और कलम की निब एक कोने मे पडी अपनी किस्मत को रो रही थी । माँ का पारा 110 तक जा पहुँचा । इस लडके के मारे घर मे सफाई कभी नहीं रह सकती, झुँझलाई सी वह चीजे रखने लगी । कापी उठाने को झुकी तो देखा, मुन्ना चारपाई के नीचे पड़ा टुकुर टुकुर देख रहा था । वह तमक कर बोली, "इधर निकल बदमाश आज तेरी हड्डी पसली एक न कर दी तो बात रही ।" मुन्ना डरा, लेकिन बाहर नहीं निकला । "आया नही" माँ बोली । मुन्ना निश्चल पडा रहा । माँ ने उसका हाथ पकड कर बाहर खीच लिया । "हर समय दिमाग आसमान पर रहता है, नालायक कहीं का ।"

मुन्ना अब तक चुप था, अब पैर पटक कर चिल्लाने लगा । माँ ने दो थप्पड और जमाए तो खीझकर मुन्ना ने माँ के हाथ मे काट लिया, खून छलछला आया । माँ झीकने लगी । मुन्ना क्रोध से काँपता, पैर पटकता दूसरे कमरे में जाकर बैठ गया । वह पिताजी से कई दिन से नई कलम लाने के लिए कह रहा है और पिताजी हैं कि लाकर देना तो दूर, लाने की हामी भी नहीं भरते और अम्मा ? बस मारना जानती है.....इधर-उधर से आई और तडातड । मुन्ना की आँखों में आँसू नहीं थे परन्तु होंठ फडक रहे थे और शरीर पीपल के पत्ते की तरह काँप रहा था.....उधर माँ सोच रही थी फिर मुन्ना को हो क्या गया है ।

क्या आपने भी कभी सोचा है कि :

1. बच्चे को क्रोध क्यों आता है ? क्या उसके क्रोध का कारण निराश या भावुकता ही होती है ?
2. क्रोधी बच्चे प्राय: बहुत सी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं जैसे आपस में मार-पीट करना, किसी की किताबे फाड देना, किसी की चीज इधर-उधर कर देना आदि ।

इन समस्याओं के समाधान में शिक्षक क्या योगदान दे सकते हैं ?

आप भी इन प्रश्नों पर कुछ चिन्तन करें और हमें अपने विचार लिख भेजे । हमे आपके पत्रों की प्रतीक्षा है ।

आपके नवीनतम प्रयोगो के विवरण की भी सदा की भाँति हमें प्रतीक्षा रहेगी । हमें अवसर दे कि हम आपके विचार अपने पाठकों तक पहुंचा सकें ।

नियमावली

1 आपके उत्तर लगभग 1000 से 1500 शब्दो तक सीमित होने चाहिए ।

2 आपके सुझावो की दो टंकित अथवा हस्तलिखित प्रतियां (डबल स्पेस) हमे एक माह के अंदर प्राप्त हो जानी चाहिए ।

3. लेख कागज के एक ओर ही लिखा होना चाहिए । बांई ओर तथा ऊपर नीचे चौडा हाशिया भी होना चाहिए ।

4. प्रशंसित सुझावो को हम "शिक्षकों ने लिखा है" स्तम्भ के अतर्गत छापेंगे ।

5. प्रत्येक प्रशंसित प्रकाशित पत्र पर पारिश्रमिक की व्यवस्था है ।

6 लिफाफे पर ऊपर की ओर "चिन्तन" लिखा होना चाहिए ।

आपके पत्र ; समीक्षा और सुझाव

प्राइमरी शिक्षक अपने नये कलेवर में आपके सामने है । इस अंक की कौन-सी रचना आपको अच्छी लगी, कौन-सा लेख उपयोगी है, इसकी समीक्षा आप हमें भेजें । आपकी कौन-सी ऐसी समस्याएँ है जिनका समाधान हम प्राइमरी शिक्षक के माध्यम से कर सकते हैं, हमें बतायें ।

समीक्षा और सुझाव आपका अपना पृष्ठ है । इस स्तम्भ के लिए आप हमें पत्र अवश्य लिखें ।

बाल सृजनात्मक विकास पर एक संग्रहणीय अंक विशिष्ट रचनाकारों के सारगर्भित लेखो के साथ शीघ्र प्रकाश्य जिसके कुछ प्रमुख रचनाकार है –

- डा रमा सिंह
- प्रो. इन्दू दवे
- डा अरविन्द फाटक
- डा सत्या शर्मा
- डा. विजयलक्ष्मी श्रीवास्तव
- डा. यासमीन आयशा अजीज
- श्री अशोक कुमार माथुर

घर मे या गली में खेलते हुए बच्चे को अगर आप देखें, तो वह सचेतन, आनन्दमय, जिज्ञासाकुल, आंखो म चमक व ओठों पर मुस्कानयुक्त दिखाई देगा । वही बच्चा विद्यालय मे थका-थका, एकाकी, डरा-डरा, उकताया हुआ, निष्क्रिय सा, जिसकी आत्मा किसी गहरे कुएं मे उतर गई हो, ऐसा दिखाई देगा । इतना विचित्र दुखद परिवर्तन कैसे आ जाता है ? बालक विद्यालय मे भर्ती क्या होता है, उसकी कल्पना-शक्ति, सर्जन-शक्ति, अन्त -स्फूर्ति आदि तमाम उच्च शक्तियाँ क्रमश. एक के बाद एक विदा होने लगती है । विद्यालय उसे कसाईघर लगने लगता है । यहा पर उसके जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व – स्वछन्दता पूर्वक विचरण का आनन्द – उससे जबरन छीन लिया जाता है । यही नहीं, घंटों-घंटों तक विद्यालय में उसे कैद रख कर प्रकृति ने उसके विकास हेतु जो उपकारक तत्व प्रदान किये थे, वे सब हथिया लिये जाते हैं । इस प्रकार बालक के मन व शरीर को ऐसा क्षतिग्रस्त किया जाता है जिसे कभी पूरा नही किया जा सकता ।

. बाल सम्मान को बुनियादी तत्व मानते हुए उसकी स्वतत्रता की दिशा में ठोस व स्थाई कदम उठाने की आज शालाओ को जरूरत है । स्वतंत्रता प्रयोगो का प्राण है । जिस दिन प्रत्येक शाला शिक्षण की प्रयोगशाला बन जायेगी उस दिन शालायें प्रगति की दौड मे पीछे नही रहेगी । मनोविनोद व आनन्द को शिक्षण का विरोधी मानना भयंकर भूल है । जहाँ स्वतंत्रता है, वही प्रेम भी है । स्वाभाविक विकास ही मूल बात है ।"

– टालस्टाय

प्राइमरी शिक्षक

वर्ष 9 अंक 3 जुलाई, 1984

इस अंक मे

आगामी अंक के कुछ आकर्षण

प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य प्राप्त हो तो कैसे ?	श्रीमती प्रीतवन्ती महरोत्रा
प्राथमिक स्तर पर निदेशन उपबोधन की आवश्यकता	डा (श्रीमती) इन्दू दवे
परिवर्तन क्या – क्या परिवर्तन ?	डा. सरोजिनी विसारिया
प्राथमिक शिक्षा एक दृष्टि	श्रीमती सुशीला प्रकाश

इसके अतिरिक्त अन्य सभी स्थाई स्तम्भ :

शिक्षकों ने लिखा है

आपके पत्र समीक्षा और सुझाव

चिन्तन आदि

भाषा शिक्षण – आयाम और संदर्भ

☐ डा. कृष्ण गोपाल रस्तोगी

विद्यालयो मे भाषा दो रूपो मे पढाई जाती है । छोटी कक्षाओ में वह भाषा के रूप मे पढाई जाती है और बडी कक्षा मे साहित्य के रूप मे । पर दोनो स्तरों पर इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि अन्य विषयो की तरह ही भाषा का शिक्षण किया जाता है । इस प्रकार भाषा के केवल एक आयाम और संदर्भ का ध्यान रखा जाता है और भाषा की व्यापकता की उपेक्षा की जाती है । वास्तव मे, भाषा उतनी ही व्यापक है जितना जीवन । लोक जीवन में भाषा को जीवन का पर्याय माना गया है । किसी के संसार छोड़ने पर यह कहा जाता है कि उसका बोल बंद हो गया है । वास्तव मे, भाषा बहुआयामी है ।

सुनना, बोलना, पढना और लिखना व्यवहारो के रूप मे भाषा कौशल है । पर इस स्थिति मे भाषा विचार-विनिमय का साधन नही बन पाती । प्राय: देखा गया है कि अनौपचारिक और औपचारिक सभी प्रकार के प्रसंगो मे लोग एक-दूसरे की बात को बिना सुने और समझे ही बोलते रहते है जिसके कारण परस्पर विचार-विनिमय नहीं हो पाता । भाषा शिक्षण कार्यक्रम के अतर्गत ये चारो कौशल अलग अलग सिखाए जा सकते है ।

जब सुनना, बोलना, लिखना और पढना का परस्पर संबध स्थापित हो जाता है तब वह विचार-विनिमय का साधन बन जाती है । किसी बात को सुनकर और समझकर इसका उत्तर देने ही से सम्प्रेषण क्रिया चल पाती है । भाषा शिक्षण मे इस प्रकार के अवसर छात्रो को प्रदान करने चाहिए । केवल शब्दों के अर्थ बताने और उन्हे वाक्यो मे प्रयोग करने पर ही भाषा शिक्षण नहीं रुक जाना चाहिए ।

भाषा शिक्षा का माध्यम है । यह भली प्रकार प्रमाणित हो चुका है कि विद्यार्थी की शैक्षिक सप्राप्ति और भाषा योग्यता का घनिष्ठ सबंध है । यह निष्कर्ष प्राथमिक स्तर के लिए तो अत्यंत महत्वपूर्ण है । पर इस बात के लिए न तो भाषा शिक्षण मे और न अन्य विषयों के शिक्षण मे प्रयास किया जा रहा है । प्रारभ से ही अध्यापक भाषा और विज्ञान, सामाजिक अध्ययन तथा पर्यावरण अध्ययन मे विलगाव रखते है ।

भाषा एक कला है । जिस प्रकार हम जीवन जीते है और जीवन मे हमें अनुभूतियां प्राप्त होती है उसी प्रकार भाषा को भी जीना होता है, उसे अनुभव करना होता है । अनुभूति भाषा के माध्यम से अनुभूतियो की अभिव्यक्ति साहित्य का निर्माण करती है जिसमे शैली और सृजनात्मकता दोनो होते है । भले ही हर व्यक्ति साहित्य की रचना न करे पर भाषा के कलात्मक रूप साहित्य का आस्वादन तो हर एक को करना ही चाहिए । फिर, दैनिक जीवन को रसपूर्ण बनाने के लिए भी भाषा के कलात्मक रूप की आवश्यकता होती है ।

भाषा एक विज्ञान है । वर्ण, शब्द, पदबंध, वाक्य और प्रोक्ति सभी स्तरो पर विज्ञान की भाति भाषा का विश्लेषण किया जाता है । जिस प्रकार वैज्ञानिक विषयवस्तु मे व्यवस्थाएं और उप-व्यवस्थाएं है इसी प्रकार भाषा मे भी विभिन्न स्तरो पर व्यवस्थायें और उप-व्यवस्थाये होती है । दूसरे शब्दो मे भाषा विभिन्न उप-व्यवस्थाओ की व्यवस्था है ।

भाषा एक इतिहास है । प्रत्येक भाषा समय के साथ बदलती

रहती है । यह बदल अनायास होता है परन्तु अकारण नही । इतिहास की घटनाओ के समान भाषा मे होने वाले परिवर्तनो और विकास के निश्चित कारण होते है । भाषा का विकास अपनी व्यवस्था और उप-व्यवस्था के संदर्भ मे ही होता है, स्वच्छंद रूप मे नही ।

भाषा एक भूगोल है । जिस प्रकार संसार मे विभिन्न प्रकार के क्षेत्र है और उन प्रदेशो की भौतिक प्रकृति, जलवायु, वनस्पति आदि भिन्न है उसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रो की भाषाये भी भिन्न हैं । भौगोलिक तथ्यो की भाति भाषाओ की भिन्नता भी परस्पर सम्बद्ध होती है । विभिन्न भाषाओ की ध्वनियाँ समान होने पर भी उनकी सहायता से निर्मित विभिन्न उप-व्यवस्थाए अर्थात ध्वनियो को मिलाकर शब्द बनाने की प्रक्रिया, वाक्य विन्यास आदि तथा मुहावरो लोकोक्तियो की सरचना वहा के भौतिक और सामाजिक वातावरण पर निर्भर करती है ।

भाषा समाज-शास्त्र है । भाषा के माध्यम से समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष की जानकारी की जा सकती है । भाषा का कलात्मक रूप साहित्य तो समाज का दर्पण है ही । किसी भाषा के शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियां, वाक्य विन्यास आदि सामाजिक सदर्भ मे जन्म लेते है । उनके आधार पर समाज की जानकारी की जा सकती है ।

भाषा मनोविज्ञान है । किसी व्यक्ति की भाषा को सुनकर उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है । अंग्रेजी की कहावत हैं – आप बोलिए और मै आपको जान जाऊँगा । भाषा की सहायता से व्यक्तित्व को बदला भी जा सकता है ।

विद्यालयो मे कक्षा 1 से लेकर 12 तक भाषा शिक्षण के कार्यक्रम के अतर्गत भाषा के उपर्युक्त सभी आयामो को स्थान मिलना चाहिए । सुविधा की दृष्टि से कहा जा सकता है कि कक्षा 1 से 8 तक भाषा कौशल, विचार विनिमय का साधन, शिक्षा का माध्यम, कला, मनोविज्ञान और विज्ञान के रूप में पढाई जानी चाहिए और कक्षा 9 से 12 तक उसके इतिहास, भूगोल, और समाज-शास्त्रीय रूपो को स्थान मिलना चाहिए । पर कक्षा 1 से 5 तक भाषा कौशल, विचार-विनिमय का साधन, शिक्षा का माध्यम, मनोविज्ञान और कला के रूप मे पढाई जानी चाहिए ।

कौशल के रूप मे शिक्षण कार्यक्रम के अतर्गत सुनना, बोलना, पढना और लिखना चारो व्यवहारों पर ध्यान देना आवश्यक है । विद्यालयो मे "सुनना और बोलना" की उपेक्षा की जाती है । केवल पढने और लिखने पर ध्यान दिया जाता है । भाषा अधिगम का मूल रूप सिद्धांत यह है कि शिक्षार्थी जैसी भाषा सुनेगा वह वैसी ही भाषा बोलेगा । इसी प्रकार सुनी हुई भाषा का प्रभाव पढने की योग्यता के विकास मे और बोली हुई भाषा का प्रभाव लिखित अभिव्यक्ति पर पडता है । साथ ही सुनी हुई, बोली हुई और पढी हुई भाषा किसी व्यक्ति की लिखित भाषा का रूप निर्धारित करती है । इससे यह स्पष्ट है कि भाषा शिक्षण उपक्रम मे किसी भी व्यवहार की उपेक्षा करना उचित है । साथ ही यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थियों में इन कौशलो का विकास करते समय एक दूसरे से सहायता ली जानी चाहिए ।

प्राथमिक कक्षाओ मे भाषा को विचार-विनिमय के माध्यम के रूप मे भी पढाना चाहिए । इसके लिए आवश्यक है कि पहले श्रोता कही हुई बात को ध्यानपूर्वक सुने और समझे और तब उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करे । इसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि पाठक पहले लिखित वस्तु को पढकर समझ ले और उसके बाद ही उसके प्रति प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करे । प्राय यह देखा गया है कि छोटी-बडी गोष्ठियो मे किसी एक वक्ता के बोलते समय उसके बाद बोलने वाला वक्ता उसकी बात नही सुनता और उस समय वह यह सोचता रहता है कि जब पहला वक्ता अपनी बात समाप्त करे तो वह अपनी बात कहे । ऐसी स्थिति मे भाषा विचार विनिमय का साधन नहीं बन पाती । सफल विचार-विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि विचार-विनिमय करने वाले सभी व्यक्ति यह अनुभव करें कि किसी भी विचार के विकास मे उन सभी का योगदान है, इसमे किसी की हार जीत का प्रश्न नही । इसका यह तात्पर्य नही है कि विचार-विनिमय करते समय केवल एक दूसरे की बात को सुनते ही रहें । वास्तव मे, विचार-विनिमय सूचनात्मक, आलोचनात्मक और सृजनात्मक तीनो स्तरों पर होना चाहिए । इसी प्रकार के विचार-विनिमय का अभ्यास विद्यालयो की प्राथमिक कक्षाओ मे पर्याप्त रूप मे देना चाहिए ।

भाषा शिक्षण इस रूप मे भी होना चाहिए कि वह शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपना उत्तरदायित्व पूरा कर सके । इसके लिए प्राथमिक स्तर पर विज्ञान, सामाजिक अध्ययन तथा पर्यावरण अध्ययन और भाषा को एकीकृत करना आवश्यक होगा । भाषा शिक्षण करते समय अध्यापक का यह कर्तव्य है कि वह शक्ति-उर्जा-

बल और कंपन-दोलन आदि पर्यायवाची शब्दो का अंतर स्पष्ट करे । वह यह भी बताए कि ''खीचना'' क्रिया की दिशाएँ – आगे (बैलो ने गाडी खीची), ऊपर (मैने कुएं से पानी की बाल्टी खीची), नीचे (मैने छत से लटकी हुई रस्सी खीची), दाएँ-बाएँ (मैने रबड को खीचकर नापा) । कितनी और किस ओर है । भाषा शिक्षण के अंतर्गत ''गलना'' और ''सडना'' की रासायनिक प्रकृति बताने की आवश्यकता तो नही है पर यह बताना उपादेय है कि क्रियाओ के कर्ता ''गलना'' मे कोई सख्त चीज पानी मे रहने के कारण मुलायम हो जाती है, उसमे दुर्गंध नहीं आती और ''सडना'' मे वस्तु की प्रकृति मे अन्तर आ जाता है और उसमे दुर्गन्ध आने लगती है । जब तक इस प्रकार का सहयोग भाषा और अन्य विषयो मे नहीं होता तब तक भाषा शिक्षा का माध्यम बनने का उत्तरदायित्व पूरा नही करती । इसके लिए प्राथमिक स्तर के सभी कक्षाओ के लिए केवल एक पुस्तक ही बनाई जाए जिसमे इन सब विषयों को एकीकृत रूप मे रखा जाए । हॉ, गणित की पुस्तक निस्संदेह अलग होगी क्योकि भाषा की भांति वह भी जीवन और जगत को देखने का एक भिन्न माध्यम है । निस्संदेह, गणित को समझने के लिए भी भाषा की योग्यता आवश्यक है । इसलिए भाषा और गणित का एकीकरण भी आवश्यक है पर वह भिन्न रूप मे होगा ।

प्राथमिक कक्षाओ मे भाषा एक कला के रूप में भी पढानी चाहिए । भाषा का कलात्मक रूप दैनन्दिन बातचीत मे भी देखने को मिलता है । पर इसके उत्कृष्ट कलात्मक रूप के दर्शन साहित्य मे ही मिलते है । कहानी, कविता, संवाद, संस्मरण, अनेक छोटी साहित्यिक विधाए है जिन्हें प्राथमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम मे स्थान दिया जाता है । ऐसे पाठों को पढाते समय वैचारिक विषयवस्तु के साथ-साथ भाषा पर विशेष ध्यान देना चाहिए । इससे विद्यार्थियो मे भाषा का विकास तो होगा ही, साथ ही वे भाषा की सहायता से वैचारिक विषयवस्तु को भी और अच्छी तरह समझ सकेंगे । साहित्य के अतिरिक्त, बालक जो भाषा घर पर या खेल के मैदान मे बोलते है उसमे से अनेक कलात्मक अभिव्यक्ति के उदाहरण लिये जा सकते है और शिक्षण सामग्री के रूप मे उनका उपयोग किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, 'कमीज के बटन लगा लो ।' 'कमीज के बटन नही लगाए ।' 'कमीज के बटन तो लगा लिया करो ।' 'कमीज के बटन तो लगते ही नही ।' 'कमीज के बटन क्या बेच खाए ?' वाक्यो मे एक ही बात को कई ढग से कहा गया है । इस प्रकार के उदाहरणों का प्रयोग शिक्षण सामग्री के रूप मे किया जा सकता है ।

प्राथमिक कक्षाओ में भाषा को इस रूप मे भी पढाना चाहिए कि वह विद्यार्थी के व्यक्तित्व का अंग बन जाये । बालक अपने घर मे, विद्यालय मे, सडक पर, खेल के मैदान मे, अपने विभिन्न सदर्भों मे अपने से बड़ो, बराबर वालो और छोटो के सम्पर्क मे आता है । उनसे भाषा के माध्यम से अपने सम्पर्क स्थापित करता है । बालको को इस प्रकार के अभ्यास देने चाहिए जो उन्हे इस प्रकार का अनुभव प्रदान करे कि उन्हे किस संदर्भ मे किसी बात को किसी भाषा मे किस ढग से कहना चाहिए ।

भाषा शिक्षण को एक आयाम की सीमा से बहुआयामी बनाने से भाषा का अध्ययन – अध्यापन रोचक होगा और साथ ही वह जीवन से संबद्ध हो जाएगा । इसमें संदेह नहीं कि जो शैक्षणिक पद्धति शिक्षण उपक्रम को रोचक बनाने और उसे जीवन से संबद्ध करने मे सक्षम है, श्रेष्ठ पद्धति है । □□

सुन्दर अक्षर रचना विधि

☐ श्रीमती शान्ती श्रीवास्तव

बाह्य रूप रेखा के चरणों को पार करती हुई मानव की रागात्मक प्रवृत्ति उस असीमित स्थल मे जाकर व्याप्त हो गई जहां पर भावों और भाषा के सौन्दर्य का राज्य है ।

मानव का सौन्दर्य केवल विषय की सीमित रेखाओ तक ही सीमित नहीं वरन् सौन्दर्य का वास्तविक रूप जीवन के अन्त करण मे स्थित है । हृदय के भावो को समझने तथा स्वय के भावो को व्यक्त करने का सरलतम साधन है – भाषा ।

आदिकाल मे मनुष्य असभ्य था और भाषा से अपरिचित था, उस समय भी उसके पास भावाभिव्यक्ति का साधन विद्यमान था । वह था सकेत – उसके पश्चात ध्वनि के साथ वस्तु का सामजस्य होने से ध्वनि अथवा अस्फुट स्वर ही भावो को व्यक्त करने के साधन रहे । तत्पश्चात रेखाओ व चित्रो द्वारा अपने भाव प्रकट करने का युग आया और फिर उन्ही रेखाओ के तोड-जोड की प्रतिक्रिया स्वरूप वर्णमाला के यह अक्षर बने । परन्तु यही पर तो इसका उद्देश्य समाप्त नहीं होता क्योकि केवल मात्र कार्य करना ही नही, करना और सुन्दरता से करना ही उचित है । और फिर सम्भवत: मानव सृष्टि की सुन्दरतम् रचना है । उसे अन्य प्राणियो की अपेक्षा सौन्दर्य बोध अधिक होता है । ससार की सुन्दर वस्तुओ ने उसका मन लुभाया । उन पर वह रीझा और उसी की सुन्दरता के मनोरम सपनो का जाल वह जीवन भर बुनता रहा ।

प्रकृति के सुन्दर रूप ने मानव को इतना आकर्षित किया कि वह साहित्य मे भी स्थान पा सका । मनुष्य को आदिकाल से ही सुन्दर वस्तुओ तथा वस्तु के सुन्दर भाग का अधिक ध्यान था । आदिकाल के भोज पत्र के लेख आज के सुविधापूर्ण यन्त्रो के होते हुये भी शतगुना अधिक सुन्दर है ।

पुरातन युग के वाड्गमय का एक विशाल अंश लेखन कला से ही सुरक्षित रह सका है । मुद्रण कला के प्रचार से लिपि के सौन्दर्य का महत्व आज कम हो गया है । मुद्रण ने लेखन की कला को निष्प्राण कर दिया है । उर्दू,अग्रेजी के घसीट अक्षरो का प्रभाव नागरी की सुन्दरता को विनष्ट करने का साधन सिद्ध हुआ है । लोग हिन्दी को भी आज घसीट कर लिखने मे ही अधिकतर अपना गुण समझने लगे है । फिर भी सुन्दर लेख की महिमा पूर्णत: नष्ट नही हुई और न हो सकती है । आज के कुछ मनोवैज्ञानिक तो अक्षरो की लिखावट देखकर मनुष्य की प्रकृति तथा प्रवृत्तियो को जानने का प्रयत्न कर रहे है । किसी की अक्षर रचना पर दृष्टिपात कर यह भी बताया जा सकता है कि व्यक्ति प्रभावी है या कार्य कुशल । लिपि की समुचित शिक्षा से ज्ञानवृद्धि के साथ ही मानव के चरित्र निर्माण मे बहुत कुछ सहायता भी मिलती है । बालक यदि प्रारम्भ से सावधान होकर शुद्ध और सुन्दर लिखने का अभ्यास करे तो आगे चलकर एकाग्र होकर वह किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक कर सकेगा ।

अब हमे यह देखाना है कि सुन्दर लिखने का अभ्यास किस प्रकार दिया जाये । क्या वास्तव मे हमारी भाषा सुन्दर ढग से लिखी जा सकती ? इस विषय पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा – तभी तो हम यह विचार प्रकट करने में समर्थ होगे कि किस प्रकार से इस भाषा के सुरचना लेखन का अभ्यास दे ।

देवनागरी लिपि वास्तव में सुन्दरतम् सर्वगुण सम्पन्न वैज्ञानिक लिपि है । यह शुद्ध भी है । जो लिखा जाता है वह पढ़ा भी

जाता है – **"श"** को "श" **"क"** को **"क"** ही पढा जाएगा । अंग्रेजी की भाँति सी से कभी **"स"** कभी **"क"** की ध्वनि निकले और सीएच से कभी **"च"** और कभी **"छ"** की ध्वनि निकले ऐसी सम्भावना इसमे नही है । परन्तु कुछ लोगो का कथन है कि शिरोरेखा न लगाई जाए परन्तु इस दोष का सुन्दरता के साथ परिहार किया गया, प्रथम तो यह – कि शिरोरेखा ही सौन्दर्य का संवर्धन करती है । हटा देने से वह सुन्दरता चली जावेगी ।

अत यह सिद्ध हो गया है कि नागरी ही ऐसी लिपि है जिसकी शिक्षा दी जानी चाहिए । जब यह स्वय ही सुन्दर है तो इसके विभिन्न अक्षरो के समुचित अभ्यास से इस उद्देश्य की पूर्ति सरलता से हो सकेगी ।

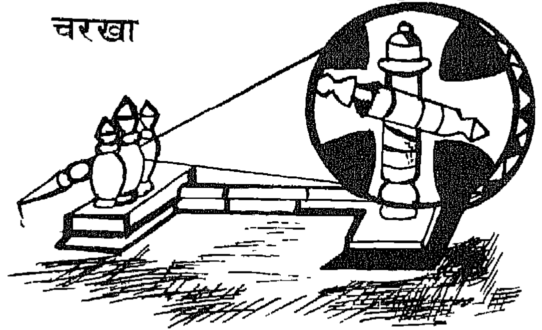
सुन्दर अक्षर रचना से लेख तो सुन्दर होता ही है साथ ही प्रभावी भी सिद्ध होता है "सीताराम चतुर्वेदी के शब्दो मे लिपि · "प्रशस्ता सुमनोलतेव केषा न चेतासिमुदा विभर्ति ।" (फूलो वाली लता के समान सुन्दर लिपि किसको मोहित नही करती)" वास्तव में यह उक्ति सर्वथा ही – सत्य है अत सुन्दर अक्षर रचना के हेतु पर्याप्त अश मे प्रयास करना चाहिए ।

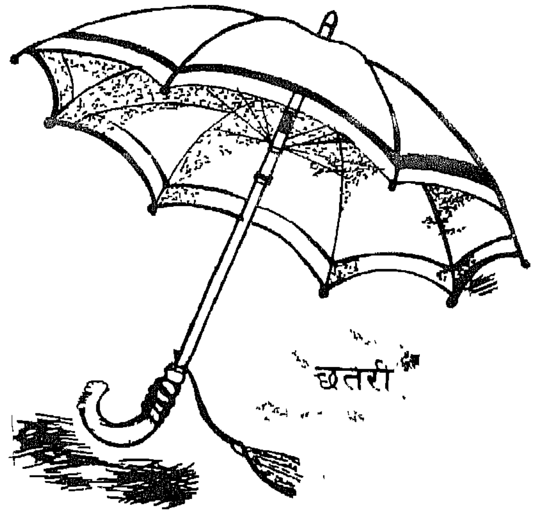
बच्चों को अक्षर परिचय कैसे प्रारम्भ कराया जाये, इसे भी देख लेना चाहिए । प्राचीन परिपाटी तो यह है कि पहले अक्षर और मात्रायें सिखाई जाती है वह भी वर्णमाला **"क" "ख" "ग"** को अपनाकर । तदुपरान्त उनके मिलावट से शब्द बनवाए तथा लिखाये जाते हैं और अन्त मे अनेक शब्दो से वाक्य बनाने की शिक्षा दी जाती है ।

इस क्रम से पढने और लिखने का अभ्यास साथ साथ कराया जाता है । साधारणत. देखने में यह उचित भी जान पडता है कि अक्षरो से शब्द और शब्दो से वाक्य बनते है अत· सबसे छोटा अश लेकर वर्णरचना की शिक्षा प्रारम्भ की जाये ।

किन्तु आधुनिक शिक्षाशास्त्री इस ढग से प्रदान की गई अक्षर रचना की शिक्षा को मनोवैज्ञानिक नही मानते । उनका कथन है कि अक्षरो का बच्चो के लिए शब्द या वाक्य से विलग कोई अर्थ नही है कोई अस्तित्व नही – इसलिये बच्चो को अक्षर परिचय शब्द या वाक्य से करना चाहिए । जैसे यदि **"क"** पढाना है तो "कलम" "कबूतर" "कटोरा" आदि श्यामपट पर लिख दिए जाएं । प्रदर्शक दण्ड से उन अक्षरो को दिखाते हुये धीरे धीरे शिक्षक भी पढे और बालको से भी पढवाए । तीनो शब्दो मे आए **"क"** की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करे इसी प्रकार दस पाँच शब्दो को देखने के अनन्तर वह **"क"** पहचानने लगेगे ।

यदि अध्यापक बिना मात्रा वाले ऐसे शब्द चुने जिनमे अक्षर तो वही हो पर उनका क्रम भिन्न हो जैसे **"कलम" "कमल" "गमन" "मगन"** आदि तो एक साथ ही बच्चो का परिचय अनेक अक्षरो से हो सकता है । आजकल की वर्णमाला मे (पुस्तको मे) जब **"च"** माने चर्खा **"छ"** माने छतरी दिया रहता है तो उसमें ऊपर चित्र और नीचे शब्द देखकर जब बच्चे अक्षर का परिचय पाते होता है । जैसा इन चित्रो मे है –





कुछ शिक्षा शास्त्री तो शब्दो से भी आगे बढकर वाक्यो से अक्षर बोध कराने की प्रणाली उचित बताते है । परन्तु इस प्रक्रिया से शब्दों और वाक्यो के चुनाव मे कठिनाई पडती है ।

अत: शब्दो के द्वारा पढाने का माध्यम मार्ग अधिक सरल है ।

वर्णमाला के सरलतम् अक्षरो से लिखना सिखाना चाहिए । **"ग" "म" "न"** आदि से प्रारम्भ करे फिर "र" "ण" "स" आदि पढाए फिर गोलाई वाले **"ट" "ठ" "ढ"** सिखाए । अक्षरो की लेखन सरलता के क्रम से वर्णमाला के अक्षरो की शिक्षा देनी चाहिए तत्पश्चात मात्राए और अन्त मे सयुक्ताक्षरो का अभ्यास कराना चाहिए ।

प्रारम्भ मे लिखना सिखाने के लिये अनेक प्रणालियाँ प्रचलित है — (1) पटरी पर सूखी खडिया से अक्षर लिख दिया जाता है और बच्चे रेखाओ से हाथ फेरते हुये लिखते है
जैसे – क

कागज की दफितयो में कभी-कभी बडे-बडे साँचे बने रहते हैं उनके नीचे कागज रखकर भी रग-बिरगी पेसिल से बच्चे अक्षर बनाते है ।

अक्षरो के बीच मे जो अलग-अलग टुकडे बन जाते है उनके चारो ओर रेखा खीचने से भी अक्षरांश लेखन का अभ्यास बढ़ता है ।

वर्णलेखन का कुछ अभ्यास हो जाने पर श्यामपट पर खड़िया से धुधले अक्षर लिख दिये जाते है जैसे –

अ आ   अ   आ

इसी पर बच्चा खडिया फेरकर चटकीला रूप प्रदान करता है ।

कुछ शिक्षा शास्त्रियो का मत है कि इन प्रणालियो से अक्षर रचना के लिये उपयोगी व्यापार का अभ्यास बढता है ।

छोटी चौकी या पटरी पर बालू या मिट्टी बिछाकर बराबर कर दिया जाता है । श्यामपट पर बच्चो के सामने अक्षर लिखा रहता है बालक उसे देखकर कभी उंगली कभी लकडी से वैसा ही शब्द बनाने का प्रयास करते है ।

इसके अतिरिक्त चित्रावली ऐसी पुस्तको से भी जिनमे चित्रो के नीचे नाम और अक्षर लिखे रहते है बच्चे अक्षरो का परिचय पाते है और उन्हे लिखने का प्रयत्न करते है । कभी ऐसी ही पुस्तको मे पद्य भी लिखे रहते है और पद्य का पहला अक्षर वह होता है जो सिखाना होता है ।

इसी प्रकार का यह एक चित्र है –



रघुपति राघव राजाराम , पतित पावन सीताराम ।

पडित लज्जाशकर झा जी ने – एक अन्य प्रणाली का भी निर्देश किया है । उक्त पोथी मे चित्र है, प्रत्येक चित्र के नीचे ऐसे पद्य रहते है जिनमे अक्षर लिखने की विधि छ बताई रहती है । **"ग"** पढाने के लिए "गणेश" का चित्र है और "ग" लिखा है । नीचे का पद्य इस प्रकार है –

एक छडी तुम खडी बनाओ,
उसके तले गेंद लटकाओ   **ग**
खडी छडी अब आगे रख दो,
"ग" गणेश का तुम यो लिख दो ।

ऐसी प्रणालियो से लिखने का नीरस काम बच्चो के लिये बोझा न होकर रोचक हो जाता है बालक लिखते भी चलते है, अभ्यास भी करते चलते है । खेल खेल मे बहुत कुछ सीख जाते है ।

किडर गार्डन या बालोपान की विधि भी ऐसी ही होती है जिसके द्वारा सुन्दर अक्षर सीखने मे बच्चो को कठिनाई नही होती । खेल खेल मे खिलौना और लकडी के टुकड़ो के सहारे अनेक खेल खेलते हुये बच्चे अक्षर लिखने मे कुशल हो जाते हैं ।

मॉटेसरी प्रणाली में भी इसी प्रकार खेल खेल मे बच्चे अक्षर रचना सीख लेते है ।

अब हम देखेगे कि सुन्दर अक्षर रचना विधि क्या है ? अक्षर रचना की सुन्दरता के क्या उपयोगी साधन है । नागरी लिपि कलापूर्ण और सुन्दर है । अत लिखना सिखाने के आरम्भिक काल से उन बातो की ओर ध्यान देना शिक्षक का कर्तव्य है जिनकी सहायता से वह सुन्दर और शुद्ध लिखने का छात्रो को अभ्यास करा सके । इसके लिये निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना अत्यन्त

आवश्यक है । **श्री करूणापति त्रिपाठी** – ने 'भाषा शिक्षण' मे लिखा है – बैठने का ठीक ढग, लिखते समय कलम पकडने का ठीक ढग, अक्षरो का सुन्दर विन्यास और अक्षरो की सुन्दर और सुडौल रचना ।

प्रारभिक कक्षाओ मे, प्राय: बालकों को भूमि पर बैठकर ही लिखना पडता है । धनाभाव के कारण ढालूदार चौकियो की व्यवस्था अभी सम्भव नही अत: बालक जब भी बैठें उनकी रीढ की हड्डी सीधी रहनी चाहिए उन्हे कमर सीधी करके बैठना चाहिए । छाती झुका कर बैठना बालको के लिए हानिकारक होता है अत. विद्यार्थियो को कापी या तख्ती आँखों से एक फुट दूरी पर रखनी चाहिए तथा कमर सीधी कर बैठना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त कलम यदि सुन्दर बनी होगी तब ही लेख भी सुन्दर हो जायेगा । आरभिक अवस्था के बालको के लिये नरकुट की लेखनी इतनी मोटी होनी चाहिये जिससे आध इच के सानुपात और सुडौल अक्षर लिखे जा सकें । इनकी जीभ 45 पर इस ढग से कटी हो जो लिखते समय तख्ती अथवा कागज पर ठीक ठीक बैठ जाए । और सुन्दर अक्षरों की इस प्रकार रचना हो –

अ क ग ङ ल ह स श

नागरी लिपि सुन्दर तो है ही अत. इसके अक्षरो को इस प्रकार लिखना चाहिए कि देखने मे सुन्दर लगे । अक्षरो का नेत्र रजक होना अनिवार्य है प्रत्येक अक्षर की बनावट सुन्दर हो और यदि हम उ इस प्रकार लिखे तो असुन्दर लगता है परन्तु पतला मोटा लिखकर उ भी सुन्दर बन सकता है जैसे — उ उ इसी प्रकार यदि हम अ लिखे तो सुन्दर रूप होगा —

'अ' इसी को यदि अगो के अनुपात का ध्यान न रखकर लिखा जाए तो वह रूप ''अ'' इस प्रकार का होगा ।

देखने मे ही कितना बेढगा जान पडता है अक्षरो के आकार तथा उनकी लेखन गति के संबंध मे विशेषज्ञो का कथन है कि अक्षर बडे बडे और सुस्पष्ट होने चाहिए उनमे आकार साम्य हो अर्थात् कोई अक्षर बडा कोई छोटा न हो जैसे – **मेरे लिए पुस्तक लाओ ।** इसे हम सुन्दर लेख नही कह सकते सब अक्षर इस प्रकार बराबर होने चाहिए । **मेरे लिये पुस्तक लाओ ।**

अत. लिखावट जहाँ तक सम्भव हो आदर्श लिपि के समान होनी चाहिए । इसके लिये अध्यापक को छात्रो के सामने उनकी कापियो पर अनुकरणीय अक्षर इस ढग से लिखने चाहिए जिससे छात्र लेखनी की गति को देख सके । उनकी अनुकरण वृत्ति सदा जागरूक रहती है । अत: सुन्दर अक्षर की बनावट की विधि को देखते हुये उसका अनुकरण करना और सुलेखन सीखना बालको के लिये सरल होगा । पहले शिक्षक को कभी कभी श्यामपट पर सुन्दर वाक्यो की प्रतिलिपि लिखाते रहना चाहिए । इस प्रकार अपनी उन्नति को देखकर बच्चो का उत्साह भी बढेगा तथा वे अधिक मनोयोग से अक्षर बनावेंगे ।

इसी प्रकार जो अश जैसा हो वैसा लिखने का आरम्भ से ही बालको को अभ्यास कराना चाहिए । पक्ति के सभी अक्षर सीधे हो टेढे अथवा झुके चौकोर अथवा गोल मटोल न हो । जैसे – टेढा रूप ।

टेढारूप ''क'' **''क''** सीधा रूप ।

अनुलिपि की ऐसी कॉपिया लेकर जिनमे ऊपर की पक्ति सुन्दर और मोटे अक्षरो मे छपी रहती है शिक्षक को विद्यार्थियो को अनुलिपि के निमित्त देनी चाहिए ।

इसी प्रकार श्रुति लेख मे भी अध्यापको को ध्यान रखना चाहिए कि बालको के अक्षर सुडौल तथा सुन्दर हो । यह कार्यक्रम पाँचवी तथा छठी कक्षाओ मे होना चाहिए । अनुलिपि तथा प्रतिलिपि की क्रिया भी तभी प्रारम्भ हो जब तख्ती पर लिखने मे विद्यार्थी अभ्यस्त हो चुके हो । प्रथम अवस्था मे अनुलिपि आदि का कुछ कुछ अभ्यास कराना प्रारम्भ कर देने से ही लाभ होता है ।

लिपि को व्यवस्थित बनाने के लिये कुछ बातें और भी ध्यान मे रखनी चाहिए ।

1. कागज के चारो ओर बाए दाए स्थान छूटा हो ।
2 दो शब्दों के बीच मे कम से कम ''दो'' ''एम'' का स्थान छूटा हो, दो पक्तियो के बीच मे एक पक्ति की मोटाई का अन्तर छूटा हो ।

मान लीजिए निम्नलिखित कोष्ठक मे जितना बडा कागज हो उसमे इस प्रकार लिखना चाहिए –

देश द्रोह सबसे बडा अपराध और पाप है । देश द्रोही का कभी कल्याण नही हो सकता ।	देश द्रोह सबसे बडा अपराध और पाप है । देश द्रोही का कभी कल्याण नहीं हो सकता ।

यही पर लिखावट के व्यवहारिक पहलू पर विचार कर लेना चाहिए । नागरी अक्षरो के ध्वन्यनुकूल होने के कारण वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त करते ही बालक बोली हुई सभी बाते लिख सकता है । परन्तु हमारी वर्णमाला के कुछ ऐसे अक्षर है जिनके उच्चारण में व्यापक अशुद्धि दिखाई पडती है । इन अशुद्धियो का परिष्कार उन शब्दो के बार बार लिखवाने से भी हो सकता है जिनमे वे अक्षर आते है, जैसे – ऋषि, ज्ञान, ऋगवेद आदि । तभी अक्षरो के उच्चारण के साथ साथ बच्चे उसे सुन्दरता सुचारूता से लिखकर उसे सवर्णता प्रदान कर सकेगे । इसके लिए शिक्षक को भी प्रयत्नशील होना चाहिए कि वह सुन्दर अक्षर रचना करने का अभ्यास करा सके ।

उपरोक्त बातों का तथा तथ्यो का निरूपण करने से ज्ञात हुआ कि वर्तमान समय में लेखन कला की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता । अन्य कलाओ की भाँति यह भी लुप्त हो रही है ।

परन्तु प्राचीनता या अतीत गौरव को किसी प्रकार लौटाने का प्रयत्न करना ही चाहिए । अत यह कार्य अभ्यास से ही आरम्भ कर उपरोक्त बातो को ध्यान मे रखते हुये करना चाहिए अथवा बच्चो से करवाना चाहिए । नवीन अक्षर रचना की विधियो से वह परिचित हो कर सुन्दर अक्षर रचना कर सकेगे । हमे अतीत की उस सुन्दरता को, उस कला को नष्ट नही करना है वरन् उसी से उसको पुन प्राणसचारित करने के लिये उत्साहित करना है ।

आज के शिक्षक यदि इस हेतु प्रयत्नशील न होगे तो लिपि का तो नाम मात्र ही अवशेष रहेगा । कदाचित पुन· चिन्ह ही हमारे सम्मुख आवेगे और वह चिन्ह भी कैसे ? जो स्वय ही अपने उद्देश्य की पूर्ति न कर सके ।

अत· भाषा को सुन्दरता का परिधान पहनाने हेतु यह आवश्यक है कि सुन्दर हृदयग्राही अक्षरो का उसमे समावेश हो सुन्दर अक्षर रचना ही भाषा की डाली मे पुष्प खिला, उसे अद्वितीय शोभा एव सुन्दरता प्रदान कर सकेगी ।

□□

खेल खेल में लेख

☐ सोम दत्त दीक्षित

भाषा की शिक्षा वास्तव मे न केवल सब प्रकार की शिक्षा का आधार है बल्कि सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा है । प्रत्येक विषय का ज्ञान वाचन अथवा लेखन द्वारा प्राप्त होता है । भाषा के ज्ञान मे मूलत चार प्रकार की क्षमताओं का विकास आवश्यक समझा गया है, और वे है सुनना, बोलना, पढना और लिखना । भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए लेखन ज्ञान का विशेष महत्व है । शिक्षा क्षेत्र हो अथवा भावी जीवन का कार्य क्षेत्र सभी जगह सुन्दर, सुडौल अक्षर बनाने वालो को दूसरों की तुलना मे अग्रता प्राप्त होना सुनिश्चित हो जाता है । आज तो ग्राफोलोजी, ग्राफोएनालिसिस के ज्ञाता लिखावट से ही लेखक के व्यक्तित्व और गुणो का पूरा अनुमान लगा लेते है ।

प्राथमिक शाला के प्रत्येक शिक्षक का दायित्व है कि वह मनोवैज्ञानिक आधार पर बच्चो को सुन्दर ढग से लिखना सिखाएं । बच्चो को लिखना सिखाने से पहले उनमे लेखन के प्रति जिज्ञासा पैदा करनी होती है । प्रत्येक बालक रचनाकार होता है, वह अपने हाथ से कुछ काम करना चाहता है । वह मिट्टी और बालू मे मूर्तियां गढना चाहता है । वह चाक अथवा कोयला मिल जाने पर उससे दीवार पर कुछ आकृतिया बनाने लगता है । योग्य अध्यापक इस क्रियाशीलता का लाभ उठाते हुए बालक के हाथ में रंगीन चाक या पेंसिल थमा देते है । बस यही से लिखना-सीखने और सिखाने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है ।

प्राथमिक कक्षाओ मे अध्यापक के उच्चारण के साथ साथ लिपि शिक्षण का गहरा और निकटतम संबंध रहता है । यदि उच्चारण मे "स" के स्थान पर "श" का प्रयोग होता रहा है तो आगे चलकर बच्चे की वर्तनी और उच्चारण भी पाठन के समय प्रभावित होते रहेगे ।

हिन्दी भाषा को संस्कृत की देव नागरी अथवा बाल बोध लिपि के माध्यम से पढाया जाता है । लिपि शिक्षण मे उच्चारण का सही अभ्यास कराने के लिए हमे देवनागरी वर्णमाला के स्वर (13) और व्यजन (33) तथा तीन संयुक्ताक्षर (क्ष त्र, ज्ञ) अर्थात कुल मिलाकर 49 अक्षरो पर ध्यान देना होगा ।

स्वर दो प्रकार के होते है – 1. हृस्व, 2 दीर्घ ।

1 हृस्व स्वर है – अ इ उ लृ – (अन्तिम दो स्वरो का प्रयोग बहुत सीमित है) ।

2. दीर्घ स्वर है – आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ॠ – (अन्तिम का प्रयोग सीमित है) ।

ऊपर वाले स्वरो मे से प्रत्येक किसी भी अन्य स्वर या व्यंजन के स्पर्श के बिना स्वतत्र रूप से उच्चारित होता है । स्वरो का उच्चारण फेफडो से अनुस्फुटित होकर कंठ मे झंकारता हुआ नासिका द्वारा अभिव्यक्त होता है ।

जो ध्वनियां पूर्ण रूप से व्यक्त होती है उन्हे व्यजन कहते है । कोई भी व्यजन किसी भी एक स्वर की सहायता के बिना व्यक्त नही हो सकता । व्यजनो के उच्चारण मे तालु, दंत और ओठो का प्रयोग जीभ के साथ करना पडता है । व्यंजन हैं – क ख ग घ ङ (क वर्ग) च छ ज झ (च वर्ग) ट ठ ड ढ ण (ट वर्ग) त थ द ध न (त वर्ग) प फ ब भ म (प वर्ग) य र ल व, श ष स ह =33 और क्ष त्र ज्ञ = 3 ।

लिखना सीखते समय बालक अक्षर पहचानने के साथ साथ ध्वनि एव कान, आख तथा हाथ की गति का सबध स्थापित करता है । शिक्षक के लिए आवश्यक होता है कि वह वर्णमाला के अक्षरो (ऊपर बताए गए स्वर व व्यजन) को समूहो मे बांटे वर्णमाला के अक्षरो का समूहीकरण दो प्रकार से संभव है –

1. श्रवण – आधारित विधि ।
2. चाक्षुष अथवा दृश्य – आधारित विधि ।

श्रवण आधारित विधि लेखन सिखाते समय देवनागरी लिपि के शब्दोच्चार केन्द्रों के अनुसार तालू, दांत, ओठ और जीभ के प्रयोग से उच्चारित **वर्णों** और क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग आदि समूहों के अनुसार क्रमबद्ध रूप मे स्वरो और व्यजनो की पहचान कराई जाती है । उन्हे पारंपरिक ढग से स्वर व व्यंजन पढाने के बाद फिर बारह खडी का अभ्यास कराया जाता है । बच्चो को यह स्वरो के साथ व्यंजन मिलाने मे बहुत रुचि होती है जैसे – क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः । बोलने और लिखने का अभ्यास कराया जाता है । अक्षर ज्ञान और बारह खडी के बाद शब्द और वाक्य लिखना सिखाया जाता है ।

चाक्षुष या दृश्य आधारित विधि में **वर्णों की** आकृति को आधार बनाकर लेखन ज्ञान दिया जाता है । यह विधि दो सिद्धांतो पर निर्भर करती है ।

1. समरूपता का प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात एक जैसी बनावट वाले अक्षर और
2. विरोधाभासी प्रेक्षण अर्थात विपरीत बनावट पर बच्चो का ध्यान एकाग्र करके उनकी पहचान और धारण क्षमता को विकसित करना । विरोधाभासी विशेषताओ मे छोटी व बडी ई की मात्रा लगाना और छोटे व बडे ऊ के अन्तर के अतिरिक्त अक्षरो में बाहरी व भीतरी आघात भी स्पष्ट किये जाते है ।

चाक्षुष वर्ण विन्यास मे अक्षरों के समूह इस प्रकार बनाये जा सकते है –

र स ख श	उ ऊ ल	ग म भ झ
अ आ ओ औ अ	व क ब	ए ऐ
ङ ड ड इ ई ह	ट ठ ढ ढ द	त न ल त्र
प फ ष ण	य थ	ज च ज्ञ
घ ध छ क्ष	ऋ क्ष त्र	

उपरोक्त समूहो के अक्षर देखकर सीखने मे आसानी होती है । इसी तरह से बच्चो को दो तरह से लिखे जाने वाले अक्षरो का ज्ञान भी करा देना चाहिए जैसे – अ, अ, श, श, छ, ल, क्ष क्ष । पुस्तक के अनुसार अक्षर लिखाने का अभ्यास करवा के दोनो तरह से लिखे अक्षरो की पहचान फलैश कार्ड के द्वारा कराई जा सकती है ।

अनौपचारिक शिक्षा की कक्षाओं के सीमित समय को ध्यान मे रखते हुए परम्परागत रीति को त्याग कर आवश्यकता एवं सदर्भ के अनुसार लिपि शिक्षण कई प्रकार से कराया जा सकता है –

लिपि संकेतो को अक्षर, शब्द व वाक्य के रूप में आधार बना कर पढा सकते है । यह विधि कम समय मे रोचक ढग से लिखना सीखने में सफल रही है ।

आधार वर्ण – प्रारम्भ में कुछ स्वर उनकी मात्राओ को सीखने के बाद सदर्भ और आवश्यकता के अनुसार चुने हुए व्यंजनो के साथ जोडा जाता है ।

अ आ इ ई उ ऊ (स्वर)
+ + + + + + (व्यंजन का प्रतीक)

+ + + + + + (व्यंजन मात्रा की स्थिति)
क का कि की कु कू (व्यंजन + मात्रा)
म मा मि मी मु मू

उपरोक्त स्वर (अ आ इ ई उ ऊ) तथा व्यंजन (क, म) को मिला कर बच्चे स्वयं बहुत से शब्द और वाक्य तक बना सकते है ।

आ मामा काका आम, अमिआ काकी मामी आई, उमा कुमकुम की मा आई आधार शब्द –

एक शब्द को आधार मान कर उसके लिपि संकेत अलग कर लिये जाते है । इन संकेतो को आपस मे अलग अलग प्रकार से जोडकर नये शब्द बनाने का अभ्यास बहुत रोचक ढग से कराया जा सकता है । प्रत्येक शब्द के अक्षरों अथवा लिपि संकेतो में से प्रत्येक एक अंक देते हुए समस्त सार्थक व सही शब्दों के अंक जोडकर खेल भावना से सीखने मे सहायता ली जा सकती है । इसमें पहले विश्लेषी पद्धति से शब्द लिपि संकेतो को अलग करते है और फिर संश्लेषी विधि से इन लिपि संकेतों को जोडकर नए शब्द बनाते हैं ।

शब्द – मालिक, लिपि संकेत – म + ा ि + ल क

नये शब्द जो बने – मा ला का कम कल मल कमा कला काम काल माल माला लामा लाला काला माला माल किला मिला कमल कमला कमाल मलाल मलमल मामला आदि । आधार वाक्य- आधार शब्द की तरह आधार वाक्य के रूप मे ऐसे शब्द समूह चुने जाते है जिनमे नय लिपि सकेत कम हो और बच्चे आसानी से समझ सके ।

वाक्य – काका कल आना

लिपि संकेत – क म ल अ न

नये शब्द – कला कल आना लाला कम नलका लाना लाल कलकल काला

इस प्रकार लिपि संकेत देकर बच्चो को नये शब्द बनाने के काम मे लगाया जा सकता है । अध्यापक निश्चित समय के बाद सब बच्चो के काम को देखकर उनको अक देते हुए प्रोत्साहित कर सकते है ।

उपरोक्त दृश्य आधारित अथवा चाक्षुष विधियो मे दो बातों पर विशेष ध्यान देना होता है –

1 सदा सरल लिपि संकेतो से कठिन की ओर बढा जाए और अगले लेखन पाठ में पिछले लिपि संकेतो का लाभ उठाया जा सके ।

2. आधार शब्द या आधार वाक्य ऐसे हों कि उनके लिपि सकेत मिलाकर अनेक नये शब्द बनाये जा सके । उदाहरण के लिए –

पाठ 1 – लिपि सकेत – र स ख श, नये शब्द-रस रख रश खस सरश खसखस सरासर

पाठ 2 – नये लिपि संकेत – उ ऊ ु ू , र + ु
रु/र + ू = रू
स + ु = सु/स +
ू = सू

नये शब्द – उस ऊसर रूस शूर सुख खुश मूख

नया वाक्य – नकुल कल सूखा अनार लाना

बच्चों की लिखाई का अभ्यास कराने के लिए सबसे सस्ता उपाय रेत या मिट्टी मे किसी लकडी से आडी, सीधी, तिरछी रेखाये, अर्ध वृत, तथा पूर्ण वृत और अक्षर बनवाना है । किसी बडे डिब्बे के ढक्कन में रेत भरकर उसमे यह अभ्यास डटकर कराया जा सकता है ।-अध्यापक जो दिशा निर्देश श्यामपट पर जिस तरह से देगे, बच्चे भी उसी तरह से प्रत्येक अक्षर की आडी, सीधी टेढी रेखाये, अर्द्ध वृत अथवा पूर्ण वृत आदि बनाते चलेगे । सिखाने के लिए क्रियायें क्रम में बतानी होगी ।

क – (आडा डडा) (खडा डडा) (डडे पर अण्डा) (अण्डे पर फदा)

चाक्षुष समूहो के अनुसार स्वर तथा व्यजन लिखना सिखाने के बाद बच्चो को शब्द कोश के अनुसार वर्णक्रम बताना चाहिए । इससे शब्द कोश, विश्व कोश, दूरभाष डाइरेक्ट्री आदि देखने मे बच्चो को कठिनाई नही होगी ।

देवनागरी लिपि में सयुक्त अक्षरो मे आधे अक्षर लिखना एक विशेष एव महत्वपूर्ण प्रक्रिया है । वर्णमाला की लिखाई पूरी करने के बाद आधे अक्षर जोडने की कई विधिया है –

1. त्+त = त्त, प्+ल = प्ल, न्+त = न्त, ष्+म = ष्म
2. अक्षर के रूप मे अन्तर न आना – क्+क = क्क या क्‍क, ठ + ठ = ठ्ठ, ट्+ठ = ट्ठ
3 अक्षर के रूप मे आमूल परिवर्तन – र्+म = र्म, र्+ष = र्ष, क्+र = क्र, द+र = द्र

खेल विधियां

1. बच्चो की सुलिपि (सुलेख) विकसित करने के लिए अध्यापक अपने आदर्श लेख का वैसा ही अनुकरण बच्चो से उनकी कापियों पर कराये ।

2 छपी हुई सुलेख पुस्तिकाओ के माध्यम से बच्चो को प्रतिलिपि लिखकर लिपि संकेतो अथवा शब्दो को वैसा ही लिखने का अभ्यास कराया जाए ।

3 श्रुतलेख के अध्यापक स्वयं बोलकर बच्चो से सुनकर लिखने को कहें । पर इस कार्य के लिए ग्रामोफोन या टेप रिकार्डर का प्रयोग भी उपयोगी होता है ।

4. आडी, तिरछी रेखाये, घुण्डियां, अर्द्धवृत और वृत बनाने का अभ्यास बच्चो को बहुत रोचक लगता है ।

5. फलैश कार्ड या गत्ते पर कटे हुए अक्षर और मात्राओ को आपस में मिलाकर अनेक शब्द बनवाने का खेल कक्षा मे बहुत सहायक होता है ।

इस खेल को श्याम पट और रंगीन चाक के द्वारा भी खेला जा सकता है । शिक्षक को केवल यह ध्यान देना है कि बच्चो को स्वयं सीखने की दिशा मे ले जाने के लिए कक्षा का वातावरण सदा हल्का फुल्का और आनंदकारी बना रहे । □□

प्राथमिक स्तर पर वर्ण-विन्यास शिक्षण

☐ डॉ. इन्द्रसैन शर्मा

भाषा सिखाने के लिए आरम्भ मे शब्दों का मेल-जोल कराना, उन्हें अलग अलग कराना, उनका महत्व एवं विशेषताएं बताना, उच्चारण के अनुसार भाषा लिखवाना आदि बातो पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है । कोई शब्द किन-किन अक्षरों के मेल से बना, कैसे बना आदि का स्पष्टीकरण ही वर्णविन्यास का ज्ञान कहा जा सकता है । अत: वर्णविन्यास या हिज्जे सिखलाना, भाषा शिक्षण का अत्यन्त आवश्यक अग माना गया है । किसी शब्द के हिज्जो का सही ज्ञान न होने के कारण उस शब्द के उच्चारण मे दोष आ जाना भी स्वाभाविक ही है ।

इस लेख मे हमारा तात्पर्य केवल हिन्दी भाषा से है । इसकी लिपि नागरी है । नागरी वर्णमाला ध्वन्यात्मक है, अक्षरात्मक नही यही कारण है कि हिन्दी भाषा का वर्णविन्यास संसार की अन्य भाषाओं की अपेक्षा अत्यधिक सरल है, क्योकि हिन्दी का कोई भी शब्द जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है । अर्थात् बोलने और लिखने मे पूर्ण साम्य है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हिज्जे सीखने में विद्यार्थी के कौन अंग या कौन इन्द्रिया काम करती हैं । स्पष्ट है कि विद्यार्थी प्रथम किसी शब्द को देखता है, फिर उसे सुनता है, तत्पश्चात् उसे दोहराता है और अन्त में उसे लिखता है । अर्थात् पहिले अध्यापक किसी शब्द को श्यामपट पर लिखता है, फिर विद्यार्थी उसे देखता है । उसके पश्चात् अध्यापक उस शब्द का उच्चारण करता है और विद्यार्थी उसे दोहराता है और अन्त की क्रिया है विद्यार्थी द्वारा उस शब्द को लिखना । अत: कह सकते हैं कि किसी शब्द के हिज्जे सीखने मे चार अंग कार्य करते है – आँख (आँखों से विद्यार्थी उस शब्द को देखता है), कान (कानो से सुनता है), कंठ या जीभ (उससे उचारण करता है) तथा हाथ (हाथ से लिखता है) । कहना न होगा कि इन चारो अंगों से जितना भी अधिक से अधिक काम लिया जाए उतना ही हितकर होगा । फिर भी हिज्जे सीखने का सबसे सरल ढग उन्हे लिखकर सीखना है । विद्यार्थी जिस बात का लिखकर अभ्यास करेगा वह सदा सर्वदा के लिए उसके स्मृतिपटल पर अंकित हो जाएगी । उसकी छाप गहरी, रग पक्का होगा ।

हिज्जे सिखाने की अनेक पद्धतियाँ हो सकती हैं जैसे – पाठ्य-पुस्तक से अनुकरण लेख लिखवाना, मौखिक हिज्जे पूछना, बताना तथा श्यामपट पर स्वय लिखना तथा विद्यार्थियो से लिखवाना, विशेष अभ्यास (Drill Work) करवाना, श्रुतिलिपि या डिक्टेशन लिखवाना, एक विद्यार्थी के कार्य की दूसरे विद्यार्थी से जाँच करवाना, वाचन के समय पाठ मे आए नए शब्दो को स्पष्ट समझाना तथा उन्हे छात्रो से लिखवाना, स्वय विद्यार्थियो से उनके द्वारा लिखे अश का पुस्तक से मिलान करवाना, इत्यादि ।

बालक किसी भी बात को खेल के द्वारा जितनी सरलता से सीख लेता है उतनी अन्य किसी विधि से नही । इसी से कहा गया है कि 'वाटरलू' का युद्ध खेल के मैदान मे ही लडा गया था । अत: बालको को कोई भी ज्ञान प्रदान करने से पूर्व हमे उनकी आन्तरिक शक्तियो तथा रुचि का ध्यान करना पडेगा । भिन्न रुचि ही लोक

के अनुसार सभी बालको की रुचि भिन्न-भिन्न होती है । किन्तु मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के अनुसार खेल में सभी बालको की रुचि होती है ।अत: यदि हिज्जे सिखलाने के लिए भी हम खेल को ही माध्यम के रूप मे चुने तो हमारा कार्य अत्यन्त सुगम हो सकता है और बालको को हिज्जे भी उनकी रुचि के अनुसार सिखलाए जा सकते है ।

उदाहरण के रूप मे हिज्जे सिखलाने वाले कुछ खेल निम्न प्रकार हो सकते है –

(1) कक्षा के सब छात्रों की दो टोलियाँ बनादी जाती हैं । दोनों टोलियो को दो पक्तियो मे पास-पास बैठा दिया जाता है । शिक्षक श्यामपट पर कोई शब्द लिखता है । प्रथम पंक्ति के प्रथम विद्यार्थी को उस शब्द के अन्तिम अक्षर से कोई दूसरा शब्द बनाना होता है । तत्पश्चात उसने जो शब्द बनाया उसके अन्तिम अक्षर से बनने वाला कोई शब्द दूसरी पंक्ति के प्रथम छात्र को बताना है फिर उसके द्वारा बताए गए शब्द के अन्तिम अक्षर से बनने वाला कोई शब्द प्रथम पंक्ति के दूसरे विद्यार्थी को बताना होता है । इस प्रकार दोनो टोलियो मे खेल चलता रहता है । जो विद्यार्थी अपनी बारी पर शब्द न बना सके उसे पंक्ति से अलग कर दिया जाता है और फिर उसी पंक्ति का उसके पीछे वाला विद्यार्थी वैसा ही शब्द बनाएगा । यदि वह भी न बना सके तो फिर तीसरा और फिर चौथा विद्यार्थी उस शब्द को बनाएगा । इस प्रकार खेल चलता रहेगा और निश्चित समय में जिस टोली की संख्या अधिक रह जाएगी वह विजयी मानी जाएगी । जैसे – शिक्षक ने लिखा – कलम

प्रथम टोली	द्वितीय टोली
(1) मकान	(1) नमक
(2) कमल	(2) लचक
(3) कसम	(3) (नही बता सका)
(4) महेश	(4) शंख
(5) (नहीं बता सका)	(5) (नही बता सका)
(6) खरगोश आदि	(6)

इस प्रकार खेल चलता रहेगा । इससे विद्यार्थियों के शब्द भंडार मे वृद्धि तो होगी ही उनकी नए शब्द बनाने तथा सोचने की शक्ति मे भी वृद्धि होगी ।

इस खेल मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि बीच मे कोई शब्द ऐसा आ गया है, जो वास्तव मे उस कक्षा के विद्यार्थियो के स्तर से ऊँचा है तो शिक्षक को चाहिए कि वह उस शब्द को हटा कर उसके स्थान पर कोई अन्य शब्द रख सकता है और पुन खेल उसी प्रकार चालू हो जाता है ।

यह खेल सामूहिक रूप से भी खेला जा सकता है । अर्थात छात्रो को क्रम से न बैठा कर दो दलो मे विभाजित कर दिया जाता है और इस प्रकार शब्द के अन्तिम अक्षर से दूसरे दल का कोई भी विद्यार्थी शब्द बता सकता है । दल के किसी भी विद्यार्थी पर शब्द न बताए जाने पर दूसरे दल का विद्यार्थी ऐसा शब्द बताएगा और पहिले दल का एक अंक कट जाएगा तथा दूसरे दल को अंक मिल जाएगा । इस प्रकार निश्चित समय मे अधिक अक मिलने वाली टोली को विजयी घोषित कर दिया जाता है ।

उपर्युक्त खेलो में यह नही भूलना चाहिए कि ये शब्द केवल बताने ही नही अपितु साथ-साथ श्यामपट पर भी लिखते जाना है । यदि किसी छात्र ने शब्द तो ठीक बोला किन्तु लिखा गलत है तो उसे उसके ही दल का कोई विद्यार्थी ठीक कर सकता है । ऐसी प्रत्येक 5 या 10 गलतियो पर 1 अंक काटा जाता है ।

(2) शिक्षक कुछ अक्षर (क, म, प, ल, श, आदि) श्यामपट पर लिखता है । कक्षा के समस्त विद्यार्थियो से शिक्षक कहता है कि इन अक्षरो से बनने वाले अधिक से अधिक शब्द वे अपनी कॉपी पर लिखे । इस प्रकार सबसे अधिक और शुद्ध शब्द लिखने वाले छात्र को प्रथम, उससे कम को द्वितीय और उससे कम लिखने वाले को तृतीय घोषित किया जाता है । जो विद्यार्थी गलत शब्द लिखते है उन्हे दूसरे विद्यार्थियो से श्यामपट पर सही लिखवाया जाता है और अशुद्ध शब्द लिखने वाले विद्यार्थियो से कहा जाता है कि वे उन शब्दो को पॉच या दस बार अपनी कॉपियो पर लिखें तथा उन शब्दो की भांति बनने वाले दो-दो अन्य शब्द और लिखें । इस प्रकार भविष्य में वे उन या उन जैसे ही अन्य शब्दो के लिखने मे त्रुटि न कर सकेगे । कारण यह है कि बच्चे कुछ ऐसे शब्द और उनके हिज्जे भी समान शब्दो के ज्ञान से जान जाते है जो उन्हे विद्यालय में नही सिखाए गए है ।

(3) शिक्षक श्यामपट पर कोई शब्द लिखता है । छात्रो को बारी-बारी से श्यामपट पर एक-एक ऐसा ही शब्द लिखने को कहा जाता है जिसमे कि उतने ही अक्षर हो जितने की शिक्षक द्वारा लिखे गए शब्द मे है । जो छात्र नही लिख पाते है उन्हे दल से अलग कर कोई दूसरा शब्द दिया जाता है । इस प्रकार खेल चलता रहता है

और जो छात्र तीन बार ऐसे शब्द नहीं बना पाते उन्हें पराजित घोषित कर दिया जाता है ।

(4) शिक्षक श्यामपट पर कुछ अक्षर लिखता है । छात्र उन अक्षरो को मिला कर अधिक से अधिक शब्द लिखने का प्रयास करते हैं । अन्त में शिक्षक छात्रों की कॉपियाँ देखता है । जिस छात्र ने सर्वाधिक तथा शुद्ध शब्द लिखे है उसे प्रथम घोषित कर दिया जाता है ।

(5) कक्षा के सभी विद्यार्थियो को एक पक्ति मे बैठा लिया जाता है । प्रथम विद्यार्थी कोई अक्षर बोलता है । दूसरा विद्यार्थी उसमे एक और अक्षर जोडता है और दो अक्षरो का एक शब्द बनाता है । इस प्रकार तीसरा, चौथा, पाँचवा आदि सभी विद्यार्थी उसमे एक-एक अक्षर जोडते जाते है और शब्द को बढाते जाते है । सभी ये चाहते है कि शब्द पूरा न होने पावे । जहाँ शब्द समाप्त हो जाता है वहाँ का विद्यार्थी फिर कोई नया अक्षर बोलता है । उस अक्षर मे भी यही क्रम चलता है । निश्चित समय के अन्त मे देखा जाता है कि कौन विद्यार्थी अधिक बार हारा है । जो कम से कम बार हारा हो उसी विद्यार्थी को विजयी घोषित कर दिया जाता है ।

इस प्रकार कार्ड के भी अनेक खेल हो सकते है । इन खेलो मे विद्यार्थी भाषा तथा हिज्जे बड़ी ही सरलता से सीख जाते है और उन्हे यह भी आभास नही हो पाता कि वे पढ रहे है । फिर विद्यालय जेल और अध्यापक भूत न लग कर उनके प्रिय बन जाते हैं ।

हाँ, इन सभी खेलो मे यह कभी नही भूलना चाहिए कि हिज्जे की त्रुटि को हमेशा हाथ के अभ्यास द्वारा ही सुधारा जा सकता है । अत· जो भी शब्द छात्रों से बनवाया जाए या बुलवाया जाए उसे लिखवाना भी अत्यन्त आवश्यक है । छात्र जिस शब्द को गलत लिखे उसका सही अभ्यास उस शब्द को कई बार लिखवा कर करवाया जाना चाहिए ।

शुद्ध वाचन तथा हिज्जे सिखाने का एक और भी सरल ढग है । शिक्षक को चाहिए कि वह पहिले कक्षा की पुस्तक को सम्पूर्ण रूप मे पढ ले । तत्पश्चात् उसके कठिन अशो को नोट कर ले तथा उसमे आए कठिन तथा अप्रचलित शब्दो का एक चार्ट बना ले । उन शब्दो को वह किसी न किसी रूप मे छात्रो के सम्मुख अधिक से अधिक प्रस्तुत करे । इस प्रकार कठिनतम शब्द भी सरलतम मे परिवर्तित हो जाते है क्योकि फिर वे शब्द छात्रों के लिए कोई नवीन वस्तु न रह कर चिर परिचित से बन जाते है, अपने से हो जाते है ।

सही हिज्जे सिखाने के साथ-साथ शिक्षक को यह भी चाहिए कि वह बालको को सुन्दर अक्षर रचना करना भी सिखाए क्योकि यदि हिज्जे सही हो किन्तु लिखावट गदी हो या पढी ही न जा सके तो फिर शुद्ध हिज्जो से लाभ की संभावना कम ही रहती है । किसी सूक्तिकार ने सही ही कहा है –

'लिपि प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां न चेतासि मुदा विभर्ति – अर्थात फूलो वाली लता के समान सुन्दर लिपि किसको मोहित नही करती ।

इस प्रकार शिक्षको को चाहिए कि वे छात्रो को हिज्जो का सही ज्ञान देने तथा शुद्ध एव सुन्दर अक्षर लिखने सिखाने मे कोई कमी न रखे । इसके लिए उन्हे ऐसी पद्धति अपनानी चाहिए जिसमे समान रूप से सभी छात्र रुचि ले । ऐसी पद्धति मेरे विचार से तो खेल से बढ कर और कोई नहीं हो सकती क्योकि किसी घोडे को पानी पिलाने के लिए आप तालाब या नदी पर तो ले जा सकते हैं किन्तु वहाँ आप उसे पानी पीने के लिए बाध्य नही कर सकते । हाँ, इन दोनो बातो के लिए हस्ताभ्यास को सर्वाधिक महत्व देना चाहिए क्योकि इसके बिना केवल देखने, सुनने अथवा पढने मात्र से न तो हिज्जे की गलती ही सुधरती है और न सुन्दर अक्षरो की रचना करने का ही अभ्यास हो सकता है । □□

वर्तनी की गलतियाँ

□ प्रभाकर द्विवेदी

आम तौर पर यह समझा जाता है कि भाषा सिखाने या सुधारने का काम भाषा-शिक्षक का होता है । लेकिन सच बात तो यह है कि भाषा सिखाने का काम हर कोई करता है । अबोध शिशु को उसकी माँ भाषा के रहस्यमय जगत मे ले आती है । फिर घर के अन्य सदस्य शिशु की भाषा सम्पदा को निरतर बढ़ाते रहते है । शिशु के साथी शिशु एक दूसरे की भाषा मे हमेशा वृद्धि करते रहते है । यह क्रम उम्र के साथ बराबर चलता रहता है और इस व्यापार मे लोग अच्छी बुरी सभी तरह की भाषा सीखने चलते है ।

चूँकि भाषा सीखने-सिखाने मे सभी की साझेदारी है इसलिए सभी की यह जिम्मेदारी है कि अपने आसपास जहाँ भी गलत या भद्दी भाषा का इस्तेमाल देखे वहाँ उसका परिष्कार करे । इसी तरह लिखित भाषा की अपनी समस्याएं है । लिखते समय लोग प्राय: हिज्जे की गलतियाँ करते है । समझदार व्यक्तियों को ये गलतियाँ ककड़ी की तरह चुभती है । जिम्मेदार व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह विनम्र भाव से गलती करने वाले को उसकी गलती का अहसास करा दे ।

अलग अलग क्षेत्रो मे हिज्जे की गलतियों की प्रवृत्ति भी अलग अलग तरह की होती है । कुछ क्षेत्रो मे 'स' और 'श' की गलतियाँ अधिक मिलती है तो कुछ मे 'र' के विभिन्न रूपों की भूले अधिक मिलती हैं । कही लोग अनुस्वार और चन्द्रविंदु का अतर नही जानते तो कही पचमाक्षर का प्रयोग गलत तरीके से किया जाता है ।

अनुस्वार और चन्द्रविंदु

जब किसी अक्षर के साथ अनुनासिक ध्वनि निकलती है तो उसे चन्द्रविंदु से प्रकट करते है, जैसे – हँसना, काँपना, रँगना, अँधेरा, चाँदी, बाँग, चाँद, दाँव, पाँव, साँस, खाँसी आदि मे अक्षरो के साथ अनुनासिक ध्वनि निकल रही है इसलिए यहाँ पर चन्द्रविंदु का प्रयोग किया गया है । लेकिन इन्ही शब्दो से मिलते जुलते शब्द है – हस, कंपनी, रग, अधकार, चदन, बगाल, चद्र, दग, पक, ससार, खड । ध्यान दीजिए कि यहाँ अनुनासिक ध्वनि नही है बल्कि कुछ अक्षरो के बाद पंचमाक्षर वर्ण (अर्थात् ङ, ञ, ण, न और म) की ध्वनि आ रही है । पचमाक्षर वर्णों के आधे रूप को अनुस्वार द्वारा भी व्यक्त कर सकते है । इसीलिए यहाँ कुछ अक्षरो के ऊपर अनुस्वार यानी बिंदी लगाई गई है ।

बहुत से लोग चन्द्रविंदु को सजावटी चीज समझते है । वे कही भी इसका इस्तेमाल कर देते है । यह प्रवृत्ति बहुत गलत है । फालतू चन्द्रविंदु लगाने का कोई अर्थ नही है । अनुस्वार की जगह चन्द्रविंदु का प्रयोग भी गलत वर्तनी का नमूना है । इससे बचना चाहिए । हाँ, यह जरूर है कि आजकल चन्द्रविंदु के स्थान पर अनुस्वार से ही काम चला लेते है । वर्तनी के सरलीकरण की दृष्टि से इसका स्वागत किया जाना चाहिए ।

बहुवचन शब्दों की गलत वर्तनी

हिन्दी के अनेक शब्द ईकारात होते है जैसे – लड़की, सहेली, हलवाई, दवाई, पगड़ी, मकड़ी, बकरी, हथेली, नलकी आदि । इन शब्दो के बहुवचन बनाते समय अंत का 'ई' 'इ' हो जाता है । अर्थात् इन शब्दो के बहुवचन रूप इस प्रकार लिखे जाएँगे – लड़कियाँ, सहेलियाँ, हलवाइयो, दवाइयाँ, पगड़ियाँ, मकड़ियों, बकरियाँ, हथेलियो, नलकियाँ । पश्चिमी हिन्दी भाषी प्रदेशो या क्षेत्रो मे बहुवचन की यह प्रवृत्ति प्राय: गायब हो जाती है । वहाँ

आपको मिलेगा – लडकीयो, सहेलीयाँ, हलवाईयो, दवाईयाँ, पगडीयॉ आदि । यह गलत है । सही वर्तनी का अभ्यास किया जाना चाहिए ।

ड, ड, ढ और ढ

इन चारो अक्षरो के बारे मे बडा भ्रम फैला हुआ है जबकि चारो की उच्चारण ध्वनियॉं एक दूसरे से काफी अलग है । इन ध्वनियो को इन शब्दो के माध्यम से समझने की कोशिश करिए – डब्बा, कड़क, बेढब, बढ़ई । अक्षरो के इन्ही क्रम से कुछ और शब्द भी लीजिए – रोड, बडा, ढग, पढना । अक्षरो के नीचे की बिंदी को 'कुछ लोग सजावट की वस्तु समझते है और उनका कही भी इस्तेमाल कर डालते है । यह बात ठीक नही है । बिंदी लग जाने से ध्वनि भी बदल जाती है । इसलिए इस प्रकार के शब्द न लिखिए – रोड, कढाही, ढग, बडे बडे, पढाई, खिडकी ।

र के विभिन्न रूप

बहुत कम लोग इस बात पर ध्यान देते है कि 'र' को हिन्दी मे कई तरह से लिखते है । प्रकाश, राष्ट्र, विनम्र आदि मे आधा 'र' नहीं है । बल्कि यहॉ पूरा 'र' है । आधा अक्षर है तो 'प', 'ट' और 'म' है । लेकिन यहाँ पर पूरा 'र' अलग अलग तरह से लिखा गया है । इसीलिए यह भ्रम हो जाता है ।

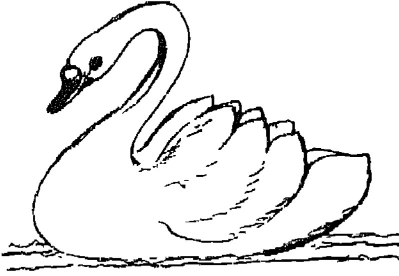
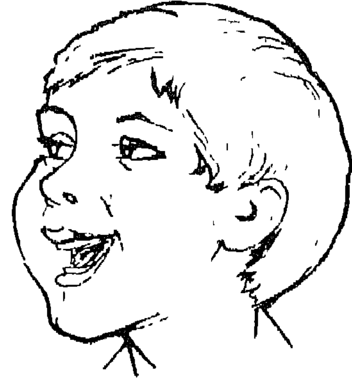
आधा 'र' को इन शब्दों मे लिखा गया है – कर्म, शीर्षक, आशीर्वाद । ध्यान दीजिए कि इन शब्दो को इस प्रकार से लिखना गलत होगा – र्कम, शीषर्क, आर्शीवाद । इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं जहाँ आधार 'र' की सही स्थिति को सोच समझ कर लिखना चाहिए ।

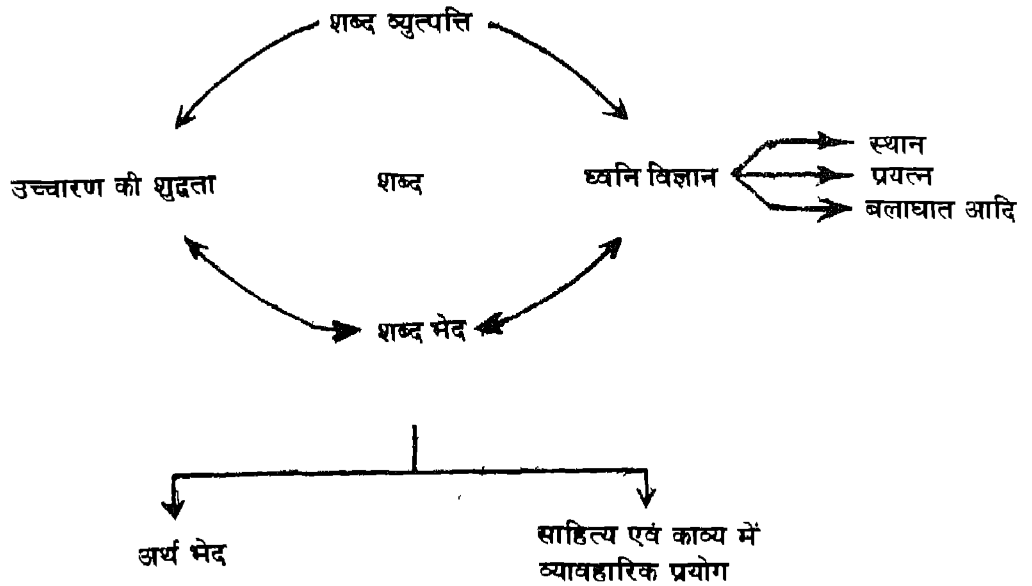
कृपा, गृह, पृष्ठ आदि मे ऋृ का प्रयोग किया गया है । इसे भी ध्यान से समझ लेना चाहिए । कहीं ऐसा न हो कि 'ऋृ' के बदले आप 'र' लिखते आए हो । अर्थात् क्रपा, ग्रह, प्रष्ठ लिखना गलत है है । ग्रह शब्द एक सार्थक शब्द है । गृह के बदले ग्रह का प्रयोग नही होना चाहिए । इसी प्रकार ग्रहण को गृहण नही लिखना चाहिए ।

वर्तनी सम्बन्धी सामान्य गलतियो के कुछ नमूने ही ऊपर प्रस्तुत किए गए है । अलग अलग क्षेत्रो और प्रदेशों मे इस प्रकार के असंख्य नमूने इकट्ठे किए जा सकते है । लेकिन उन्हे मात्र इकट्ठा करने से बात नहीं बनेगी । आवश्यकता तो इस बात की है कि आप गलत हिज्जे लिखने की प्रवृत्ति को कम करे । कोई भी सामान्य शब्द कोश इस दिशा में आपकी काफी सहायता करेगा ।

अपने आसपास के लोगो को गलत वर्तनी लिखने पर नि:संकोच भाव से टोकिए । इसमे कोई बुराई नही है क्योकि भाषा समाज की थाती है और समाज आपका है जिसकी बुराइयाँ कम करना आपका पुनीत कर्तव्य है । □□

हंस और हँस
एक प्रश्न



☐ डा. सुरेश चन्द्र सेठ

प्रत्येक शब्द का अध्ययन, अनेक दृष्टियों से किया जाता है। उसमें उस शब्द की व्युत्पत्ति, उच्चारण शुद्धता, उसक ध्वनि विज्ञान तथा शब्द भेद आदि को ध्यान मे रखकर ही उस पर विचार किया जाना चाहिए। अब तक आपने इस अध्ययन की बाते व्याकरण के अंतर्गत ही पढ़ी है। अब आपके विचारार्थ एक कविता प्रस्तुत है –

"हंस" एक पक्षी है,
प्रारम्भ में,
बच्चो को यही पढ़ाया जाता है।
प्राइमरी स्तर पर,
यही समझाया जाता है।
सबसे पहले वर्णमाला मे,

इसे चित्र रूप मे दिखाते है ।
इस ''शब्द'' को
उच्चारण शुद्धता की दृष्टि से,
बार बार बुलवाते है ।
माध्यमिक स्तर पर,
इस पक्षी के महत्व को भी
विद्यार्थियो को समझाया जाता है
और सिखाया जाता है
कि इसे नीर क्षीर विवेक प्राप्त है ।
लेकिन इस तथ्य की,
सत्यता अज्ञात है
फिर भी वह दूध का दूध
और पानी का पानी कर देता है
सार तत्व को लेकर,
तुरत चल देता है ।
सूक्ष्म अध्ययन की दृष्टि से ,
नित शोध होते है,
कितु साधारण से शब्दो पर,
विद्वान एकमत क्यो नही होते ?
वैयाकरणिक ''हस'' शब्द को,
संज्ञा की कोटि मे लेते है ।
व्याकरण के अतर्गत,
''जाति वाचक संज्ञा'' के रूप मे,
इसका उदाहरण देते है ।
''हस का निवास,
मान सरोवर बताया जाता है ।
कवि और साहित्यकारो का
आध्यात्मिक दृष्टि से,
इससे बहुत बडा नाता है ।
''हॅस'' क्रिया शब्दो (हंसते, हंसने)
आदि के मूल मे
एक धातु है ।
इसमे चन्द्रबिन्दु का प्रयोग ही शुद्ध है
''अनुस्वार'' लगाना बिल्कुल अशुद्ध है ।
दोनो के उच्चारण मे,
तथा दोनो शब्दो की रचना में
स्पष्टत बहुत भेद है

लेकिन खेद है
कि बडे बडे लेखको,
कवियो, पत्रकारो
तथा सम्पादको तक ने,
इस अन्तर को भुलाया है
इसीलिए शिक्षक हृदय छटपटाया है ।

वह बेचारा
पढाने पढाते मर जाता है ।
जब रचनाए छपती है
तो
''हॅसने'' को हसना ही
छापा जाता है
क्योकि
छपाई का
आदमी से नही
मशीन से नाता है
छापे खाने की सुविधा के लिए
इतना स्पष्ट अन्तर भी
लुप्त हो जाता है
अब आप ही बताए
बच्चो को क्या पढाए ?
प्रशिक्षणार्थी एव शिक्षको को,
क्या कहकर समझाए

किस शब्द को शुद्ध बताए ?
किस रूप को प्रयोग मे लाए ?
विद्वान पढे और विचारे
और हमे बताए
कि भाषा का शिक्षक
समस्या से कैसे पार पाए ?
उच्चारण की शुद्धता को छोड दे
अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के
उच्चारण अन्तर को,
नई दिशा मे मोड़ दे
या ''शब्द रचना'' के महत्व को,
समूचा डकार जाए,
अथवा वर्णमाला की वैज्ञानिकता को

सफा चट कर जाए ।
इस महत्वपूर्ण सत्य पर
सभी पाठक ध्यान दे
हो सके तो विचारक
भाषाविद् या शिक्षा शास्त्री
रचनाकार को
अपनी विद्वतापूर्ण दृष्टि से,
कुछ ऐसा विशेष ज्ञान दे
जो ''भाषा शिक्षक के लिए
व्यावहारिक और जीवनोपयोगी है
बात सभी के सही काम आए,
चाहे वह विद्यार्थी हो या योगी हो ।

□□

प्राथमिक कक्षाओं में भाषा संप्राप्ति का मूल्यांकन

☐ डा. ममता अग्रवाल

प्राथमिक स्तर पर भाषा एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है क्योकि इसी पर छात्रों का न केवल अन्य विषयो का सीखना वरन् उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण निर्भर करता है । इसीलिए प्राथमिक कक्षाओ मे भाषा शिक्षण कार्यक्रम बहुत ही सावधानी पूर्वक बनाया जाना चाहिये ।

मूल्यांकन प्रत्येक शिक्षण कार्यक्रम का अविच्छिन्न अंग है और इसके बिना हर शिक्षण कार्यक्रम की प्रक्रिया अधूरी है । मूल्यांकन के ही द्वारा शिक्षक जान पाता है कि शिक्षण के फलस्वरूप उसके छात्रो ने क्या सीखा व कितना सीखा । मूल्यांकन के द्वारा ही शिक्षक यह निर्धारित करता है कि बालकों ने जो भी सीखा वह पर्याप्त है या नही तथा हमारे पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुकूल है या नहीं । मूल्यांकन से ही उसे पता चलता है कि उसका शिक्षण कार्य कहाँ तक उपयुक्त रहा है । इस जानकारी के आधार पर ही शिक्षक अपने शिक्षण को न केवल सुधार सकता है बल्कि और अधिक प्रभावशाली बनाने का भी प्रयत्न कर सकता है । मूल्यांकन के द्वारा शिक्षक यह भी पता लगा सकता है कि अमुक छात्र किस क्षेत्र मे कमजोर है और फिर उसकी कमजोरी दूर करने की कोशिश कर सकता है ।

किसी भी स्तर पर भाषा शिक्षण का उद्देश्य होता है कि छात्रो मे सुनने, बोलने, पढने व लिखने की योग्यताओ का विकास हो । अर्थात् जब किसी भी भाषा को कक्षा मे पढ़ाया जाता है तो इस उद्देश्य से पढाया जाता है कि भाषा शिक्षण के अत मे छात्र सुनकर व पढकर उस भाषा का अर्थ ग्रहण कर सकेंगे व बोलकर एवं लिखकर उसी भाषा में अपने आप को अभिव्यक्त कर सकेगे । अर्थग्रहण व अभिव्यक्ति इन दोनो के लिये आवश्यक है कि छात्र को उस भाषा की ध्वनियो, अक्षरो, शब्दो, वाक्य रचना इत्यादि का ज्ञान हो । इस प्रकार भाषा शिक्षण के तीन मुख्य उद्देश्य है – भाषा के तत्वों का ज्ञान, अर्थग्रहण व अभिव्यक्ति । भाषा के तत्वो के ज्ञान के बिना अर्थग्रहण व अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । प्राथमिक कक्षाओ मे भी भाषा शिक्षण के यही तीन मुख्य उद्देश्य है ।

बालक जब कक्षा एक मे स्कूल आता है, भाषा की कुछ योग्यताएँ उसमे पहले से ही होती है । वह अपनी मातृभाषा को समझ सकता है व बोल सकता है । यद्यपि उसका शब्द भंडार कुछ सीमित होता है । प्राथमिक स्तर पर शिक्षक का मुख्य कार्य बच्चो को पढना व लिखना सिखाना है और साथ ही उनके शब्द भंडार की वृद्धि भी करना है ।

दूसरी कक्षा के अंत तक बालको को अपनी मातृ-भाषा न केवल अच्छी तरह बोलना व सुन कर समझना आना चाहिये बल्कि उनमें पढ़ने की योग्यता का भी काफी विकास हो जाना चाहिये । जहाँ तक लिखने की योग्यता का संबंध है उन्हें सभी परिचित शब्द तथा वाक्य शुद्ध रूप मे लिखने आने चाहिये तथा कुछ सरल वर्णन व सरल विषयो पर कुछ वाक्य क्रमबद्ध रूप से लिखने की योग्यता का भी विकास हो जाना चाहिये ।

कक्षा एक और दो मे भाषा का शिक्षण अधिकतर मौखिक होता है, इसलिए उसका मूल्यांकन भी मौखिक विधि से होना चाहिये । बालकों की मौखिक अभिव्यक्ति का परीक्षण करने के लिये उनसे छोटी

छोटी कहानियाँ या घटनाये सुनाने के लिये कहा जा सकता है । इस परीक्षा से उनके उच्चारण, शब्दो के सही प्रयोग, व बोलने मे प्रवाह का परीक्षण आसानी से किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त बच्चों को चित्र दिखाकर उनका वर्णन करवाया जा सकता है । छोटी छोटी कवितायें सुनी जा सकती है तथा कुछ प्रश्न भी पूछे जा सकते है जिसका वे उत्तर दे सके ।

मातृ-भाषा की ध्वनियो की सही पहचान व शब्दो तथा वाक्यों को शुद्ध लिखने की क्षमता का परीक्षण श्रुतलेख के द्वारा बहुत सहजता के साथ किया जा सकता है । लिखित अभिव्यक्ति का मूल्यांकन करने के लिये बालको से छोटे-छोटे निबंध, सरल वर्णन जो कि 6–7 वाक्यो से ज्यादा के न हो लिखवाये जा सकते है । पर यह ध्यान रहे कि जो भी विषय निबंध या वर्णन के लिये दिया जाये, बच्चे उसके बिषय मे जानते हो । जैसे इस स्तर पर 'मेरी गुडिया', 'हाथी', 'मेरा छोटा भाई', 'दीपावली', 'मेरा बगीचा', 'मेरी माँ', इत्यादि विषय निबंध के लिये दिये जा सकते है । इस परीक्षा के द्वारा उनकी हस्तलिपि व क्रमबद्ध वाक्य लिख सकने की योग्यता का परीक्षण किया जा सकता है ।

अर्थग्रहण की योग्यता का परीक्षण करने के लिये सबसे अच्छी विधि यह है कि बच्चो से कोई गद्यांश या पद्याश पढवाया जाये, या कोई कहानी सुनी जाये और उस पर आधारित प्रश्न पूछे जाये । पहली कक्षा में तो यह परीक्षण मौखिक ही होना चाहिये । दूसरी कक्षा मे बालको से छोटे-छोटे उत्तर लिखवाये भी जा सकते है ।

कक्षा 3, 4, 5 मे बच्चे कुछ बडे हो जाते है तो उनमें भाषा सबधी और योग्यताएं भी विकसित की जानी चाहिये । यान्त्रिक कुशलताये जिनमे शुद्ध उच्चारण, शुद्ध वर्तनी, सुलेख आदि निहित है, के अतिरिक्त चिन्तनात्मक योग्यताये भी विकसित की जानी चाहिये । इस स्तर पर विद्यार्थी को साहित्य की विभिन्न विधाओं जैसे – कविता, कहानी, सवाद, नाटक, पत्र, निबध आदि से भी परिचित हो जाने चाहिये । व्याकरण इन कक्षाओ मे व्यवहारिक रूप मे ही पढाई जानी चाहिये । इसके अतिरिक्त बालकों के शब्द भंडार मे भी निरतर वृद्धि होती रहनी चाहिये ।

परीक्षण विधियॉ इस स्तर पर भी वही रहेगी जो कक्षा एक व दो मे थीं, केवल उनका कठिनाई का स्तर बढ जायेगा । मौखिक परीक्षा अभी भी रहेगी पर लिखित परीक्षा का क्षेत्र व्यापक होता जायेगा ।

भाषा तत्वों के ज्ञान का परीक्षण करने के लिये वस्तुनिष्ठ प्रश्न अथवा अति लघुत्तर प्रश्न अच्छे रहते हैं । व्याकरण मे बालको से परिभाषाये न पूछ कर, उनके प्रयोगात्मक ज्ञान का ही परीक्षण करना चाहिये । नीचे कुछ प्रश्न उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे है –

1. निम्नलिखित शब्दो से विशेषण बनाइये –
   लोभ, प्यार, गुलाब, शांति
2. निम्नलिखित शब्दो को बहुवचन मे लिखो –
   लडकी, लडका, कली, आँख
3. निम्नलिखित वाक्यो में खाली स्थानो पर बाईं ओर लिखे जाने वाले शब्दो का सही रूप लिखो –
   उत्सुक ' राकेश को हमेशा नये स्थानो के बारे मे जानने की . . . . , रहती है ।
   परिश्रम ' राजू एक बहुत . . किसान है ।
4. निम्नलिखित शब्दो के विलोम लिखो –
   आशा, आवश्यक, पर्याप्त, धनी

वर्तनी की शुद्धता के परीक्षण के लिये श्रुतलेख दिये जा सकते है या फिर कुछ अशुद्ध रूप मे लिखे हुये शब्द दिये जा सकते है जिन्हें शुद्ध रूप मे लिखना होता है ।

5. निम्नलिखित शब्दो को शुद्ध रूप मे लिखो –
   परिक्षा, उनन्ति, वणर्न, समाजिक

अर्थग्रहण की योग्यता के परीक्षण के लिये अपठित गद्यांश दिये जाने चाहिये क्योंकि इनसे ही इस योग्यता का प्रमाणिक मूल्याकन हो सकता है । इसके लिये जिस स्तर का पाठ छात्रो को कक्षा मे पढाया गया है उसी स्तर का अपठित पाठ देना चाहिये और उस पर आधारित उपयुक्त प्रश्न पूछे जाने चाहिये । यदि कक्षा मे पढ़े हुये पाठ पर प्रश्न पूछे जाते है तो वह सही रूप मे अर्थग्रहण की योग्यता का मूल्याकन नही करते, वह केवल छात्रो के ज्ञान का ही मूल्यांकन करते हैं । प्राथमिक स्तर पर अर्थग्रहण के अतर्गत प्रसगानुसार अर्थग्रहण करने की क्षमता, सारांश ग्रहण करने की क्षमता, विचारो की क्रमबद्धता को समझ पाना इत्यादि की भी परीक्षा की जानी चाहिये । विचारो का विश्लेषण, सश्लेषण व मूल्यांकन जैसी जटिल क्रियाये इस स्तर पर नहीं ली जानी चाहिये ।

अर्थग्रहण की योग्यता के परीक्षण के लिये भी वस्तुनिष्ठ व लघुत्तर प्रश्न उपयुक्त रहते है । जिन उत्तरो मे छात्रो को अधिक लिखना पडे वह प्रश्न केवल अर्थग्रहण की योग्यता का मूल्याकन

करने के लिये ठीक नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अर्थग्रहण के साथ-साथ अभिव्यक्ति की भी परीक्षा होती है । उदाहरण के लिये अर्थग्रहण के कुछ प्रश्न दिये जा रहे है जो कि कक्षा 3, 4, 5 के स्तर पर पूछे जा सकते है ।

निम्नलिखित गद्याश के आधार पर दिये हुये प्रश्नो कें उत्तर दो —

चिडियो को धूप मे व्याकुल होते देख कर पीपल ने कहा, "आओ मेरी बडी बडी शाखाओ और घने पत्तों मे विश्राम कर लो" । चिडियाँ झटपट पीपल पर जा बैठी । घनी छाँव मे बैठ कर उनका तन मन शीतल हो गया । वह गाने लगी, "सभी पेडो से अच्छा पीपल, सभी पेडों से बडा पीपल ।"

1 इन पक्तियों के आधार पर बताइये बडा कौन होता है ?
   क जिसका शरीर बडा हो
   ख जिसका हृदय बडा हो
   ग जिसकी छॉव घनी हो
   घ. जिसके पत्ते ढेर सारे हो

2 पीपल ने चिडियो को क्यो बुलाया ?

3. घनी छॉव मे बैठने से चिडियो का मन शीतल कैसे हो गया ?

4. चिडियो ने पीपल का गुणगान क्यो किया ?

'किसी व्यक्ति की संगति यदि बुरी होगी तो वह उसके पैर में बंधे पत्थर के समान होगी परन्तु अच्छी संगति सदा सहारा देने वाली बाहु के समान होगी ।'

उपरोक्त वाक्य मे पैर मे बधा पत्थर तथा सहारा देने वाली बाहु का अर्थ स्पष्ट करो ?

अभिव्यक्ति के मूल्यांकन के लिये दो प्रकार के प्रश्न दिये जा सकते है । एक तो कुछ शब्द या मुहावरे देकर उनका वाक्यो मे प्रसंगानुसार प्रयोग करवाया जा सकता है । दूसरे प्रकार के प्रश्नो मे निबधात्मक प्रश्न दिये जा सकते है जिनमे छात्रो से छोटे छोटे निबंध पत्र, कहानी, संवाद इत्यादि लिखाये जा सकते है । कहानी व संवाद के लिए रूपरेखा भी दी जा सकती है जिसकी सहायता से बच्चे कहानी या संवाद लिख सके । निबंध के लिये विषय चुनते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि विषय छात्रो के अनुभवो से सबधित हो । छात्र जीवन तथा रुचि से सबधित घटनायें, दृश्य व वस्तु का 10–15 वाक्यो मे वर्णन ही प्राथमिक स्तर पर अभिव्यक्ति का मूल्यांकन करने के लिये पर्याप्त है । इस स्तर पर विवेचनात्मक निबधो की आशा नही की जा सकती । उदाहरण के लिये निम्नलिखित प्रकार के निबंध लिखवाये जा सकते है –

1. वर्षा हो रही है, आप वृक्ष के नीचे खडे है
2 यात्रा के पूर्व बस स्टैण्ड का दृश्य
3 रात को बिजली चली गई और मै घर पर अकेला था
4. निम्नलिखित रूप रेखा के आधार पर कहानी लिखिये –

एक गरीब लडका . . . बॉस के टोकरे मे कॉच के बर्तन . . . . भारी भीड . . धक्का लगना. . . बर्तन टूटना. . . . . . कॉच इकट्ठा करना . . . रोने लगना . . . . भीड का उसे कुछ न कुछ देना . . . . कीमत से ज्यादा उसे पैसे मिल जाना . . . सोच मे पढ जाना ।

अभिव्यक्ति का मूल्याकन करने मे जिन क्षमताओ का मूल्याकन करना होगा वह है उचित शब्दों की शुद्ध वर्तनी, विराम चिन्हो का उचित प्रयोग, उपयुक्त शब्दों का चयन, व्याकरण – सम्मत शुद्ध भाषा का प्रयोग, अभीष्ट सामग्री का होना तथा अभिव्यक्ति मे क्रमबद्धता होना ।

अभिव्यक्ति का मूल्याकन भी प्रमाणिक बनाने के लिये आवश्यक है कि वह विषय परीक्षा में न दिये जाय जो कक्षा मे करवाये जा चुके है क्योकि इसकी संभावना है कि विद्यार्थी रटा हुआ उत्तर प्रस्तुत करेंगे और उनकी वास्तविक अभिव्यक्ति की योग्यता का मूल्यांकन करना कठिन होगा ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राथमिक स्तर पर मूल्यांकन के लिये जो भी विधियाँ उपयोग मे लाई जायेगी वही विधियाँ कक्षा में शिक्षण व अभ्यास के लिये भी प्रयुक्त होगी । इसका मुख्य उद्देश्य छात्रो की भाषा की संप्राप्ति मे वृद्धि करना होगा । मूल्याकन निरतर करना होगा जिससे छात्रों की कमजोरियॉ दूर की जा सके । पहली व दूसरी कक्षा में कोई औपचारिक परीक्षा नही होनी चाहिये । अनौपचारिक रूप से ही छात्रो के कक्षा कार्य के आधार पर ही उनका मूल्यांकन किया जाना चाहिये । औपचारिक परीक्षा कक्षा

पाँच के अत मे ली जा सकती है । इस प्रकार प्राथमिक स्तर पर भाषा मूल्याकन की विशेषता यह है कि शिक्षण व मूल्याकन विधियाँ एक ही होगी ।

अत मे कहा जा सकता है कि चूँकि भाषा शिक्षण का उद्देश्य सुनने, बोलने, पढने व लिखने की योग्यताओ का विकास करना है, अत. भाषा सम्प्राप्ति का मूल्यांकन करते समय इन्ही योग्यताओ का मूल्यांकन होना चाहिये, पुस्तक के ज्ञान का नही क्योकि पाठ्य-पुस्तके इन योग्यताओ के विकास के लिये साधन मात्र है । □□

लेनिनग्राद के हिन्दी विद्यालयों में

☐ डा जगमोहनसिंह राजपूत

दो दिन पहले हम लेनिनग्राद आये । शहर देखा, शहर के बाहर पीटर के महल देखे । ऐसा लगता है कि इस शहर मे हर चीज दर्शनीय है, ऐतिहासिक है । मूर्तियां, पुल, मव्य इमारते, स्मारक, सग्रहालय, ऐतिहासिक महल, पार्क, जेल देख चुका हूँ । लगता है कि यह शहर इतिहास की पुस्तक ही नही एक मनोरम चलचित्र है । इस सब मे खो जाने के बावजूद रोज ही यह याद आ रहा है कि यहा के हिन्दी स्कूल मे जाना है । बच्चे उसमे प्रारम्भ से ही हिन्दी पढते है । उत्सुकता बढती जा रही थी और 21 सितंबर 1982 की सुबह हम हिन्दी बोर्डिंग स्कूल पहुच ही गए ।

प्रवेश करते ही कुछ सुदर चित्र और आदर्श वाक्य लिखे हुए दिखे । भारत की प्रधानमत्री उन दिनो रूस यात्रा पर थीं । स्कूल मे कई जगह सलीके से लिखा था – "इन्दिरा जी का स्वागत है ।"

प्राचार्य ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ आकर हमारा स्वागत किया । उन्ही मे से एक ने पूछा – "आपके नाम क्या है ?" मै आश्चर्य-विस्मित हो उठता हूँ कि मैने ठीक ही सुना है क्या ? पर मेरे कान धोखा नही दे रहे थे । जी हा, शुद्ध हिन्दी मे एक अत्यंत सौम्य और गरिमामय व्यक्तित्व ने ये शब्द कहे है । उनके उच्चारण मे आंचलिकता या विदेशीपन का लेशमात्र भी असर नही था । हिन्दी जैसे उनकी मातृभाषा ही रही हो । हम तीनो ने उन्हे अपने-अपने नाम बताए । परिचय के बाद उन्होने सौजन्यपूर्वक कहा, "आपके नाम बहुत अच्छे और ऊंचे स्तर के है ।" इस प्रारभिक परिचय के बाद हम प्राचार्य के कक्ष मे बैठे । हमारे दुभाषिये साथ थे । उन सज्जन ने फिर कहा – "आप हिन्दी मे बात करना पसद करेगे या अग्रेजी मे ?" हम भला ऐसा अवसर क्यो चूकते । स्वभावत. बातचीत हिन्दी मे शुरू हुई । इसी सिलसिले मे हमे यह जानकारी मिली कि इस विद्यालय को भारत से सहयोग तथा मैत्री की भावना को ध्यान मे रखकर स्थापित किया गया था और इसमे चार सौ बच्चो के पढने और रहने की व्यवस्था है । उल्लेखनीय यह है कि हिन्दी की पढाई यहां पहली कक्षा से ही शुरू हो जाती है । अब इसके पच्चीस वर्ष पूरे हो चुके है, हिंदी भाषा के साथ-साथ उन्हे भारत का इतिहास और भूगोल भी पढाया जाता है । रूसी जनता की यह अपेक्षा है कि ये विद्यार्थी यहा से जाने के बाद भारत के संबध मे अर्जित जानकारी अन्य लोगो को भी देगे । हिन्दी शिक्षा के साथ-साथ बच्चो को भारत की सस्कृति, कला, अर्थशास्त्र तथा विकास सबधी जानकारी भी दी जाती है । भारत के विशेष दिनो को भी समारोह पूर्वक मनाया जाता है । दो अक्तूबर 14 नवम्बर, 15 अगस्त, 26 जनवरी इसमे शामिल है । भारत से आने वाले विद्यार्थी भी यहा आकर बच्चों से मिलते हैं और कार्यक्रमो मे भाग लेते है । सोवियत भारत सांस्कृतिक संस्था का यह स्कूल एक सदस्य है । लेनिनग्राद मे एक मैत्री भवन भी है जहा पर इस स्कूल के विद्यार्थी समारोहो मे भाग लेते है । सप्ताह भर की पढाई पूरी करने के बाद बच्चे प्रति शनिवार को घर जाते है । मां बाप उन्हें लेने आ जाते है । जब स्कूल मे रहते है तो उन्हे दिन मे पाच बार खाना मिलता है । पुस्तके, कपडे भी मिलते है । यह मां बाप की आमदनी तथा बच्चो की सख्या पर निर्भर करता है । जिसके बच्चे ज्यादा होते हैं स्कूल उससे कम फीस लेता है या लेता ही नही है और उन्हे रहने खाने के खर्च में भी छूट मिलती है । जैसी

कि वहा स्कूली शिक्षा की व्यवस्था है, बच्चो के विकास के लिए अनेक-अनेक कौशल उन्हे सिखाये जाते है । समूहगान (कोरस), वाद्यवृद (आर्केस्ट्रा), कंठ सगीत तथा दूसरी तरफ तकनीकी कौशल भी सम्मिलित है ।

जिन महोदय ने हमसे हिन्दी में बातचीत शुरू की थी, उन आचार्य का नाम पी ए. वरान्निकोव बताया गया तो स्मृति मे कोई पुरानी किंतु परिचित संज्ञा उभरने लगी । लगा यह कि नाम शायद पहले कही सुना हुआ है । मुझे अपना इलाहाबाद याद आया, जहा मै छात्र था और वरान्निकोव भी वही थे । फिर तो महाकवि कालिदास के सबध मे आयोजित वह समारोह भी याद आया जिसकी सारी कार्यवाही हिन्दी या सस्कृत के बजाय अग्रेजी मे चल रही थी । वरान्निकोव समारोह से उठकर चले गये थे । बाद मे यह चर्चा का विषय बना । मुझे लगा वरान्निकोव के पिता स्व. ए. पी वरान्निकोव ने तुलसीकृत रामचरित मानस का रूसी भाषा मे पहला पद्यानुवाद किया था । उस अनुवाद की भूमिका से गुजरते हुए लगता है कि अनुवादक ने अपने काम के दौरान कितना कठोर परिश्रम और कितनी विस्तृत जानकारी हासिल की है । उसी परपरा को यह भी आगे बढा रहे हैं । सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी की लेनिनग्राद शाखा मे कार्यरत एक वरिष्ठ आचार्य होने के बावजूद मात्र हिन्दी स्नेह इन्हे इस हिन्दी स्कूल से बाधे हुए है । वरान्निकोव 1956–1959 के बीच भारत मे सोवियत दूतावास मे सास्कृतिक सचिव भी रह चुके है । आपने हिन्दी मे पुस्तकें लिखी हैं, अनुवाद किए हैं तथा हिन्दी विद्यालय के सचालन मे निरतर योगदान देते रहे है । हिन्दी पढाने की शुरूआत 1322 मे इनके पिता द्वारा ही हुई । फिलहाल तो लेनिनग्राद जैसे हिन्दी विद्यालय मास्को, ताशकद तथा दुशवे मे भी हैं ।

हम लोग कुछ कक्षाओ मे गए थे । दूसरी कक्षा के बच्चो की उम्र 8–9 साल की थी । कक्षा मे प्रवेश करते ही हमे सुनाई पढा – "नमस्ते हमे आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई ।" हम कक्षा मे सबसे पीछे जाकर बैठ गये । वहां भारत के मानचित्र के अलावा आधुनिक भारतीय महापुरूषो गांधी और नेहरू के चित्र भी लगे हुए थे । भारत के ऐतिहासिक स्थानो के चित्र भी थे । हिन्दी पढाने वाले गुरूजी ने लेनिनग्राद के विश्वविद्यालय मे ही हिन्दी अध्ययन पूरा किया किन्तु भारत अभी तक नही जा सके है, यद्यपि जाने की बडी इच्छा है । गुरूजी ने बच्चो से पूछा –

– "आप कैसी है ?"

– "धन्यवाद, मै अच्छी हूं ।" लडकियों ने एक साथ कहा ।

– "धन्यवाद, मै अच्छा हूं ।" लडको ने एक साथ कहा ।

अध्यापक ने अपना बैग खोला, हाथ मे लेकर एक-एक चीज दिखानी शुरू की । उत्तर अब एक-एक छात्र देता था ।

"यह पेंसिल है"

"यह एक किताब है"

"ये दो किताबे है"

"यह एक खिलौना है"

अब हम गिनती सीखेगे" अध्यापक ने कहना शुरू किया –

"एक दो, तीन, पांच, छ

"यह गलत है, विद्यार्थियो ने कहा और ठीक किया –

"एक, दो, तीन, चार

"बच्चे अब गाना सुनायेंगे –

दो और दो होते है चार
अ से अच्छा एक अनार
पुस्तको से प्यार करना
अच्छा और गुणी है बनना ।"

गुरूजी के बैग मे अक्षरो के कार्ड है, प्रत्येक पर एक अक्षर लिखा है । वे एक-एक करके दिखाते है । बच्चे उसे बताते है । बीच मे कई बार वह कार्ड को सीधा न दिखाकर घुमाकर दिखाते है – बच्चे तुरत उत्तर देते है "उलटे हैं" । जब हम चलने को हुए तो कहा जरा रुकिये, एक गीत सुनिये । कक्षा मे रेकार्ड प्लेयर, केसेट इत्यादि सभी की व्यवस्था थी । "चंदा मामा दूर के" की कुछ पक्तियां बजाई गयीं । बच्चो ने दोहराया कक्षा के बाहर आते समय हमने बच्चो को कुछ शब्द कहे । सभी प्रसन्न दिख रहे थे ।

इन बच्चो की कक्षा मे इस ओर ध्यान दिया जाता था कि जो बच्चे एक बार गलत जवाब देते थे, उनका भी उत्साह बढाने का प्रयत्न किया जाता था तथा अगले प्रश्न मे वह भाग लें, अध्यापक इसका ध्यान रख रहे थे ।

लेनिनग्राद मे चार इस प्रकार के बोर्डिंग स्कूल भाषा विद्यालय है । तीन अन्य भाषाओ के है । जैसी यहां की व्यवस्था है, सभी स्कूल सरकारी है ।

बच्चो का छात्रावास देखा, साफ सुथरे बिस्तर, खिलौने, सामान रखने की अलमारी। दूसरी कक्षा के विद्यार्थी अपने बिस्तर स्वयं लगाते है। कक्षा चार तथा उसके ऊपर की कक्षाओ के विद्यार्थी इस काम मे उनकी मदद करते है। समाज के सभी श्रेणी के बच्चे यहा पढते है। कुछ ऐसे भी है जिनके मा बाप साधारणतया घर पर नही रह पाते। शनिवार को बच्चो को ले जाते है और सोमवार को वापस ले आते है।

यहा के बच्चे भाषा अध्ययन मे अधिक समय देते है। वह सब पाठ्यक्रम जो अन्य स्कूलो मे पहले 10 वर्ष तक पढाया जाता है, यहा भी पढना पडता है। यहा हर स्कूल का प्रत्येक बच्चा कौशल सीखता है, इस विद्यालय मे भी हमने इसकी कार्यशालाए देखी। राकेट, प्रक्षेपास्त्र, इलेक्ट्रानिक के उपकरण, लकडी के काम, धातुओ की कर्मशाला, सिलाई, कढ़ाई, सभी प्रकार की व्यवस्था है। कुछ कर्मशालाओ के प्रशिक्षक भूतपूर्व सैनिक अधिकारी है। यहा उन सबका सहयोग लिया जाता है। हमने अनेक स्कूलो मे यह व्यवस्था देखी। यहा पर बातचीत के दौरान बताया गया जब बच्चे व्यस्त होते है तो वह व्यवस्था नही तोडते। यहा उन्हे अपनी रुचि के अनुसार व्यस्त रखने और रहने की पूरी व्यवस्था है।

हमे इसके बाद स्कूल के हाल मे ले जाया गया। वहा बच्चो ने हिन्दी मे कार्यक्रम प्रस्तुत किया। कक्षा एक के बच्चो ने स्टेज पर आकर गाया।

''भालू आया भालू आया''
''काली काली काया लाया''

कुछ बडी बच्चियो ने नृत्य प्रस्तुत किये। सब कुछ देखकर अच्छा लगा। इस बात की थोडी कमी लगी कि हिन्दी की बाल साहित्य सबधी नयी पत्र पत्रिकाए भारत रूस मैत्री संघ के कार्यकर्ताओ को वहा नही पहुच रही है। बच्चो के साहित्य के आदान प्रदान की विशेष आवश्यकता है।

हमे दोपहर के भोजन पर आमत्रित किया गया था। मै शाकाहारी हू तथा शराब टोस्ट भी नही ले सकता, यह उनके लिए आश्चर्यजनक था। मगर प्रोफेसर वरान्निकोव वहा उपस्थित थे। उन्होने मुझसे कहा – मैने इन्हे बता दिया है कि भारत मे मान्यताओ और परपराओ का क्या महत्व है। आप निश्चित रहे आपके लिए शाकाहारी भोजन का प्रबध है।

यहा अमिताभ बच्चन की चर्चा हुई। प्रोफेसर वरान्निकोव कवि हरिवशराय बच्चन से भली भाति परिचित रहे है तथा उनके बच्चो के लिए उन्हे अगाध स्नेह है।

यहा से चलते समय लगा कि अपनापन कही भी पैदा हो सकता है, विशेष रूप से ऐसी जगह जहा अपने देश की भाषा को सम्मान मिल रहा हो। □□

अच्छे विद्यार्थी कैसे बनें

☐ डा. विद्या सागर

सभी कक्षाओ मे सभी स्तर के विद्यार्थी होते हैं । उनमे से कुछ विद्यार्थी तो 70–80 प्रतिशत अंक पाने पर भी असंतुष्ट रहते हैं और कुछ 30–40 प्रतिशत अंक पाने पर भी अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं ।

कुछ विद्यार्थी आरम्भ मे तो तृतीय श्रेणी के योग्य होते है परन्तु धीरे-धीरे प्रगति कर प्रथम श्रेणी मे सफल हो जाते है । इसके विपरीत कुछ विद्यार्थी आरम्भ में तो प्रथम श्रेणी पाते है परन्तु धीरे-धीरे विभिन्न कारणो से पतनोन्मुख हो जाते है और या तो अंतिम परीक्षा तृतीय श्रेणी मे उत्तीर्ण करते है या यह भी करने मे असफल होते हैं । इन दो श्रेणियों के विद्यार्थियों की संख्या अत्यंत सीमित होती है और अपवाद के रूप मे भी जा सकती है । शेष विद्यार्थियो के अपने-अपने स्तर बन जाते हैं और उनके अनुरूप सभी परीक्षाओ मे अंक पाते हैं या एक सीमित दायरे के अन्दर घूमते रहते हैं ।

यद्यपि कुछ विद्यार्थी आरभ से ही प्रतिभाशाली होते है, और साधारण परिश्रम से ही अच्छे अक व श्रेणी प्राप्त करते रहते हैं, अधिकतर विद्यार्थी नियमित अध्ययन व कठिन परिश्रम करके अपने शिक्षा के स्तर को सुधारने व अधिक अंक पाने मे सफल होते हैं ।

अच्छे विद्यार्थियों की अध्ययन की शैली का विश्लेषण करने से सामान्यतया उनकी यह विशिष्टताएं देखने मे आती हैं ।

1 कक्षा मे नियमित रूप से उपस्थित रहते हैं और जो कुछ पढाया जाता है, उसे न केवल ध्यान लगाकर सुनते हैं बल्कि आत्मसात करने का प्रयत्न करते हैं ।

2. घर पर नियमित अध्ययन और कक्षा मे दिया गया काम पूरा करते हैं । यदि कोई विषय समझाने में कठिनाई होती है तो घर के किसी सदस्य, पास-पडौस के किसी व्यक्ति या विद्यालय के अध्यापक से समझने का प्रयत्न करते हैं ।

3 पढाई के साथ प्रत्येक प्रश्न के उत्तर व विषय पर लिखने का अभ्यास करते है । इससे पढ़ने-लिखने की त्रुटियाँ दूर होने मे सहायता मिलती है । साथ ही परीक्षा मे दिए गए सीमित समय मे विभिन्न प्रश्नो का समुचित उत्तर देने और अधिकतम अंक प्राप्त करने का अनुमान लगाने में सहायता होती है ।

4 वार्षिक परीक्षा में अच्छे अंक लाने के साथ ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से सभी विषयो के विभिन्न अंगों का समुचित अध्ययन करते है । साथ ही पाठ्यपुस्तको के अतिरिक्त सह पुस्तकों को पढने का भरसक प्रयत्न करते हैं ताकि उस विषय के सभी पहलुओ का पूरा ज्ञान हो जाए ।

5. शिक्षा के माध्यम की भाषा का अच्छा ज्ञान और इस पर अधिकार होने से सभी विषयों को लिखने मे सुविधा होती है ।

6. स्वच्छ व स्पष्ट लेख से परीक्षक को पढने मे कष्ट कम और अधिक अंक प्राप्त करने की संभावना रहती है ।

स्वामी विवेकानन्द को शब्दो मे ''पवित्रता, सच्ची ज्ञान व अध्यावसाय'' विद्यार्थी के विशेष गुण हैं ।

अच्छे विद्यार्थियो की विशिष्टताओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि अच्छे विद्यार्थी बनने के लिए नियमित अध्ययन व कडी मेहनत की आवश्यकता है । साथ ही प्रत्येक विषय का अध्ययन परीक्षा मे सफल होने के दृष्टिकोण के साथ-साथ उसका समुचित ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । ऐसा न करने से अगली कक्षाओं मे भी परेशानी होती है क्योंकि प्रत्येक विषय विशेषकर गणित और विज्ञान के सभी पाठों का एक दूसरे से निकट का संबंध ऐसा न होने से विद्यार्थी की उस विषय में अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह उससे दूर भागने लगता है ।

नियमित अध्ययन के अतिरिक्त परीक्षा के लिए तैयारी करना भी अपने में एक कला है । सभी परीक्षाओ मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने वाले एक सज्जन से इस राज को पूछने पर उन्होंने कहा कि परीक्षा के एक माह पूर्व वह प्रत्येक प्रश्न पत्र के लिए संभावित जिन प्रश्नों की एक सूची तैयार करते हैं । इन प्रश्नों के उत्तरों का भली-भांति अध्ययन करने के बाद दस ''अधिक सम्भावित'' प्रश्नो के उत्तरों को और अच्छी प्रकार तैयार करते हैं । अंत में इस सूची मे से पांच प्रश्न छांट लेते हैं । इस प्रकार से अधिकतर संभावित प्रश्नो के प्रश्न पत्र में शामिल होने पर कम से कम 50–60 प्रतिशत अंक से लेकर 70–80 प्रतिशत अंक प्राप्त होने मे कोई कठिनाई नहीं होती । अतः परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करने मे यही राज था ।

पहले ही प्रयास मे आई. ए. एस. परीक्षा मे सफल होने वाले एक सज्जन ने भी यही प्रणाली अपनाई थी । निबंध के लिए दस सम्भावित विषयों को चुनने के बाद अंत में एक प्रश्न का चयन किया । इस प्रश्न पर व्यापक अध्ययन के आधार पर एक लेख तैयार कर अपने पिता को दिखाया । उनके पिता ने उस निबंध के कुछ अनावश्यक अनुच्छेद काटकर कुछ नए अनुच्छेद जोडने का सुझाव दिया । अत्यंत थकावट के बावजूद भी उन्होंने एक बार फिर उस निबंध को दिए गए सुझावों के आधार पर लिखा, और संयोगवश यही निबंध परीक्षा में आ गया जिसमें उन्हें 150 में से 120 अंक प्राप्त हुए, जो बहुत कम प्रत्याशी प्राप्त कर पाते हैं ।

अधिकतर विद्यार्थी पाठ्यपुस्तक को बिना समझे पढते जाते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें प्रश्नोत्तर लिखते समय कुछ याद नही आता । यह कमी पढने के साथ-साथ लिखने पर भी विशेष ध्यान देने से दूर की जा सकती है । इस विधि से न केवल उस विषय का ज्ञान बढता है परन्तु लिखने में होने वाली अशुद्धियाँ भी दूर हो जाती हैं । मैंने कुछ सज्जनो को देखा है कि वह कुछ शब्दो का विन्यास जबानी बताने के स्थान पर लिखकर बताने मे अधिक सुविधा महसूस करते हैं क्योकि मस्तिष्क की अपेक्षा उस शब्द को हाथ भली प्रकार लिखने में सक्षम हैं ।

लिखने की रीति अपनाना सभी विषयो, विशेषकर वनस्पति शास्त्र, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि के लिए विशेष लाभदायक होती है क्योंकि इन सब विषयो मे किसी भी शब्द के लिखने में जरा सी अशुद्धि होने पर पूरे अंक कट जाते हैं । इन विषयो के विद्यार्थी, जिन्होंने लिखने का अभ्यास कम किया है या बिल्कुल नही किया है, समझते है कि उनका पर्चा अच्छा हुआ है परन्तु इसी कारण प्राप्तांक बहुत कम होने पर आश्चर्य होता है ।

बहुधा देखा जाता है कि रात-दिन परिश्रम करने पर भी कुछ विद्यार्थी सामान्य स्तर को सुधारने मे असमर्थ रहते हैं । ऐसे विद्यार्थियों का पढने का ढंग त्रुटिपूर्ण होने के कारण उनमें कुछ मूलभूत दुर्बलताएँ रह जाती हैं और उनका अधिकतर समय बेकार के कामों में नष्ट होता है । ऐसे ही एक सज्जन मेरे साथ छात्रावास में रहते थे । एक दिन पूछने पर कि वह क्या कर रहे हैं ज्ञात हुआ कि वह परीक्षा के लिए एक रिपोर्ट में दी जाने वाली एक तालिका के कुछ अंशों का अध्ययन कर रहे थे । गणित में कमजोर होने के कारण साधारण दस प्रतिशत निकालने मे लगभग एक घंटा व्यतीत कर चुके थे । वैसे भी यह प्रतिशत केवल प्रतीकात्मक थे और इन का अपने मे कोई उपयोग नही था । इस प्रकार से यद्यपि वह सज्जन समझते थे कि उन्होंने काफी समय तक काम किया है, वास्तव मे उन्होंने उस समय को किसी उपयोगी काम में नहीं लगाया ।

यह बहुधा देखने मे आता है कि आरम्भ मे अच्छे विद्यार्थी जो बाद को पतोन्मुख हो जाते हैं, उनमें अधिकतर या तो शिक्षकों के पुत्र होते हैं या आरम्भ से ही किसी निजी शिक्षक से घर पर शिक्षा प्राप्त करते हैं । छोटी कक्षाओ मे तो वह घर पर मिली सहायता व बरती कडाई के कारण अच्छे अंक पाने में समर्थ हो जाते हैं । परन्तु बाद मे उन पर लगे अंकुश के हटने से वह पढाई मे ढील देते जाते हैं । और इनका शिक्षा स्तर निरंतर गिरता जाता है ।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, अधिकतर विद्यार्थियों का आरंभ से अंत तक समान स्तर ही रहता है विभिन्न परीक्षाओ मे केवल कुछ प्रतिशत अंको का अतर रहता है । ऐसे विद्यार्थियो का मानसिक स्तर व काम करने का ढग ऐसी स्थिति मे पहुंच चुका होता है कि वह रेखा केवल विशेष परिश्रम या किसी नवीन प्रणाली को अपनाने से ही दूर की जा सकती है । इस संदर्भ मे उनकी सहायता कोई जानकर व्यक्ति ही कर सकता है जो उनकी दुर्बलताओ का विशेष अध्ययन कर सके । संस्कृत के एक श्लोक के अनुसार विद्यार्थियों के यह गुण होने चाहिए . अल्पाहारी, श्वान के समान निद्रा वाला और बगुला के समान ध्यान रखने वाला ।

ऊपर दी गई चर्चा से निष्कर्ष निकाला जा सकता है यद्यपि अच्छे विद्यार्थी कुछ विशिष्ट गुणो के कारण ही सदा अच्छेक अंक पाने में सफल होते है । अन्य विद्यार्थी भी उचित उपायों से अपनी पढाई मे सुधार करने मे सक्षम हो सकते हैं । हो सकता है कि उन्हे प्रथम श्रेणी पाने या कक्षा मे सबसे अच्छे विद्यार्थी बनने मे कुछ कठिनाई हो किंतु वे अपने स्तर मे 20 प्रतिशत से 40 प्रतिशत तक सुधार अवश्य ला सकते हैं । वास्तव मे परीक्षा से अधिक अक पाना प्राकृतिक योग्यता के साथ-साथ सुनियोजित मेहनत पर भी निर्भर करता है ।

अंत में यह कहना भी उपयुक्त होता कि घर के वातावरण का भी विद्यार्थी पर प्रभाव पडता है । घर पर पढाई पर मा बाप द्वारा कोई महत्व न दिए जाने पर उसमे अरुचि होनी स्वाभाविक है ।

□□

शिक्षकों ने लिखा है

प्राथमिक शिक्षा – कुछ स्फुट विचार

□ डा. जयन्ती प्रसाद मिश्र

अध्ययन, अध्यापन और अध्यात्म ऐसे शब्द हैं जिन्हें लौकिक और अलौकिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है । इनका संबंध मस्तिष्क, हृदय तथा क्रिया के संयोजन से है । यदि इन तीनो मे से एक का भी साथ न हो तो अध्ययन जैसी एक भी क्रिया सफल नही हो सकती । यही कारण है कि महात्मा गांधी ने बेसिक शिक्षा लागू की थी जिसमें मन, हृदय और हाथ तीनो के संयोजन की आवश्यकता होती है । क्योंकि शिक्षण और अध्ययन का कार्य अलौकिक जैसा है, अत इस क्षेत्र मे संलग्न प्राथमिक शिक्षा का कार्य बहुत महत्वपूर्ण होता है क्योकि वे अबोध बालको से संबंधित होते है । यह कार्य उस छद की तरह है जिस पर आदि कवि के समूचे लोककल्याणकारी महाकाव्य की सर्जना हुई । यह उस महान यज्ञ की प्रथम आहुति है जो एक परिवार, कुटुम्ब तथा समाज की जीवन धारा परिवर्तित करने मे समर्थ होती है । पहला कार्य, पहली बात या पहला कदम जितने सफल, समर्थ तथा सविध बन पडेगे उतनी ही समर्थता आगे के कार्य को गति देने मे आ सकेगी । प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य शिक्षक करता है वह है शिष्य मे रुचि जाग्रत करना, उसमे अध्ययन के प्रति प्रेरणा तथा जिज्ञासा का विकास करना । उसमे अध्ययन के प्रति प्रेरणा तथा जिज्ञासा का विकास गुरू से गुरूतर कार्य का महत्वशील चरण होता है । हर प्राणी में विकास की क्षमता विद्यमान होती है और वह अपनी सहज स्थितियो मे विकसित होती है । विभिन्न वैज्ञानिको एव शिक्षा शास्त्रीयो के शोधों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि हर एक वस्तु, व्यक्ति और प्राणी अपनी निहित शक्तियो का विकास तभी कर पाता है जबकि उसे अनुकूल वातावरण भी मिले । अत: अध्यापक का कार्य शिक्षालय के भौतिक वातावरण की संरचना से लेकर शिष्य के लिए उपयोगी सामग्री चयन आदि तक ही सीमित नही रहता अपितु उसकी विकास रेखा का नियमन और पुनर्विकास की ओर प्रवृत्त करना भी होता है । अध्ययन, खेल और फिर अध्ययन तथा परीक्षा इस दिशा मे महत्तर सोपान ठहरते है । इससे यह स्पष्ट होता है कि परीक्षा शिष्य के विकास के नियमन की श्रृखला की एक कडी है न कि बाधा और रोक के लिए वह कांटेदार तारो वाला फाटक जो शिष्य के पलायन का कारण बन जाए ।

'शिक्षा'' शब्द सीखने से ही बना है । धरती पर आ जाने पर तो हर चीज बढती ही है । विकास पूर्ण, विकास या अंत, ये विकास के ही रूप है । इस प्रकार यह भी आवश्यक है कि हर चीज उचित रीति से विकास प्राप्त करे । शिष्य भी सीखे तो अच्छी बात ही सीखे और उसका स्वरूप उचित गति से विकसित हो । जिस प्रकार एक पौधा सही ढंग से काट छांट किए जाने पर एक सुंदर वृक्ष का रूप धारण करता है उसी प्रकार हर बच्चा कुछ सुबोधताओं द्वारा नियमित होकर सुपात्र और सच्चा नागरिक बनता है । अनेक शोधों से यह सिद्ध किया गया है कि नियंत्रण विकास मे बाधक होता है । फिर भी यह कहना अनर्गल नही है कि विशिष्ट परिस्थितियों मे सुचारुता लाने के उद्देश्य से नियंत्रण नही अपितु विकास की गति को तीव्र करने वाला वह मत्र है जिसके अभाव मे हुआ अनियंत्रित

विकास, विकास नहीं कहा जा सकता । इस दृष्टि से एक कोमल मस्तिष्क वाले कोरे कागज जैसे बालक के अध्यापक या माली – प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक, का काम कितना ऊंचा है और कितना सावधानी का है यह समझने की बात है । उसका कार्य उतना ही गुरूतर है जितना घर पर माता का ।

मानव मन अनेक मनोविकारो से युक्त होता है । सासारिक जीवन, इसकी सफलता, असफलाता सब कुछ इन मनोविकारो पर ही तो निर्भर है । यो तो आदमी का पुतला अपने सहज सस्कारो को लेकर इस भूमि पर अपने पैर पसारता है किन्तु शिष्य की किस क्रिया पर कौन सा मनोविकार सजग और सक्रिय होगा और इससे उसकी किस आदत का रूप गठित होगा यह देखना अध्यापक का पहला काम होता है । सहनशीलता, श्रद्धा, प्रेम, सदभाव, दया, ममता तथा सद्वृत्ति आदि की पुष्टता तथा क्रोध, ईर्ष्या, अधीरता, असहनशीलता तथा अन्य ऐसे ही अनेक विकारो की शिष्यो की आदतो में न्यूनता और एकदम अभाव,के द्वारा उनका व्यक्तित्व सपुष्ट हो, यह प्रयास हर अध्यापक को अध्ययन और अध्यापन के साथ-साथ ही सदैव सप्रयास करना चाहिए । प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक को इस कार्य मे अधिक सफलता मिल सकती है । उनके पास तो शिष्य शिशु की अवस्था से थोडा ही ऊपर उठने पर आ बैठता है । उस अवस्था मे श्रद्धा जैसे मनोविकार का बोलबोला होता है । अत इस अवस्था मे अध्यापक का आदेश गुरूवाणी होना है और यदि वह वास्तव मे गुरूवाणी या गुरूगिरा हो तो क्या कहना ? (क्योकि गुरूगिरा वही बात हो सकती है जिसमे प्रेम, दुलार, निश्छलता, सहजता तथा अपनत्व निहित होगा) यहा यह अनुल्लिखित नही रहना चाहिए कि छोटे से छोटा बच्चा इन मनोविकारो को बहुत अच्छी तरह पहचानता है । सत शिरोमणि महात्मा तुलसीदास जी ने भी तो "हित अनहित पशुपक्षिहु जाना" कहकर "मानव को गुणो का समूह और ज्ञान निधान कहा है" । बच्चा उसी का रूप है । वह कुछ भी बन सकता है और बन जाता है । अत: हर एक छात्र या शिष्य को साक्षर बनने के योग्य ही नही अच्छा नागरिक बनने के लिए समर्थ होने की परिस्थितियां पैदा करना अध्यापक और विशेषत प्रार्थामिक शिक्षक का पहला काम है । परन्तु अधिकाश प्राथमिक विद्यालयो मे आज कुछ अलग ही घटित हो रहा है, यह किसी से छिपा नही है ।

यह असत्य नही कहा जा सकता कि पहला शिक्षक माता होती है । इसके बाद परिवार के अन्य सदस्य और तब कही प्राइमरी स्कूल का अध्यापक होता है । तथापि ऐसे अनेक उदाहरण है कि जहा प्राथमिक स्कूल के शिक्षको ने अपने अनेक शिष्यो की जीवन धाराएं बदलकर उन्हे ही नही अपितु उनके सम्पूर्ण परिवारो तथा भावी पीढियो को कृतार्थ कर दिया और वे पीढिया आज उन प्राइमरी पाठशालाओ के शिक्षको के प्रति कृतज्ञ है जिन्होने कि अपनी नि.स्वार्थ कर्तव्य परायणता से उनकी पीढियो को कृतकृत्य किया । वस्तुत. बात तो यह है कि जब तक शिष्य और गुरू मे पुत्र और पिता की धारा मे प्रचलित प्रेम का रिश्ता नही बन पाता तब तक न तो अध्यापन हो सकता है और न अध्यापक का जीवन गुरू का जीवन । अत यहा यह कहना समीचीन होगा कि अध्यापक विशेषत पहले अध्यापक की प्रतिभा जितनी उज्जवल निर्मल और दिव्य होगी उसका प्रभाव शिष्य पर भी उसी अनुपात मे उतना ही गहरा पडेगा वहा मा बाप के सस्कारों की अशिवता स्वत ही म्लान हो जायेगी और शिष्य अपने आप उस परिवार के सस्कार बदलने लगेगा । यही कारण है कि एक अध्यापक को एक आदर्श नागरिक और इसान होना चाहिए ।

शिक्षा का कार्य भौतिकवादी तडक भड़क से विशेष तादात्म्य न रखकर कुछ ऐसे मनोविकारों से सबधित है कि जो सहनशीलता, धीरता, सतोष आदि के आत्मिक और आध्यात्मिक सुख और आनद का आस्वाद कराते है । इसका अर्थ **अभिद्या** द्वारा नही लक्ष्णा और व्यजन द्वारा अपने सही रूप मे बोधगम्य होता है । इसमे जहा निष्ठा, जिज्ञासा तथा बहुज्ञता का जितना स्थान है उतना ही प्रेम, उदारता, सहनशीलता तथा सहृदयता का भी है । अत. अध्यापक बनने के साथ-साथ हर अध्यापक को इन गुणो के ग्रहण करने के लिए सचेष्ट रहना चाहिए ।

इन कुछ पहलुओ पर विचार के अनतर यह समझ मे आता है कि देश के प्राथमिक स्कूलो मे शिष्यो मे मौखिक चर्चा, कहानियों तथा गीतो द्वारा विभिन्न सदगुणो का विकास करना जितना अनिवार्य है वहां यह भी अनिवार्य है कि हर बच्चा कम से कम मातृभाषा पढना और लिखना एव अको का सामान्य अभ्यास (जोड, घटाना, गुणा तथा भाग) सीख जाए एवं उसमे स्वयं कार्य करने की क्षमता का विकास कर दिया जावे । यद्यपि यह कार्य अत्यल्प दिखाई देता है परंतु एक अबोध शिशु को लिखने पढने मे स्वावलम्बी बनना इतना सरल काम नही है । भाषा और गणित के अतिरिक्त इस स्तर पर सामाजिक अध्ययन का शिक्षण कार्य

मौखिक ही अधिक हो तथा विज्ञान के अर्थ मे वह जीवनोपयोगी रचनात्मक एव व्यावहारिक ढंग का हो तो अध्यापन और अध्ययन दोनो में अधिक सफलता हाथ लग सकती है । चित्रकला, बागवानी तथा कुछ अन्य हस्तकलाओ मे छात्रो को लगाना एक अनिवार्य क्रिया होनी चाहिए इससे बच्चे बहुत कुछ सीखते है तथा इनमे तल्लीनता से उन्हे जहां कार्य करना आता है वही वे स्वावलबी बनते है । यदि यह कहा जाए कि यह कोई ऐसा काम नही है जो प्राथमिक शिक्षा के बूते का न हो तो कोई अत्युक्ति नही है । अध्यापक की निष्ठा, लगन तथा शिष्यो को कुछ आगे ले चलने की ललक यदि सजीव हो तो कोई काम असभव नही है । हमारी दृष्टि मे अनेक ऐसे अमर दिवगत प्राथमिक शिक्षक हुए हैं । जिन्होने अपने शिष्यो के प्रति कर्तव्यशील रहकर समाज मे गरिमा मडित स्थान प्राप्त किया ।

□□

पहाड़ी क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षकों की स्थिति

☐ रामेश्वर दत्त शर्मा

प्राथमिक शिक्षा उच्च शिक्षा का आधार है । शिक्षा रूपी दीवार की बुनियाद बनाने मे प्राथमिक अध्यापक का महत्वपूर्ण स्थान है । भारत का भविष्य आज के ये नन्हें मुन्हें बालक ही है । शिक्षा शास्त्री व शिक्षा विशारद शिक्षा के नियम बनाते हैं, सरकार के विभाग इन नियमों को लागू करवाते है किन्तु इसका समुचित रूप उन अध्यापकों के सामने आता है जो वास्तविक रूप से प्रयोगात्मक क्षेत्र में होते हैं । मैदानी क्षेत्रो के अतिरिक्त भारत में पहाड़ी क्षेत्र भी हैं । इन क्षेत्रो मे प्राथमिक अध्यापक विभिन्न रूपों मे आगे आता है । प्राथमिक विद्यालय मे अध्यापन के अतिरिक्त वह शारीरिक शिक्षक, वैज्ञानिक, डाक्टर यहाँ तक कि चौकीदार और चपरासी तक का काम भी वही करता है ।

पहाडी क्षेत्र मे प्राथमिक अध्यापक को अनेक कठिनाइयो व समस्याओ का सामना करना पडता है । पहाडी जीवन कठिनाईपूर्ण जीवन है । यहाँ बच्चो को स्कूल और घरो के अतिरिक्त खेतों मे भी काम करना पडता है । ये बालक प्राय: हस्तशिल्प मे विशेष रूप से योग्य होते हैं । यहाँ अध्यापक बालको मे कृषि कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने मे सहायक होता है । बालक पथरीली जमीन मे अन्न उगाने की योग्यता प्राप्त करते हैं । यही से अनौपचारिक रूप से उनकी जीवन की शिक्षा का आरम्भ होता है । यह प्रसन्नता का विषय है कि हमारी सरकार इस ओर अपना दृष्टिकोण सकारात्मक बनाए हुए है । आज यूनिसेफ जैसी परियोजनाये इस दिशा में सराहनीय कार्य कर रही है ।

वर्तमान स्थिति मे प्राथमिक अध्यापक के सम्मुख पहाडी क्षेत्र मे निम्नलिखित समस्यायें हैं –

(1) **शिक्षण साधनों का अभाव** — आधुनिक वैज्ञानिक साधन जैसे फिल्मे, फिल्मस्ट्रिप्स आदि मनोवैज्ञानिक खोजो के अनुसार बालशिक्षण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । परन्तु पहाडी क्षेत्रों के विद्यालयो मे इनका अभाव है ।

(2) **अशिक्षित अभिभावक** — दूर-दराज के क्षेत्रो मे बालकों के अभिभावक अधिकतर अशिक्षित है । वे शिक्षा का महत्व नहीं समझते और बालको की शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं देते ।

(3) **कर्मचारियों व अध्यापकों का अभाव** — प्राथमिक विद्यालयों मे बच्चों की संख्या अधिक होती है । इस संख्या के अनुपात में अध्यापक कम होते है ।

(4) **पाठ्यान्तर क्रियाओं में साधनों का अभाव** – खेलना, कूदना, हस्तकार्य व अन्य सामूहिक गतिविधियो का आधुनिक शिक्षा मे विशेष महत्व है । इन क्रियाओ को वास्तविक रूप देने के लिए अन्य कमरे, खेल का मैदान व क्यारियों आदि का अभाव है ।

(5) **वातावरण की प्रतिकूलता** — कई स्थान पर विद्यालय ऐसी जगह में स्थित है जहाँ चारों ओर से विघ्न-बाधायें पडती हैं ।

(6) **निर्धन अभिभावक** — कुछ बालको के अभिभावक निर्धन है और वे बच्चों को पूरा पढने का सामान, फीस व ड्रेस आदि समय पर नही जुटा सकते ।

पहाडी क्षेत्रों मे अध्यापक इन समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित उपाय अपना सकता है –

(1) **अध्यापन के प्रति अध्यापक को शौक** – अध्यापक को अध्यापन व्यवसाय न मान कर शौक के रूप मे लेना चाहिए इसे कला के रूप में अपनाना चाहिए ताकि वह सदैव लगनशील रहे । इससे बालकों की शिक्षा मे निरन्तर विकास होगा ।

(2) **उपलब्ध स्थानीय सामग्री का पूर्ण प्रयोग** — अध्यापक को नई सामग्री की अनुपलब्धता का बहाना ही नही बनाना चाहिए बल्कि उपलब्ध स्थानीय सामग्री का भी यथा जरूरत पूर्ण प्रयोग करना चाहिए । उसे अपने प्रयोग के लिए नई वस्तुये स्वयं बना लेनी चाहिये ।

(3) **सरकार से मिलने वाली सहायता से बच्चों को लाभान्विल कराना** — हमारी सरकार शिक्षा के विकास के लिए बच्चो को कई प्रलोभन व सहायता देती है । निर्धन बच्चो को छात्रवृत्तियॉ, ड्रेस आदि देनी है । अत. अध्यापक को सरकार से मिलने वाली इस सहायता िलवाने के लिए पूरा सहयोग देना चाहिए ।

(4) **विद्यालय मे समय का सदुपयोग** — बच्चो और अध्यापक का समय विद्यालय मे निरर्थक नही गुजरना चाहिए । समय का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए ।

(5) **दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग** — दृश्य-श्रव्य साधनो का प्रयोग करने से बालक सक्रिय रहते है और पाठ सरल बन जाता है । जहां तक सम्भव हो, इनका पूर्ण उपयोग करना चाहिए ।

(6) **नवीन शैक्षणिक खोजो से परिचित रहना** — सरकार को चाहिए कि समय-समय पर नवीन शैक्षणिक खोजो को अध्यापक तक पहुँचाए और अध्यापक को भी इस दिशा मो सजग रहना चाहिए ।

(7) **आवश्यकताओ के अनुरूप शिक्षा देना** — अध्यापक को स्थानीय आवश्यकताओ के अनुरूप बालको को शिक्षा देनी चाहिए ताकि बालक अपनी स्थानीय घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके ।

(8) **पाठ्यान्तर क्रियाऐ** — खेलने, कूदने और सामूहिक क्रियाओ आदि मे बच्चे बहुत शौक रखते है । इन क्रियाओ द्वारा बच्चो को शिक्षा दी जा सकती है ।

(9) **समवाय** — समवाय कठिन विषयो को पढाने की एक महत्वपूर्ण विधि है । साधनो के अभाव पर भी इससे पाठ की जानकारी सरलता से दी जा सकती है ।

(10) **अभिभावको को जागरूक करना** — शिक्षा के प्रति अभिभावको को जागरूक करने के लिए विद्यालयो मे अभिभावक दिवस आदि मनाने चाहिए और अभिभावको से निकटतम सबध स्थापित करना चाहिए । □□

समाचार और विचार

प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण

☐ शिविरा जुलाई 84 से सामार

भारत सरकार 1990 ई तक उन सभी बालक बालिकाओ के लिए प्राथमिक शिक्षा को सुलभ कराना चाहती है जो इस शिक्षा को पाने के आयुवर्ग मे आते है । इस सबध मे पत्र पत्रिकाओ के माध्यम से जानकारी मिलती रहती है ।

इसी दिशा मे 24 मई 1984 को राज्यो के शिक्षा मन्त्रियो की एक कान्फ्रेस नई दिल्ली मे आयोजित की गई । बैठक मे एक मत से सभी शिक्षा मन्त्रियो ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अधिक धन की माग की । यह भी कहा कि विशेष रूप से शिक्षा को + 2 स्तर पर व्यावसायिक रूप देने के लिए धन की अधिक आवश्यकता है । इस कान्फ्रेस मे केन्द्रीय शिक्षा राज्य मत्री श्रीमती शीला कौल ने आशा व्यक्त की कि माध्यमिक स्तर पर शिक्षा को रोजगारपरक बनाने के लिए सातवी योजना मे व्यापक कार्यक्रम लागू किया जाएगा । ताकि विद्यार्थी जीवन मे रोजगार योग्य बन सकें । उन्होने कहा कि आध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पश्चिमी बगाल, रोजगारपरक बनाने के लिए कुछ काम किया है । उन्होने यह भी कहा कि शिक्षा सचिव की अध्यक्षता मे एक स्टीयरिग कमेटी का निर्माण किया गया है जो इस कार्यक्रम के समन्वयन एव क्रियान्वयन का काम देखेगी । उन्होने यह भी कहा कि राज्यो के शिक्षामत्री अपने मन मे समाज के पिछडे वर्गों जैसे – अनुसूचित जन जाति, अनुसूचित जाति को शिक्षा का लाभ देने का विचार रखे ।

तमिलनाडु के शिक्षा मंत्री श्री अरगनायकम ने यह तर्क रखा कि शिक्षा को समवर्ती सूची से राज्य सूची मे रखा जाए जो 42वें सविधान सशोधन द्वारा स्वीकृत की गई थी । उन्होने कहा कि यह इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा स्थानीय आवश्यकताओ के अनुरूप उद्देश्यपूर्ण बन सके । उन्होने बताया कि तमिलनाडु शिक्षा को रोजगारपरक बनाने मे लगा हुआ है । इसके लिए केन्द्र की उदार सहायता उपेक्षित है । लगभग ऐसी ही बात पश्चिमी बगाल के उच्च शिक्षा मत्री श्री शम्भू घोष ने की । उन्होने तर्क दिया कि शिक्षा का समवर्ती सूची वाला स्वरूप राज्यो को शिक्षा के लिए लाभदायक नही है । यह स्वरूप उनको ताकत नही देता । केन्द्रीयकरण ने कठोरता तथा भेद उत्पन्न किया है । शिक्षा के राज्य सूची मे आने पर राज्यो को अपनी परिस्थितियों एव आवश्यकताओ के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप का निर्माण करने मे मदद मिल सकेगी ।

असम के शिक्षा मत्री श्री मुकुट शर्मा ने पहाडी इलाको मे शिक्षा की समस्याओ की ओर ध्यान आकर्षित किया जहा विभिन्न बोली बोलने वाली जनसख्या रहती है । उन्होने अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए अतिरिक्त धन के लिए भी कहा । राजस्थान की शिक्षा मत्री श्रीमती कमला ने कहा कि प्रौढ शिक्षा के लिए निर्धारित 35 वर्ष की अधिकतम आयु सीमा को हटा दिया जाए या इसको 55 वर्ष कर दिया जाए । उन्होने बताया कि राज्य मे 30,000 अध्यापकों की कमी है ।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा मत्री श्री अम्मार रिजवी ने कहा कि यदि ठोस प्रयास करे तो प्राथमिक शिक्षा को 1990 तक सबके लिए

सुलभ बनाया जा सकता है । उन्होने स्कूल छोडने वालो के बढते प्रतिशत की भी चर्चा की । गुजरात के शिक्षा मत्री श्री प्रबोध राव ने कहा कि राज्य में वर्ष 1983–84 मे 600 अध्यापको को लगाकर अवरोध दूर किया गया है । इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश के शिक्षा सचिव ने भी राज्य के अनुभव बताते हुए कहा कि अध्यापकीय विद्यालयों में स्वैच्छिक अध्यापक लगाकर शिक्षित बेरोजगारों की समस्या को हल करने का प्रयास किया गया है ।

कांफ्रेंस मे सबसे अधिक जोर विद्यालयो के भवनो की कमी पर दिया गया । केरल के शिक्षा मत्री श्री टी. एस जेकब ने कहा कि विद्यालय भवनो के निर्माण के लिए राज्य सरकार को 120 करोड रुपए की जरूरत है जबकि आंध्र प्रदेश के प्रतिनिधि श्री बी पी. रामाराव ने कहा कि भवनो के निर्माण के लिए बैक से रियायती दरो पर कर्ज दिया जाना चाहिए ।

इसके लिए पहले 23 मई 84 को राज्यो के शिक्षा सचिवो की बैठक हुई थी । शिक्षा सचिवो की सिफारिशों को यहां शिक्षा मत्रियो की कान्फ्रेंस मे रखा गया । शिक्षा सचिवो ने शिक्षा के हर स्तर और अध्यापको के प्रशिक्षण कार्यक्रम में ''सांस्कृतिक शिक्षा'' को सम्मिलित करने की सिफारिश की है । शिक्षा सचिवों ने सांस्कृतिक शिक्षा के मामले में समन्वय पर बल देते हुए सलाह दी कि सातवी पचवर्षीय योजना मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विभिन्न राज्यो के सांस्कृतिक विभाग द्वारा संचालित सांस्कृतिक संगठनो को मान्यता देने के लिए ठोस कार्यवाही करनी चाहिए । □□

प्राइमरी शिक्षक

वर्ष 10, अंक 4 अक्तूबर 1985

आपके पत्र : समीक्षा और सुझाव

प्राइमरी शिक्षक अपने नये कलेवर में आपके सामने है। इस अक की कौन-सी रचना आपको अच्छी लगी, कौन-सा लेख उपयोगी है, इसकी समीक्षा आप हमें भेजे। आपकी कौन-सी ऐसी समस्याएँ है जिनका समाधान हम प्राइमरी शिक्षक के माध्यम से कर सकते है, हमें बताये।

समीक्षा और सुझाव आपका अपना पृष्ठ है। इस स्तम्भ के लिए आप हमे पत्र अवश्य लिखे।

सम्पादकीय

शिक्षा और व्यवसाय

व्यावसायिक शिक्षा के संदर्भ में शिक्षा के योगदान की चर्चा बहुत समय से चली आ रही है। 17वी शताब्दी से ही जर्मनी ने व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा को लगभग सभी स्तरो पर आयोजित किया और प्रदान करना प्रारम्भ किया। औद्योगीकरण के समय केवल जर्मनी में ही सुशिक्षित, कुशल कारीगर थे। उन्होने न केवल अपने राष्ट्र को आवश्यक कौशल प्रदान किया वरन् और सबको भी अपनी विशिष्ट शिक्षा प्रणाली का लाभ दिया।

21वी शती की प्रतीक्षा में खडे भारतवासी अभी भी इस प्रकार की सुशिक्षा से वंचित है। अभी भी काफी समय लगेगा जब भारत की शिक्षा राष्ट्र की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर पायेगी। शिक्षा के इतिहास मे जाये बिना भी बताया जा सकता है कि यदि हमारी शिक्षा सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा मूलत: कौशल-प्रधान होती तो कितना अच्छा रहता। वैसे भी यह बात सभी जानते है कि शिक्षा से न केवल मानव विकास ही सम्भव है वरन् समाज का भी सर्वतोमुखी विकास होता है। उत्पादन तथा उत्पादकता बढती है। इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी शिक्षा अधिक से अधिक व्यवसाय-प्रधान हो किन्तु इस प्रकार शिक्षा काफी अधिक खर्चीली होगी इसलिए छात्र-छात्राओ को उनकी मूल वृत्तियो के अनुरूप ही सुविधायें प्रदान करनी होंगी।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् मे वोकेशनल गाइडेन्स एकक है जिनका मूल काम यही है कि व्यवसायों के सन्दर्भ में छात्रो तथा उनके अध्यापकों को प्रशिक्षित करें और उन्हें बतायें कि किस प्रकार के व्यवसाय में कौन अधिक उपयुक्त होगा, तथा कौन से वह व्यवसाय हैं जिनके लिए कौशल-प्रधान शिक्षा उपलब्ध है। उसी एकक की सहायता से हम अपने अध्यापकों के लिए प्राथमिक स्तर पर भी व्यावसायिक सलाह के संदर्भ मे जानकारी प्रस्तुत कर रहे है। इस प्रकार की सामग्री से अधिक अपेक्षाये नही करनी चाहिए क्योकि यह अपने में प्रारम्भिक प्रयास है। फिर भी यह सराहनीय प्रयास है और इसी कारण हम इसे अपने छात्रो के सम्मुख रख रहे है। आशा है अध्यापकगण अपनी प्रतिक्रियाओं द्वारा हमें दिशा निर्देश देंगे।

—राजेन्द्रपाल सिंह

भाषा शिक्षण में एक नूतन प्रयोग

(प्रायोगिक परियोजना)

☐ ऊषा जायसवाल

इस अद्भुत सृष्टि मे मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने अन्त करण मे उत्पन्न होने वाले समस्त भावों एवं विचारो को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। वस्तुत. यह प्रकृति प्रदत्त शक्ति है जिसे मनुष्य प्रयोग करता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए भाषा ही एक माध्यम है। दूसरे शब्दों में भाषा और मनुष्य का सम्बन्ध अटूट है। प्रत्येक मनुष्य में भावाभिव्यक्ति की उत्कट अभिलाषा विद्यमान रहती है जिसके लिए वह भाषा का सहारा लेता है। इस सबध मे प्रसिद्ध विद्वान जेस्पर्सन का मत है कि "भाषा का निर्माण मानव द्वारा जानबूझकर नही वरन् स्वाभाविक रूप से हुआ है।"

भाषा की प्रकृति पर विचार करे तो स्पष्ट पता चलता है कि भाषा पूर्ण रूप से सामाजिक वस्तु है। जन्म के समय शिशु मे वाक क्षमता नही होती किन्तु पारिवारिक तथा सामाजिक व्यवहार के करण उसमें सभाषण की क्षमता उत्पन्न होती है। भाषा व्यक्ति की अर्जित सम्पत्ति होती है। प्रयास करके इसकी अभिवृद्धि की जा सकती है। भाषा को यदि टकसाल की उपमा देकर शब्दो को उसमें ढाले जाने वाले सिक्के कहे तो अतिशयोक्ति न होगी। भाषा पर व्याकरण का अकुश होता है जिससे उसकी एक-रूपता और सम्पन्नता मे निरन्तर वृद्धि होती है। जब बोली में संस्कार और परिमार्जन आ जाता है तब वह भाषा हो जाती है। भाषा के सवर्धन और सशोधन में व्याकरण का सर्वोच्च स्थान होता है। इस दृष्टि से व्याकरण भाषा की प्राण वायु होती है जिसके आधार वह जीवित रहती है।

स्थिति तथा पृष्ठभूमि

भाषा मे व्याकरण शिक्षण खास तौर से दुरुह समस्या है। माध्यमिक स्तर पर भाषा शिक्षण के समय भाषा के दो खण्ड हो जाते है। प्रथम मे साहित्य और द्वितीय में व्याकरण एव रचना को रख सकते हैं। साहित्य पढने-पढ़ाने मे कभी भी नीरसता का प्रश्न नही उठता। साहित्य वैसे भी बहुत सरस विषय होता है। इसमे छात्र एव शिक्षक दोनो ही रस मग्न होकर अध्ययन-अध्यापन करते है। किन्तु व्याकरण को प्रारभ से ही नीरस माना जाता रहा है। यद्यपि वर्तमान युग मे व्याकरण पढाने की पद्धति भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। जिसमे अब पहले जैसा व्याकरण को रटने रटाने में विश्वास नहीं रहा।

इसी दिशा मे यह परियोजना सन् 1983-1984 में व्याकरण शिक्षा नवीनता एव सरसता लाने हेतु प्रायोगिक विद्यालयो से ली गई जिसमें व्याकरण पढाने के लिए खेल का सहारा लिया गया और यह प्रयत्न किया गया कि किस प्रकार खेल को पाठ से जोड दिया जाय जिससे विद्यार्थी ऊबे भी नही और व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी रुचि पूर्वक ग्रहण करने में सक्षम हो सके। व्याकरण पढाने के लिए जो खेल पाठ तैयार किए गए उनमें से एक पाठ का नूतन प्रारूप कार्य सहित यहां प्रस्तुत है।

जोड़े का खेल

उद्देश्य—भाषा शिक्षण मे व्याकरण को रोचक बनाना, शब्द भण्डार बढ़ाना तथा भाषा का शुद्ध लिखना एव बोलना सिखाना।

साधन—चाक, बोर्ड, कापी, कलम आदि इसका आयोजन कक्षा 8वीं के विद्यार्थियो के साथ हुआ।

पूर्व तैयारी—शब्दों के जोडे पहले से शिक्षक को छांटकर रख लेने पड़ते थे। ये जोड़े पर्यायवाची, विलोम, तत्सम, तत्भव, देशज एवं विदेशी आदि थे। यहां पर सूक्ष्म भेद वाले जोडे के खेल की कार्य प्रणाली प्रस्तुत है—

व्यवस्था—1. सर्व प्रथम पूरी कक्षा को दो भागों में बाट दिए गए। समूह "क" और समूह "ख"।

2. दस ऐसे शब्द युग्म पहले से छाटकर लिख लिया गया जिनके समानार्थी शब्दों में सूक्ष्म भेद होते है। ये शब्द युग्म निम्नलिखित हैं—

1.	अहंकार	अभिमान
2.	अगम	दुर्गम
3.	अध्यक्ष	सभापति
4.	अनिवार्य	आवश्यक
5.	अस्त्र	शस्त्र
6.	आज्ञा	आदेश
7.	प्रार्थना	अनुरोध
8.	अभ्यास	प्रयास
9.	आचार	व्यवहार
10.	आयु	अवस्था

खेल प्रारम्भ—बोर्ड पर एक शब्द 'अभिमान' लिखा गया और "क" समूह से मिलता-जुलता अर्थ वाला शब्द बताने को कहा गया। "क" समूह ने यदि सही शब्द बता दिए तो उन्हे एक अक मिल गया अब दूसरे समूह "ख" से दोनों शब्दो का अन्तर पूछा। जैसे यदि पहले ने 'अभिमान' के लिए दूसरा शब्द 'अहंकार' या 'घमण्ड' दिया तो दोनों मे क्या अन्तर है यह स्पष्ट करे। यदि सही अन्तर बताया तो उसे भी एक अक मिल गया पर यदि पहला समूह "क" उत्तर नही बता पाता तो "ख" समूह से पूछा गया और "ख" के सही उत्तर मे उसे एक अक और "क" को शून्य अंक मिले। इसी प्रकार यदि "ख" समूह सही शब्द और उसका सूक्ष्म अन्तर भी ठीक बताया तो "ख" समूह को दो अंक और "क" को शून्य दिया। इसी प्रकार क्रम से बोर्ड पर पूरे दस शब्द दिए गए और खेल प्रक्रिया पूरे खण्ड काल तक चलती रही।

इस खेल में छात्रो ने रुचि तो बहुत दिखाई किन्तु पहली बार सभी शब्दों का सही अन्तर बताने मे उन्हें केवल दस प्रतिशत सफलता मिली। किन्तु दो सप्ताह के अन्तराल के पश्चात् इसी कक्षा मे पुनः इसी प्रकार का खेल प्रयोगात्मक दृष्टि से छात्रों को दिखलाया गया। इस बार दूसरे नए शब्द थे फिर भी 80 प्रतिशत छात्रो ने सही अन्तर समझा और शब्द युग्मों के सूक्ष्म भेद बताने मे उत्साह दिखाया। इस प्रकार उनके शब्द भण्डार में अप्रत्यक्ष रूप से लगभग 40 शब्दों की वृद्धि हो गई।

निष्कर्ष—1. भाषा के प्रति छात्रों की रुचि जागृत हुई।

2. भाषा शिक्षिका के उत्साह में वृद्धि हुई।

3. छात्रो के शब्द भण्डार मे वृद्धि हुई वे शब्दों के अर्थ ही नही उनके सूक्ष्म अन्तर को भी समझने लगे।

4. अधिकाधिक शब्दों के ज्ञान से हिन्दी भाषा का अधिक शुद्ध रूप उनके सामने स्पष्ट हो सका। विद्यार्थी शब्दों का सही वाक्य प्रयोग करने में सक्षम हो गए।

□□

पारिवारिक जीवनशिक्षा-दर्शन, सिद्धांत एवं अवधारणा

□ खेमराज शर्मा

पारिवारिक जीवन शिक्षा—पारिवारिक जीवन का एक विस्तृत कार्यक्रम है, जिसमें व्यावहारिक ज्ञान, मूल्य और प्रभावशाली पारिवारिक संबधों के प्रति दृष्टिकोण का ज्ञान प्राप्त होता है। पारिवारिक जीवन शिक्षा का उद्देश्य लडकों एवं लडकियों में गुणात्मक एव प्रभावशाली पारिवारिक सफल जीवन के प्रति दृष्टिकोण का विकास करना है। यह बच्चों एवं युवाओं के मानव यौन संबधो और उसके आपसी सबधो एव वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति के संबंध तथा प्रभावो का ज्ञान देती है। यह बच्चे के युवा विकास की प्रक्रिया के साथ-साथ शारीरिक, भावात्मक, सामाजिक, चारित्रिक, सहयोग ईमानदारी, श्रम भावना का महत्त्व, नागरिकता के गुणों के विकास की प्रक्रिया को समाहित करने का एक शैक्षिक कार्यक्रम है। इसका उद्देश्य पुरुपत्व एव स्त्रीत्व और लड़के तथा लड़कियों, पति एवं पत्नी तथा माता-पिता और बच्चे के सबधो की स्वस्थ अवधारणा विकसित करना है।

पारिवारिक जीवन शिक्षा की अवधारणा इस दशक की देन है और धीरे-धीरे इसका विकास एव स्थान राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय परिसवादों मे स्थापित हो गया है। यह युवाओ के लिए एक क्रमबद्ध प्रशिक्षण है, जो उन्हें जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण के प्रति सजग एवं तैयार करता है। यह प्रशिक्षण इनको अनुभवी अध्यापको की देखरेख में दिया जाता है। यह समाज में एक व्यक्ति की भूमिका निर्वाह के लिए आवश्यक ज्ञान एवं अनुभव पर आधारित शिक्षा है। इसमें युवाओं को सामाजिक कार्य-कलापों एवं कर्तव्य निर्वाह का ज्ञान दिया जाता है। उसका सामाजिक प्राणी के रूप में क्या कर्तव्य है इसका बोध उसे प्रशिक्षण के माध्यम से होता है। लड़कियो का नारीत्व ग्रहण करने वाले गुणों एवं उसकी एक नारी के रूप मे सामाजिक भूमिका एवं कर्तव्यनिष्ठा का ज्ञान दिया जाता है।

पारिवारिक जीवन शिक्षा मानव विकास एव व्यक्ति के सपूर्ण विकास की शिक्षा है। जब वह बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था मे प्रवेश करता है उसमें जीवन की प्रारंभिक कठिनाइयों एवं समस्याओ को दूर करने की क्षमता एव समाज में होनेवाले प्रतिदिन के जीवन के परिवर्तन को स्वीकार करने की क्षमता का विकास करना इसका प्रमुख उद्देश्य प्रौढत्व एवं सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक-कार्य है। इसका प्रमुख उद्देश्य नवनिर्माण को ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना है, तकि वह विभिन्न समस्याओं का एक सामाजिक व्यक्ति तथा अच्छे नागरिक होने के नाते उनका सामना और होने वाले सामाजिक परिवर्तन को ग्रहण कर सके।

परिवर्तन समाज की एक निरतर प्रक्रिया है। इसलिए बालक को परिवर्तन ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए एक क्रमबद्ध कार्यक्रम की आवश्यकता है। अत: बालक को मानवीय आवश्यकताओं एवं अवस्थाओं की अवधारणा से परिचित कराने एव परिवार द्वारा बौद्धिक भावात्मक विकास का मार्गदर्शन प्रदान करने की आवश्यकता है, ताकि वह सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, पर्यावरण एवं प्राकृतिक परिवर्तनों का सामना कर सके। परिवार समाज में सामाजीकरण की एक महत्वपूर्ण संस्था है। अत: बालकों एवं युवाओं को परिवार की भूमिका समझने के लिए शिक्षा देने की आवश्यकता है जिसमें वह परिवार तथा घर के कार्य को समझ सके और पारिवारिक सदस्य होने के नाते वह अपना कर्तव्य निर्वाह कर सके। उसको पारिवारिक

सबंधों के ज्ञान की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए, क्योकि विश्व एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है, समाज परिवर्तित हो रहा है, परिवर्तित होगा तथा पारिवारिक गठन मे परिवर्तन होता है और भविष्य मे भी होगा।

पारिवारिक जीवन शिक्षा के उद्देश्य

पारिवारिक शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार से है—

1. बालक में स्वचेतना एव स्वज्ञान का विकास करमा ताकि वह दिन-प्रतिदिन के जीवन में होने वाले सामाजिक मूल्यो को समझ सके।

2. बालक को व्यक्तित्व के विकास, शारीरिक विकास और तात्कालिक पारिवारिक जीवन की समस्याओं और यौन विकास की जानकारी प्रदान करना।

3. बालक को उसके तथा दूसरों के स्वस्थ यौन संबधों के बारे मे जानकारी प्रदान करना ताकि वह अपने यौन संबधों मे पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर रह सके और अतिक्रमण से बच सके।

4. बालक मे स्वस्थ यौन सबधों के प्रति समझ एवं गुण ग्रहण का विकास करना ताकि वह एक सुखी पारिवारिक जीवन का सृजन कर सकें।

5. वालक को सासारिक परिवर्तन के योग्य कार्य करने की क्षमता प्रदान करना ताकि वह मानसिक और भावात्मक स्थिरता स्थापित कर सके।

6. बालकों में आपसी सबंधो का विकास करना ताकि वह दूसरो के साथ अच्छे संबध स्थापित कर सकें और सामाजिक सुखी जीवन मे प्रवेश कर सकें।

7. पारिवारिक जीवन में गुणात्मक सुधार एव सुखी परिवार जीवन की शिक्षा प्रदान करना।

8. पारिवारिक जीवन शिक्षा की प्रकृति के संबंध मे जानकारी प्रदान करना।

9 शिक्षक एव परिवार तथा समाज में सहयोग की भावना को विकसित करना।

10 युवतियो के लिए विशेष शिक्षा का प्रबध करना ताकि परिवर्तित जीवन शैली में वह अपना योगदान दे सके।

पारिवारिक जीवन शिक्षा का व्यक्ति तथा समाज के लिए महत्त्व—

पारिवारिक जीवन वह वातावरण है जिसमें बच्चों का पालन पोषण होता है और वह दूसरो के साथ परिवार में रहता है। युवा-युवतिया आमतौर पर आदमियो और औरतों की भूमिका सीखती है। व्यक्ति का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वातावरण परिवार ही है।

परिवार ही एक ऐसी सस्था है जो बच्चे और समाज के बीच पुल का कार्य करता है। यह बच्चो को समाज के वातावरण से जोड़ता है। परिवार मे आपसी सद्भावना, प्यार-स्नेह और वैयक्तित्व उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। यह सदस्यो मे नागरिक गुणो के विकास मे सहायक भी होता है जो स्वय के सुखमय जीवन तथा परिवार और समाज की खुशहाली के लिए उपयोगी होता है।

पारिवारिक जीवन शिक्षा प्रौढ़ो को अपने परिवारिक समस्याओ के संबंध मे निर्णय लेने योग्य बनाता है ताकि वह भावना प्रवाह मे न आकर स्थिर मस्तिष्क से निर्णय ले सके। यह न केवल यौन व्यवहार का शारीरिक बलिक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण विस्तृत ज्ञान देता है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास कर सकता है। यह व्यवित को दूसरे के प्रति आदर सम्मान तथा सहकारिता की भावना का विकास करता है और

समाज कल्याण के प्रति सजग करता है।

पारिवारिक जीवन शिक्षा का लक्ष्य

पारिवारिक जीवन शिक्षा का उद्देश्य परिवार द्वारा दिए जाने वाले प्रशिक्षण की सहायता तथा उसे सबल बनाना है। इसका लक्ष्य समाज एवं विद्यालयीन शिक्षा को उसके द्वारा दिए जाने वाले प्रशिक्षण में सहायता प्रदान करना है। जिसका प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार है—

1 बालक के अपने संबंध मे एक व्यक्ति के रूप मे विकसित अवधारणा को प्रोत्हाहित करना।

2. स्वय ज्ञान और व्यक्तित्त्व उत्तरदायित्व की भावना के विकास को प्रोत्साहित करना।

3. सामाजिक मूल्य, नीति, आचरण, आध्यात्मिक मूल्य आदि तत्त्वों के विकास को प्रोत्साहित करना ताकि वह व्यक्ति के स्वयं के, परिवार के तथा समाज के सबधो को समझ सके एवं व्यक्ति का विकास कर सके और सुखी पारिवारिक जीवन निर्वाह के योग्य बन सके।

4. व्यक्ति के विकास तथा मानव उत्पत्ति के संबंध मे पूरी व्यवस्थित जानकारी प्रदान करना।

5. पारिवारिक गुणो का विकास करना ताकि वह समझ तथा सहनशीलता को प्राप्त कर सके।

6. पारिवारिक सदस्यो की भूमिका की सराहना करना तथा उनको सम्मानित श्रेणी प्रदान करना, जो कि पारिवारिक भूमिका विभिन्न कार्यकलापो को जोड़ते, परिवर्तित एव विकसित करते हैं।

7. सतोष और आपसी सबंधो को समझने की सामर्थ्य को विकसित एवं प्रोत्साहित करना।

8. पारिवारिक जीवन का ज्ञान देना तथा महत्त्व बताना जो एक स्वस्थ व्यक्तित्त्व एव अच्छे नागरिक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

9. युवाओ के विवाह एव यौन व्यवहार के सबंध मे संपूर्ण ज्ञान देना ताकि आपसी सम्मान तथा वैवाहिक जीवन को सीख सके और स्वयं तथा समाज की कठिनाइयों का व्यावहारिक ज्ञान अर्जित कर सके।

10 व्यक्ति की आवश्यकताओं एव व्यवहार को समझने की शक्ति का सचार करना ताकि वह अपनी तथा पारिवारिक समस्याओ को हल कर सके।

11. मुद्रा के मूल्य की समझ को विकसित करना ताकि पारिवारिक जीवन मे इसके महत्त्व का समझ सके और व्यक्ति अपने आय से ही पारिवारिक जीवन निर्वाह कर सके।

12. युवा एव प्रौढ़ो को सामाजिक कार्य भूमिका से अवगत करना ताकि वह अपना पारिवारिक जीवन सुखी बना सके।

पारिवारिक जीवन में शिक्षा का महत्त्व

वर्तमान समय विभिन्न आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विषमताओ के दौर से गुजर रहा है। सभवत. कही भी सफल पारिवारिक जीवन नही है। सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक विषमता, मूल्यवृद्धि, राजनैतिक भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, अपराधों में वृद्धि, असुरक्षा, वैचारिक अस्थिरता, मानसिक अस्वस्थता और पारिवारिक बिखराव से पता चलता है कि पारिवारिक जीवन निर्वाह के लिए विशेष शिक्षा तथा तैयारी की आवश्यकता है।

परिवर्तित संस्कृति परिवार को बहुत बड़ा बल प्रदान करती है। यह परिवार के स्थायित्त्व निर्माण एव बिखराव को भी जन्म देती है। परिवार के बिखराव के

लिए उत्तरदायी समाज की नकारात्मक शक्ति को सकारात्मक कार्यों की ओर मोड़ने की आवश्यकता है ताकि परिवार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में क्रियात्मक भूमिका अदा कर सके। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के गुणों का समुचित विकास करके इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है।

सफल परिवार जीवन की तकनीक एव दृष्टिकोण को अपने आप अर्जित नहीं किया जा सकता है, इसके लिए शिक्षा को साधन बनाना ही होगा। सकारात्मक पारिवारिक संबधों के सिद्धांत, कार्यो एवं पद्धति को शिक्षा के द्वारा विकसित करके सफल जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

पारिवारिक जीवन शिक्षा में माता-पिता की भूमिका

पारिवारिक जीवन शिक्षा औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों माध्यमो से दी जाती है। जहां बालक विद्यालय औपचारिक शिक्षा के माध्यम से ज्ञान सीखता है वहा विद्यालयी शिक्षा ही बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक नही हो सकती। विद्यालय मे विद्यार्थी केवल 5-6 घंटे रहता है शेष समय वह पारिवारिक तथा सामाजिक वातावरण में व्यतीत करता है। अत: परिवार मे रहकर अनौपचारिक माध्यम से वह बहुत सा ज्ञान अर्जित करता है। परिवार मे अवलोकन, अनुकरण, व्यवहार तथा वातावरण के माध्यम से वह शिक्षा ग्रहण करता है। अत: पारिवारिक जीवन शिक्षा मे माता-पिता की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि माता-पिता की भूमिका निम्न प्रकार से महत्त्वपूर्ण है—

1. बालक के व्यक्तित्त्व का पारिवारिक कार्य-प्रणाली के अतर्गत विकास करना।

2. माता-पिता विभिन्न वातावरण के माध्यम से बच्चे के अत:करण मे अनेक विचारों को समाहित करने का कार्य करते है, जो बालक अंजान मस्तिष्क के माध्यम से ज्ञान अर्जित करता है उसके अन्दर पारिवारिक वातावरण में प्रश्नो, वाद-विवाद, चर्चा, पठन-पाठन आदि के माध्यम से अनेक गुणों का विकास होता है।

3. भौतिक, शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक तथा आध्यात्मिक परिपक्वता का ज्ञान माता-पिता के मार्ग-दर्शन पर निर्भर करता है।

4. पारिवारिक जीवन शिक्षा के सबध में विद्यालय में क्या पढाया जा रहा है इसकी जानकारी बच्चे के आचरण से ग्रहण कर तत्संबंधी वातावरण बनाकर उसकी शिक्षा में सहयोगी बनना।

5. पारिवारिक जीवन स्तर एवं मूल्यो के उपयोग के माध्यम से जीवन निर्वाह को मार्गदर्शित करना। बच्चे के अपने विचार एवं भावना व्यक्त करने का अवसर देकर उसे सामाजिक क्रियाकलापो में सलग्न कर जीवन शिक्षा को प्रोत्साहित तथा विकसित करना जिससे उसका सफल पारिवारिक सुखी जीवन हो सके।

पारिवारिक जीवन शिक्षा में विद्यालय की भूमिका

नि:सदेह ही पारिवारिक जीवन शिक्षा से परिवार की प्राथमिक जिम्मेदारी का आभास होता है, किन्तु इस संबंध मे विद्यालयो की भूमिका अत्यत महत्वपूर्ण है। बच्चा अपना बेशकीमती समय विद्यालयी वातावरण में गुजारता है, जहा उसके परिवार के सस्कारों का आचरण परिलक्षित होता है। विद्यालय मे हर तबके के विभिन्न परिवार के बहुसस्कारी बच्चे एक छत के नीचे शिक्षा ग्रहण करते हैं, अपने विचार व्यक्त करते हैं और अपने व्यवहार से अन्य बच्चो को प्रभावित करते है। विद्यालय का बच्चे से नियमित तथा लगातार संबंध रहता है। विद्यालयी वातावरण का प्रभाव बच्चों के व्यवहार पर पड़ता है जिससे उनके क्रियाकलापों से न केवल पारिवारिक जीवन बल्कि आस-पडोस भी प्रभावित होता है।

विद्यालयी संस्कृति एवं वातावरण का निर्माण अध्यापकों की योग्यता, अनुभव और उनके आचरण पर निर्भर करता है। अध्यापक विद्यालयी संस्कृति के सम्बल

होते है, वे जितने लगनशील, निष्ठावान तथा अन्वेषी होंगे उतना ही बच्चो का विकास होगा। विद्यालयो मे बच्चो के विभिन्न आचरणो, आदतों और रहन-सहन का अध्ययन एवं अन्वेषण कर उनके व्यवहार को सुधारने एवं उनके व्यक्तित्व को संभालने का प्रयोग कर वाछित सफलता हासिल की जा सकती है। जाने माने समाज सेवियो, स्वय सेवी सस्थाओं, शिक्षा शास्त्रियो, मनोवैज्ञानिको के सहयोग से विभिन्न परिवार के बच्चों के व्यवहार रुचि आदि का सहयोग सर्वेक्षण कराकर एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। इस सर्वमान्य पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण अध्यापको को सुनियोजित ढग से देकर बच्चो को पारिवारिक जीवन शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

इस समय जब युवको में अनुशासनहीनता, आक्रोश, हिंसा और बाल अपराधो की प्रवृत्ति बढ रही है, यह आवश्यक समझा जा रहा है कि बच्चों की शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान या व्यवसायोन्मुख तक ही सीमित न रखी जाए बल्कि उन्हें नियोजित ढग से पारिवारिक जीवन के संबध में अनुभवजन्य शिक्षा देकर योग्य युवक एव जागरूक नागरिक बनाने के प्रयास किए जाने चाहिए ताकि भावी पीढी सुखमय पारिवारिक जीवन निर्वाह करते हुए राष्ट्र की प्रगति मे भी अपनी शक्ति लगा सके।

□□

मुझे आश्चर्य होता है जब लोग किसी देश का भविष्य जानने के लिये उस देश के गांवों और नगरो मे घूमते है। मुझे तो जब भारत का भविष्य जानने की इच्छा होती है तो बच्चो की आखों और उनके चेहरों को देखा करता हूं।

—पंडित जवाहर लाल नेहरू

अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम में शिक्षण विधाएँ

□ हरचरण लाल शर्मा

अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का वर्तमान समय मे एकमात्र सहारा माना जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए यथेष्ट विद्यालय उपलब्ध हो और उनमे शिक्षा पाने वाले बालक बालिकाए विद्यालयी शिक्षा पूरी करके ही विद्यालय छोडे तो शायद अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम की आवश्यकता ही न पड़े। परन्तु यह सर्वविदित है कि सरकार और समाज दोनो के भरसक प्रयासो के बावजूद, प्राइमरी स्तर तक की भी शिक्षा सबको सुलभ नही हो पाई तथा जो भी लक्ष्य प्राप्ति की तिथि तय की जाती है वह बढ़ती ही जाती है। अभी तो 1990 तक शिक्षा के सार्वजनीकरण लक्ष्य की प्राप्ति का संकल्प है। लक्ष्य प्राप्ति में विलम्ब के कारण एक ही नही अनेक है। अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम को सुचारू रूप से चलने पर एक तो शिक्षा के सार्वजनीकरण का ध्येय पूरा होगा ही और दूसरे कई प्रकार के कार्यक्रमो की जैसे प्रौढ शिक्षा के अतर्गत चलने वाले कुछ प्रोग्राम जनसख्या, स्वास्थ्य, कृषि आदि की जानकारी के प्रोग्राम सरलता और अच्छी तरह से चलेंगे और ऐसा विश्वास है कि प्रौढ शिक्षा के अतर्गत साक्षरता के लिए चलने वाले प्रोग्रामो की आवश्यकता ही न पडे। अनौपचारिक प्रोग्राम एक महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम है।

अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम के अंतर्गत शिक्षा के लिए 9-14 वय वर्ग के वे बाल बालिकाए आते हैं जो किन्ही कारणो से वांछित विद्यालयी शिक्षा नही पा सके। व्यवहार मे वैसे यह सीमा आगे पीछे भी हो जाती है। दो से ढाई वर्ष की अवधि में सुविधानुसार दो से ढाई घटे में पढाई लिखाई कराकर भाषा, गणित, विज्ञान तथा परिवेश की मूल बातो की जानकारी देना परिवेश को वैज्ञानिक ढंग से समझने की क्षमता पैदा करना, इच्छुक बालक बालिकाओ को विद्यालय परीक्षा पास कर सकने योग्य बनाना तथा उनके लिए सतत शिक्षा मार्ग को प्रशस्त करना आदि इस अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम के मुख्य उद्देश्य हैं।

अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम वैसे तो अपने देश के प्रत्येक प्रदेश मे चल रहे है परन्तु शैक्षिक रूप से पिछडे नौ राज्यो मे केन्द्र सरकार (शिक्षा मत्रालय) द्वारा घोषित एक प्रोग्राम अनौपचारिक शिक्षा, प्रयोगात्मक परियोजनाएं—9-14 वय वर्ग के निमित्त भी चल रहा है। इस प्रोग्राम के अतर्गत विविध प्रकार के करीकुलम पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम पठन-पाठन सामग्री आदि का निर्माण हुआ है। प्रदेशों की विभागीय रिपोर्टों के अनुसार आंध्र प्रदेश मे "स्पेशल करीकुलम", आसाम मे "सेपरेट करीकुलम", बिहार मे "कन्डेसड फकसनल करीकुलम", जम्मू कश्मीर मे "स्पेशल करीकुलम", मध्यप्रदेश मे "कन्डेसड एण्ड ग्रेडेड यूनिटस", उडीसा मे "स्पेशल करीकुलम", राजस्थान में 'स्पेशल करीकुलम", उत्तर प्रदेश मे "कडेसड कोर्सेज" तथा बगाल मे "स्पेशल करीकुलम" बनाया गया है। एन० सी० ई० आर० टी० ने भी आवश्यकता परक विशेष प्रकार से योजित करीकुलम (पाठ्यचर्या पाठ्यपुस्तकें तथा निर्देशन सामग्री आदि) का निर्माण किया है।

इन विविध प्रकार की पाठ्यचर्याओ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पाठ्यक्रम के निर्माण मे औपचारिक विद्यालयो मे पाठ्यक्रमो को ध्यान मे रखा गया है तथा एकीकृत (इटीग्रेटेड), कंडेंसड अथवा उद्देश्य आधारित किसी अन्य विधि द्वारा पाठ्यक्रम-पाठ्यपुस्तकें तथा अन्य निर्देशन सामग्री को उद्देश्यपरक बनाने का प्रयत्न किया

गया है। जब विशेष प्रकार से पाठ्यचर्या-पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकें तथा निर्देशन सामग्री आदि का निर्माण हुआ है तो शिक्षण विधाएं पढने पढ़ाने की विधियां भी कुछ विशेष प्रकार की होनी चाहिए। ऐसा लगता है अनौपचारिक केन्द्रो पर पढ़ने पढ़ाने की विधियों का रूप अभी निखरा नहीं है। केन्द्रों पर पढाई का कार्य जारी है। शिक्षकों की ट्रेनिंग भी चल रही है। अनुसधान तथा विकासात्मक कार्य भी चल रहे हैं। अत: इस प्रोग्राम मे प्रयुक्त शिक्षण विधाओ के रूपों मे निकट भविष्य मे निखरने की संभावनाएं अधिक हैं।

अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रो के सर्वेक्षण तथा अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम की विधाओ से सबंधित अनुसधान कार्यों से (जो इस लेख के लेखक ने किए है) ऐसा प्रतीत होता है कि पढने पढ़ाने की विधियो मे उन विधियों का बाहुल्य रहा है जिनका माध्यम मौखिक था। पठन पाठन की विधा तो कई हो सकती है। इन सब विधियो को मुख्य रूप से तीन वर्गों मे वर्गित किया जा सकता है। मौखिक (आरेल), लिखित (रिटिन), ग्राफिक (डायग्राम पिक्चर आदि)। शिक्षण विधाओ में इनमें से किसी एक माध्यम का भी उपयोग किया जा सकता है और दोनो अथवा तीनों का भी। शिक्षण कार्य में कोई भी माध्यम अपने आप मे पूरा नही होता वह एक दूसरे पर आधारित होता है और परस्पर पूरक होकर कार्य को प्रभावी बनाने में सहायक होता है।

मौखिक माध्यम से पठन पाठन तथा शिक्षण कार्य के लिए कई तरह की विधियों का सहारा लिया जा सकता है और शिक्षण को प्रभावी बनाया जा सकता है। मौखिक विधि में बातचीत, सहज रूप मे कक्षा में, भ्रमण व खेल कूद कराते समय, सामूहिक चर्चा, प्रश्नोत्तर प्रक्रम, कहानी, अनुभव, चुटकले, गीत लोकगीत, कविता, अभिनय, आदि का इस्तेमाल किया जा सकता है। शब्दों और वाक्यो का उच्चारण शिष्टाचार आदि का ध्यान रखते हुए शिक्षण उपयोगी साबित होता है। विविध विषय तथा उनके प्रकरणों को बताते हुए भाव भगिमा, उच्चारण शब्दों के अर्थ, भाव आदि बताकर शिक्षण को सरस बनाया जा सकता है। शिक्षण के लिए लिखित सामाग्री के महत्त्व को तो नकारा ही नही जा सकता। लिखित सामग्री तो स्वयं मे शिक्षक का कार्य करती है पर शर्त एक ही है कि उपयोगी व यथेष्ठ हो। पढने पर समझ मे आ जाए। ग्राफिक माध्यम भी तो सशक्त माध्यम है। कहते हैं कि जो बात मौखिक रूप से काफी समय मे तथा बहुत से लिखे शब्दो द्वारा भी अच्छी तरह से नही बताई जा सकती वह ग्राफिक माध्यम द्वारा सरलता मे और थोड़े समय में ही अच्छी तरह से समझाई जा सकती है। पोस्टर, चित्र, तसवीर, चार्ट, आदि दिखाकर उनके साथ लिखी सामग्री का वर्णन करके तथा मौखिक रूप से विस्तार करके किसी बात को अच्छी तरह से समझाया जा सकता है। शिक्षण को प्रभावी बनाने के लिए मौखिक, लिखित तथा ग्राफिक तीनो माध्यमों का इस्तेमाल करना चाहिए। संभव है परिस्थियो के कारण किसी एक माध्यम पर ज्यादा जोर देना पडे फिर भी आदर्श की ओर प्रयास होना चाहिए। जहा तक हो सके बालक बालिकाओं को शिक्षण प्रक्रम मे अधिकतम रूप से सहयोगी बनाने का प्रयास करना चाहिए। प्रेक्षण प्रक्रम (अवलोकन विधि) मे सभी ज्ञानेन्द्रियों के उपयोग से प्रेक्षण लेना, प्रेक्षणों को लिपिबद्ध करके विश्लेषण करके किसी नतीजे पर पहुंचने की कला बालक बालिकाओ को सिखानी चाहिए। देखो और बताओ, आओ करके सीखें, चर्चा करें, करो और सीखो आदि का अनुसरण करने से शिक्षक और विद्यार्थियों में परस्पर विचारो के आदान प्रदान के अनेक अवसर सहज उपस्थित हो जाते हैं। वैसे कोई भी विधि अपने आप मे पूरी नहीं होती वह प्रभावी शिक्षण के निमित्त किसी दूसरी विधि पर आधारित होती है और उनका पूरक होती है। मुख्य रूप से यह शिक्षक पर ही निर्भर करता है कि वह किस प्रकार किस कुशलता से किस किस माध्यम का शिक्षण विधा में प्रयोग करता है।

शिक्षक की योग्यता तथा ट्रेनिंग की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। निर्मित शिक्षण सामग्री को पढ़ाने के लिए यदि शिक्षक का प्रशिक्षण (ओरियन्टेशन) नही हुआ तो इस बात मे भी सचाई लगती है कि जैसे पढाने वाले ने पढ़ाया, वैसे ही वह अपने विद्यार्थियों को पढाता है। यदि उसकी ट्रेनिंग ओरियन्टेशन विशेष प्रकार का हुआ है तो बात दूसरी है। वैसे हर शिक्षक प्रभावी ढंग से पढाने का प्रयत्न करता है यह संभव है कि उसे कुछ विधियो का पता ही न हो तो वह

कैसे करेगा। विद्यार्थियों को समयित परिस्थितियों मे किस प्रकार बैठाना है, प्रदर्शन (डिमोंस्ट्रेशन) किस प्रकार प्रभावी हो सकता है, पढ़ाई गई बातों को और अच्छी तरह समझाने के लिए कितना कार्य और किस प्रकार बालक-बालिकाओं को देना है, यह शिक्षक पर ही निर्भर करता है। शिक्षक की भी अपनी सीमाए हैं। योग्यता तथा मानदेय भी शिक्षण विद्या को निर्धारित करते है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आठवी/दसवीं पास शिक्षक से कितनी उम्मीद की जा सकती है तथा लगभग सौ रुपये प्रतिमाह के मानदेय पर वह कितना समय दे सकता है।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि शिक्षण विधाए शिक्षक के ऊपर ही निर्भर नही करती अपितु कुछ अन्य कारको जैसे— पठन-पाठन सामग्री के निर्माण की विधाए, बालक-बालिकाओ की पृष्ठभूमि (जिसमें मा बाप की शिक्षा संस्कृति, शिक्षा के प्रति रुझान आदि), केन्द्र पर उपलब्ध सुविधाए (बिल्डिंग, स्थान, प्रकाश, परिवेश, वातावरण, लायब्रेरी, विज्ञान पढ़ाने के लिए आवश्यक छोटी मोटी वस्तुए, चार्ट, तसवीर आदि), पर्यवेक्षण-प्रक्रम, पर भी निर्भर करती हैं। अनौपचारिक केन्द्र पर शिक्षण विधाओं के निर्धारण में इन सब कारकों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा विधाएं अनौपचारिक केन्द्र के निमित्त बताई गई उस सामग्री पर भी निर्भर करती है जो केन्द्रो पर पढाई जाती है। पठन-पाठन सामग्री के निर्माण की विधाए शिक्षक को बताना आवश्यक है। निर्देशन सामग्री अध्यापक तक पहुचानी चाहिए। सामग्री और ट्रेनिंग द्वारा यदि शिक्षक को पठन-पाठन सामग्री के बनाने के तरीके-एकीकृत विधि केन्डेंस्ड विधि या जो भी विधि अपनाई गई हो, बताना आवश्यक है। शिक्षक का जानना ही जरूरी नहीं उसको अभ्यास कराना भी नितान्त आवश्यक है। ऐसा भी देखने को मिला है कि जो बात विषय विशेषज्ञ चाहते हैं अथवा सैद्धान्ति जगत में ठीक है वह व्यावहारिक जगत में उतर ही नही पाती। उदाहरण के लिए भाषा शिक्षण में यदि वाक्य पर पहले जोर देकर शब्द तथा अक्षर ज्ञान कराने की विधि पर पुस्तक निर्मित है, और पढाने के निर्देशन भी है। पद यथेष्ठ जानकारी के अभाव मे अक्षर ज्ञान कराने की संनातनी विधि काम में आती है क्योंकि प्राय: शिक्षक भी उसी विधि से पढा था। विज्ञान जैसे कार्यकलापात्मक विषय के लिए, जहां आओ करके सीखें, देखो और बताओ, आदि विधियो का इस्तेमाल प्रभावी ढग से करना होता है, वहा यह किताब मे पढ़कर, यही तक सीमित हो जाती है।

अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रो पर प्रयुक्त शिक्षण विधाएं अध्यापक और बालक बालिकाओं की सख्या के अनुपात पर तो निर्भर करती ही है, बालक-बालिकाओ की पृष्ठभूमि पर भी निर्भर करती है। 25-30-35 बालक बालिकाओं को, जिनकी सामाजिक आर्थिक तथा शैक्षिक पृष्ठभूमिया अलग-अलग हैं, एक अध्यापक एक साथ कैसे पढाये ? इन बालको बालिकाओं में कुछ कक्षा 1 के स्तर के, कुछ कक्षा 2 के स्तर के, कुछ कक्षा 1 तीन के स्तर और कुछ कक्षा 4, 5, के स्तर के होते है। समय भी 2-2 1/2 घटे का होता है और इसी अवधि में केन्द्र के अन्य कार्य, जैसे केन्द्र का खुलना, बन्द होना, सामग्री का लेना-देना, प्रार्थना, पढ़ाई लिखाई, खेल-कूद, समाजोपयोगी उत्पादन कार्य तथा मनोरजनार्थ कार्य, भी होते है। इन परिस्थितियों के शिक्षण विधाएं वही प्रयुक्त होने लगती है जिनमें प्रतिरोध कम उठाना पड़े।

अनौपचारिक केन्द्रों पर शिक्षण विधाओं का केन्द्र पर उपलब्ध सुविधाओ से भी सीधा संबंध प्रतीत होता है। यदि उपयुक्त स्थान नही है, यदि है तो पर्याप्त नही है फिर बालक बालिकाए कहां और कैसे बैठेगे। केन्द्रो के लिए कोई नियमित बिल्डिंग तो है नहीं, कही छप्पर है, पंचायत घर है, चबूतरा ही है, या किसी धार्मिक स्थल मे ही कहां कोई स्थान है। प्रकाश की कैसी व्यवस्था है। यदि केन्द्र शाम को अथवा रात को चलता है तो एक दो लालटेन या पैट्रोमैक्स के प्रकाश में क्या तो प्रयोग प्रदर्शन हो सकते हैं और किस-किस बालक-बालिकाओं के लिखित कार्य की जाच हो सकती है। केन्द्र पर होने वाले कार्यकलापों का सीधा सबंध प्रकाश की व्यवस्था से है। इसके अभाव में यदि शिक्षक प्रयोग दिखाना भी चाहता है तो परिस्थितियों-बश असहाय होता है। केन्द्र का परिवेश तथा वहा का वातावरण भी शिक्षण प्रक्रम मे यथानुसार सहायक होता है। कभी-कभी न चाहते हुए भी शिक्षण विधाएं परिस्थितियों के अनुसार ढल जाती है।

अनौपचारिक शिक्षा प्रोग्राम की शिक्षण विधाए केन्द्रो के सुपरवीजन (पर्यवेक्षण) प्रक्रम में भी प्रभावित हो जाती हैं। पर्यवेक्षक किस बात पर अधिक जोर देता है ? पर्यवेक्षण के समय सामान्य बातों की ओर ध्यान देता है वह शिक्षक के भिन्न, सहायक तथा मार्गदर्शक के रूप मे कार्य करता है। सामयिक पारिस्थियों में कौन कौन सी विधियां काम कर सकती है, और कैसे-कैसे, इसकी भी शिक्षक से परिचर्चा करता है अथवा नही, शिक्षक को जानकारी देनी जरूरी लगती है।

संक्षेप में, यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रो पर शिक्षण विधाए केन्द्र के नियत्रक कारकों पर निर्भर करती है। अध्यापक की योग्यता, उसकी ट्रेनिंग, समयावधि, बालक-बालिकाओ की पृष्ठभूमि, सुविधाएं तथा पर्यवेक्षण प्रक्रम आदि से यह प्रभावित होती हैं। परिस्थितियों के अनुसार मौखिक, लिखित और अन्य माध्यमो का इस्तेमाल करना चाहिए। मौखिक विधा ही सभावित है तो उसे ही अच्छी तरह से इस्तेमाल करना चाहिए तथा अन्य विधियों से विधा की कमियों को पूरा करना चाहिए। और इस प्रकार परिस्थितियों से जूझते हुए आदर्श की ओर अग्रसर होनी चाहिए।

□□

प्राथमिक विद्यालयों में निर्देशन कार्यक्रम

आमुख

□ डा० कुलदीप कुमार व अन्य

"शिक्षा" का जिक्र आते ही मन मे एक चौका देने वाला प्रश्न उभरता है। कौन-सी शिक्षा ? कैसी शिक्षा ? कहा की शिक्षा ? आज इस नाम ने विद्यार्थी, अध्यापक व अभिभावक सभी को उकता दिया है। जिसका हल निकाले नही निकल रहा है। लेकिन फिर भी सभी मजबूर होकर इस अर्थहीन शिक्षा के पुलंदे को सिर पर उठाए हुए हैं और इस स्थिति मे पहुंचने का दायित्व किसी और का नही, पड़ौसी देशों का नहीं, वह केवल हमारा है। क्योंकि जितनी तरक्की समाज मे भीड बढ़ाने से हुई है किसी अन्य क्षेत्र मे नही और नतीजा सामने है। लेकिन इस तरह से परेशानी जाहिर करने से ही कुछ नही बनता कुछ हल निकालना ही आवश्यक है और वह हल है शिक्षा ग्रहण करने व शिक्षा देने के तरीको मे मूलरूप से सुधार। यही कारण है कि विद्यालय मे निर्देशन कार्य के महत्व पर विभिन्न शिक्षा आयोगों ने समय-समय पर बल दिया है। सीमित वित्तीय साधनों एवं विद्यालयो की अत्यधिक संख्या के कारण कुछ राज्यों के कतिपय माध्यमिक विद्यालयो मे ही नियमित निर्देशन कार्यक्रम का प्रावधान किया जा सका है। विभिन्न शिक्षा आयोगों द्वारा इस बात का आग्रह किया गया है कि निर्देशन कार्यक्रम औपचारिक शिक्षा के आरंभ के साथ ही आरभ कर दिया जाना चाहिए, इस संबंध मे सामुदायिक साधनों का उपयोग करके माता-पिता/अभिभावको का सहयोग लिया जा सकता है। इसके उपरांत भी प्राथमिक विद्यालयो की इस संबंध में उपेक्षा की जाती रही है।

संचार तकनीकी के द्रुतगति से विस्तार के कारण, विशेषकर रेडियो और टेलीविजन ने हमारे देश मे एक नई संभावना को जन्म दिया है। शिक्षको को सेवारत प्रशिक्षण प्रदान करने की परम्परागत विधाओं के स्थान पर रेडियो एव टेलीविजन के उपयोग से यह सभव हो सका है कि दूरस्थ स्थान पर कार्यरत शिक्षकों को सुलभता से सेवारत प्रशिक्षण-विशेषकर निर्देशन कार्यक्रम के सदर्भ मे प्रदान किया जा सकता है। इसी आशय से दूरदर्शन पर प्रसारित करने हेतु राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद्-ढेर सी सामग्री उपलब्ध कराने मे सार्थक हुआ है।

प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों तथा अभिभावकों को जो बालकों की शैक्षिक प्रक्रिया से जुड़े है, निर्देशन कार्यक्रम का आधारभूत ज्ञान सचार माध्यमो से कराने के लिए परिषद् के शिक्षा मनोविज्ञान, परामर्श एवं निर्देशन विभाग ने एक प्रयोजना की शुरूआत की है जिसके अतर्गत प्राथमिक शिक्षको के लिए निर्देशन साहित्य का निर्माण किया जाना है। इस प्रायोजना के एक अंश के रूप मे छोटे बालको की आवश्यकताओ तथा शिक्षक और अभिभावक द्वारा इनकी पूर्ति कर उनके स्वस्थ, सुखद एव सतुलित विकास में योगदान के बारे मे मार्गदर्शन प्रदान करने हेतु कुछ लेख लिखे गए हैं। जिनमें यह चर्चा की गई है कि किस प्रकार बाल शिक्षक, शिक्षक-शिक्षक एव शिक्षा अभिभावक अंतर्सम्बन्धों को प्रभावी बनाकर तथा अनुकूल बनाकर बालक के व्यक्तित्व के समुचित विकास में योगदान दिया जा सके। इसी आशय से हम निम्नांकित शीर्षकों पर विचार करेंगे।

1. प्राथमिक विद्यालयों में निर्देशन कार्यक्रम की रूप-रेखा एक दृष्टिकोण व इसके आयोजन में प्रधानाध्यापक व अध्यापक की भूमिका।

2. बालकों का पारिवारिक परिवेश, शारीरिक व भावात्मक आवश्यकताएं एवं व्यवहार।

3. बालक के व्यक्तित्व के विकास में अभिभावक एवं शिक्षक की भूमिका व उनके व्यवहार का बालको पर प्रभाव।

4. उग्र व दब्बू स्वभाव के बालकों की उत्तरदायित्व-हीनता, अनुपस्थिति, देर से आने तथा भाग जाने जैसी समस्याएं।

5. बड़ो के प्रति सम्मान एवं आज्ञाकारिता की भावना तथा अध्ययन की प्रभावी आदतों का विकास।

6. शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन कार्यक्रमों का आयोजन।

□□

प्राथमिक विद्यालयों में निर्देशन कार्यक्रम की रूपरेखा, एक दृष्टिकोण व इसके आयोजन में प्रधानाध्यापक व अध्यापक की भूमिका

प्राथमिक विद्यालयो का मूल लक्ष्य है बालकों मे उन क्षमताओं का विकास करना जिनके द्वारा वे अपने सामाजिक पर्यावरण में अपने आपको समायोजित कर सके, अपने समाज में प्रयुक्त भाषा को समझ सके और उन वस्तुओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सके जो उनके उपयोग में आती हैं। और चूँकि वर्तमान मे चल रही "थ्री आर" (पढ़ना, लिखना, बोलना) की क्षमताएँ ही पर्याप्त नही है इसलिए प्राथमिक विद्यालयों मे निर्देशन कार्यक्रम का लागू होना अत्यत आवश्यक है जिससे बालक "थ्री आर" की सीमाओ से बाहर आकर निम्नांकित गुणों का विकास कर सके।

1. भविष्य मे रोजगार पा सकने के लिए आवश्यक तकनीकी क्षमताओं का विकास।
2. सुखद पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन यापन कर सकने की सूझ-बूझ।
3. विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच संघर्ष को टाल कर सौहार्द्ध का विकास करना।
4. दूसरों के साथ सहयोग एव सहभागित्व की भावना का विकास करना।
5. आत्मविश्लेषण एव स्वमूल्यांकन कर सकने की क्षमता का विकास करना।
6. अपने भावी जीवन के लिए अपनी क्षमताओ के अनुरूप यथार्थवादी लक्ष्य निर्धारित करना एव उनको प्राप्त करने की योग्यता का विकास करना।
7. अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओ एव इच्छा को सामाजिक ढाँचे एव सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने की आदत डालना।
8. समाज के नियमों एव परम्पराओ को स्वीकार करने और तदनुरूप अनुपालना करने की आदत डालना।

उपरोक्त क्षमताओं, व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों के विकास मे विद्यालय की महत्त्वपूर्ण भूमिका को एक लम्बे अरसे से अनुभव किया जाता रहा है लेकिन आज की परिस्थितिगो मे इनकी अपरिहार्यता और गम्भीरता अनुभव की जा रही है। इस दिशा मे आशातीत प्रगति न होने के कारण हैं जिनमें से एक कारण है कि द्रुत गति से होने वाले तकनीकी विकास ने मानव को स्वयं को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है।

दूसरी ओर प्राथमिक शिक्षा के जो लक्ष्य निर्धारित किए जाते है जिनके अनुसार "थ्री आर" की क्षमता के विकास एवं कतिपय सूचनाओं को प्रतिपादित करते समय 'आत्मानूभूति" एवं प्रभावी मानवीय सबंधों से संबधित लक्ष्यों का समावेश अत्यंत आवश्यक हो गया है। इसलिए निर्देशन कार्यक्रम को शिक्षण का एक अभिन्न अग बनाया गया। अब तक मोटे तौर पर पाठ्यक्रम मे उन सभी अनु-

भवों का निर्धारण किया जाता है जो विद्यालय में रहकर बालक को करने से होता है। पाठ्यक्रम का यह विस्तृत स्वरूप व्यवहार मे बहुत कम देखने को मिलता है तथा इसका सकुचित स्वरूप वह है जिनमे निम्न बातो का उल्लेख होता है—

कतिपय क्रियाओं का चयन,
तदनुसार विषयवस्तु का गठन,
विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण, विभिन्न विधाओं एवं उपागमो का उल्लेख,
छात्र क्रियाओ एव व्यावहारिक कार्यों का निर्धारण,
तथा मूल्याकन की विभिन्न विधाओं का प्रस्तुतीकरण।

सामान्यतया वर्तमान में निर्मित किए जाने वाले पाठ्यक्रमों जिसकी अत्यधिक आवश्यकता है, में इन सब बिंदुओ का उल्लेख न करके केवल विषयवस्तु के गठन को ही समाविष्ट किया जाता है। लेकिन इससे भी बालक को वह नही मिलता जिसकी आवश्यकता है।

अत: निर्देशन का सुनियोजित कार्यक्रम तैयार करते समय हमें निम्न कार्य करने होंगे—

मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तिगत समायोजन एव सामाजिक संबंधो के क्षेत्र में उन विशिष्ठ उद्देश्यो का निर्धारण करना जिनकी निर्देशन कार्यक्रम के माध्यम से पूर्ति करनी है।

उन बालकों को पहचानना जो समायोजन की समस्याओ को अनुभव कर रहे है और उनकी सहायता करना।

उन अनुभवों एवं क्रियाओं का क्रमिक प्रावधान इस प्रकार करने की योजना बनाना जिससे वाछित उद्देश्यो की पूर्ति की जा सके।

विद्यालय में उपलब्ध मानवीय संसाधनों का नियोजन एव उत्तरदायित्व का विभाजन करना।

प्राथमिक विद्यालयों के निर्देशन कार्यक्रम के स्वरूप एव विषयवस्तु का निर्धारण करने से पूर्व उसकी बहुत-सी महत्वपूर्ण अपेक्षाओं की ओर सजग रहना होगा जो 5-11 वर्ष की आयु वर्ग के बालको की शिक्षा लक्ष्यो एव उद्देश्यो के अनुरूप हों।

पिछले वक्तव्य के अनुसार निर्देशन कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक मे उन कौशलों का विकास किया जाये जो 5 से 11 आयु वर्ग के बालको की विकासात्मक प्रक्रिया तथा इस स्तर के लिए निर्धारित शिक्षा के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के अनुरूप हों। क्योकि माध्यमिक स्तर पर सचालित निर्देशन कार्यक्रम में शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन का जो स्वरूप है वह प्राथमिक विद्यालयो के स्तर के अनुरूप नही है। और चूंकि बालक इस अवधि में पारिवारिक परिवेश एवं विद्यालयी अनिवार्यताओं के बीच जो परिवर्तन अनुभव करता है और जो नई अपेक्षाए उससे की जाती है उसके कारण उसका व्यक्तित्व असतुलित हो जाता है। उसका कारण है उसकी ओर विद्यालय मे वैसा व्यक्तिगत ध्यान देने वाला कोई नही जैसा उसे घर पर मिलता है। दूसरी ओर सामाजिक अपेक्षाएँ बढ़ती ही चली जाती हैं जिनका वह घरेलू वातावरण मे अभ्यस्त नही होता है। अत: बिना सहयोग एव मार्गदर्शन के लिए इन सब अपेक्षाओं को समायोजित कर पाना कठिन है अतः यही कारण है कि प्राथमिक स्तर के बालकों को निर्देशन प्रदान करने में अध्यापक एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कि निर्देशन कार्यक्रम से सबधित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे सामने आते है जो अध्यापक से संबंधित है। वास्तव में अध्यापक ही इस कार्यक्रम की धुरी है। जैसे—

शिक्षक बालको को किस दृष्टि से देखता है ?

जो कुछ देखता है उससे वह क्या समझता है ?

जो कुछ देखता है उसके बारे में वह क्या कर सकता है ?

जो कुछ कर सकता है क्या वह कुछ करने के लिए तत्पर है ?

यदि शिक्षक कुछ करने को तत्पर है तो वह स्वयं ही बहुत कुछ कर सकता है परन्तु निर्देशन कार्यक्रम के कुछ ऐसे पहलू है जिनके बारे मे शिक्षक भले ही विशेषज्ञ न हो फिर भी उन पहलुओं के बारे मे सामान्य जानकारी आवश्यक है। उसे अपने बालकों को ठीक से समझने, उनकी आवश्यकताओं को पहचानने तथा पूर्ति करने व बालकों को अनुकूल शैक्षिक वातावरण प्रदान करने के लिए कतिपय क्षमताओं का विकास करना आवश्यक है जिसके लिए मानव व्यवहार को भली भांति समझना होगा। हालांकि उसे सिद्धहस्त मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणवादी बनने की आवश्यकता नही है। शिक्षक को प्राथमिक स्तर पर निर्देशन कार्यक्रम सचालित करने हेतु जितनी जानकारी की आवश्यकता है वह उसे उपलब्ध करानी ही होगी। यह जानकारी प्रदान करने का एक माध्यम संचार साधन भी हो सकता है जिसके द्वारा एक ही समय में लाखों लोगों को अपनी बात सुनाई व समझाई जा सकती है। रेडियो, दूरदर्शन के माध्यम से शिक्षको को निर्देशन कार्यक्रम के बारे मे जानकारी देने हेतु उपयुक्त विषयवस्तु का चयन कर सामग्री तैयार करना आवश्यक है। इस दिशा मे यह एक प्रायोगिक प्रयास है। सर्वप्रथम यह कार्यक्रम आरंभ करने का मूल ध्येय बालकों की शारीरिक, भावात्मक, संवेगात्मक, सामाजिक एव शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है जो दो ही स्थानों पर पूरी हो सकती हैं—घर पर या विद्यालय में। इसलिए प्राथमिक विद्यालयों मे निर्देशन कार्यक्रम आरभ करने के कुछ शैक्षिक एव मनोवैज्ञानिक तर्क हैं जिन पर हमे गभीरता से विचार करना होगा। अधिकांश बालको की मनोवैज्ञानिक समस्याओ का जन्म उनकी आरंभिक अवस्था मे ही होता है और जैसे-जैसे समय बीतता है वे अपना गभीर रूप धारण करने लगती है। एक समय ऐसा आता है जबकि उन समस्याओ का निराकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि निर्देशन कार्यक्रम को विद्यालयी पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग मानकर शिक्षक प्रशिक्षण में भी इसे उचित स्थान दिया जाए।

विद्यालय में निर्देशन कार्यक्रम को आरंभ करने एव उसको सफल बनाने मे सबसे महत्वपूर्ण भूमिका विद्यालय प्रधान की है। क्योंकि उसका स्वय का दर्शन, निष्ठा एवं उत्साह ही इस कार्यक्रम को प्रभावी बना सकता है। यदि वह शिक्षकों व अभिभावको एव जनसाधारण के साथ सौहार्दपूर्ण सबंध रखता है और अपने विद्यार्थियो के प्रति जागरूक है तथा उनकी समस्याओ व आवश्यकताओं को भली-भाति समझता है तो वह सफल हो सकता है। तथा निम्न प्रकार से महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है—

—अध्यापक-अभिभावक परिषद् की स्थापना करके इसको सशक्त नेतृत्व प्रदान करना।

—निर्देशन के क्षेत्र मे जानकारी प्रदान करने हेतु सेवारत प्रशिक्षणो के माध्यम से अध्यापको का व्यावसायिक उन्नयन करना।

—अध्यापकों को अभिभावको से संपर्क स्थापित करने हेतु पर्याप्त सुविधाएं एव प्रोत्साहन देना।

—अध्यापक द्वारा निर्देशन कार्यक्रम का नियोजन करने तथा क्रियान्वित मे मार्गदर्शन एव प्रोत्साहन देना।

—बालको की समस्याओं का निदान एवं उपचार हेतु वे प्रयास करना जो शिक्षक की सीमा में न होकर प्रधानाध्यापक के वश में हों।

—वार्षिक कार्यक्रम के नियोजन, दैनिक कार्यक्रम एव समय विभाग चक्र मे निर्देशन संबंधी कार्यक्रमो को यथोचित स्थान प्रदान करना।

यदि कोई प्राधानाध्यापक परम्परावादी, कठोर, नियमों से हटकर न चलने वाला हो तो यह निश्चित है कि वह निर्देशन कार्यक्रम मे सफल नही हो सकता। जबकि सौहार्दपूर्ण व्यवहार व अन्य खूबियो वाले प्राधानाध्यापक की सफलता निश्चित प्राय है। दूसरी ओर अध्यापक ही वह व्यक्ति है जो विद्यार्थी के गुण दोषों व उसकी कठिनाइयों को बारीकी से समझकर उनका इलाज कर सकता है और वह उन सब कार्यक्रमों मे सहयोग कर सकता है जिन्हें प्रधानाध्यापक द्वारा करने की सलाह दी गई है।

इस प्रकार की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने हेतु शिक्षक के लिए यह आवश्यक नही है कि इस कार्यक्रम का विशेषज्ञ ही हो अथवा प्रशिक्षण प्राप्त हो । ऐसी क्षमताए वे अध्ययन एव अभ्यास के अलावा प्रधानाध्यापक के मार्ग-दर्शन प्राप्त करके विकसित कर सकते है परन्तु सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक इस कार्य की महत्ता एव उपादेयता से स्वय आश्वस्त हो और अपने विद्यार्थियो के प्रति आत्मीयता हो, सहिष्णुता एवं निष्ठा हो । शेष कौशल, क्षमताए एव ज्ञान तो वह सहज ही प्राप्त कर निर्देशन कार्यक्रम को सफल बनाया जा सकता है।



बालकों का पारिवारिक परिवेश शारीरिक व भावात्मक आवश्यकताएं एवं व्यवहार

छः वर्ष की आयु को प्राप्त करने के पश्चात् बालक जब विद्यालय में प्रवेश लेता है तो उससे पूर्व ही उसका व्यवहार, रुचिया, अभिवृत्तिया एवं मनोवृत्तिया एक ढांचे मे ढल चुकी होती है। व्यवहार का वह स्वरूप जो उसने घर परिवार में रहकर विकसित किया वह उसे अपने साथ विद्यालय मे भी अपनाता है और कभी-कभी जीवन पर्यन्त भी चलता है। विद्यालय मे बालक द्वारा दर्शाए गए वांछित या समस्यात्मक व्यवहार की जड़ें बालक के पारिवारिक परिवेश में पाई जा सकती है।

बालक जिस प्रकार के संबंध अपने भाई बहनो, माता पिता एवं पारिवार के अन्य सदस्यों के साथ रखता है वैसे ही विद्यालय में वे अपने सहपाठियों एव शिक्षकों के साथ भी, क्योंकि पारिवारिक प्रभाव से वह बच नहीं सकता। जाहिर है कई बालकों का पारिवारिक जीवन संघर्षमयी होता है। परिवार में घटने वाली मामूली-सी लगने वाली छोटी-छोटी बातें और घटनाए भी आगे चलकर गम्भीर हो जाती है। अत: उस बालक की मानसिक स्थिति की कल्पना करिये ,जिसको विद्यालय के लिए रवाना होने से पूर्व ही उसकी माता द्वारा बुरी तरह प्रताडित किया गया हो। उस बालक के अनचाहे कदम विद्यालय की ओर घिसटते चले जाते हैं। वह दिवास्वप्न की मुद्रा में आगे बढ़ता रहता है। विद्यालय में प्रवेश करने और कक्षा में बैठ जाने के बाद भी वह अनजाने में कई त्रुटियां करता है, अपनी पाठ्यपुस्तक निकालना भूल जाता है। गृह कार्य की कापी अध्यापक जी को देने में झुककर जाता है, यदि शिक्षक उससे प्रश्न कर लेता है तो वह हड़बड़ा उठता है उस समय उसकी मुद्रा अन्य बालकों की नजर मे उपहासजनक हो जाती है और शिक्षक भी उसकी अध्ययन के प्रति अरुचि मानकर प्रताड़ित कर देता है। खेल के मैदान मे उसका चिंतनशील मस्तिष्क त्रुटिया करवाता है और अन्य बालक उसके भोंडे प्रदर्शन का उपहास करते है। नौबत यहा तक आ सकती है कि वह किसी सहपाठी से उलझ पड़े।

कई माता पिता अपने बालक-बालिकाओं को अनायास ही वे वाक्य कह देते हैं जो वे स्वय भी नही कहना चाहते है जैसे—

—अगर तुम मेरा कहना नहीं मानोगे तो मै घर छोड़ कर चला जाऊंगा।

—जब तुम इस तरह व्यवहार करते हो तो मुझे तुमसे घृणा होने लगती है।

—तुम ऐसा करोगे तो मै मर जाऊंगी, अपना सर फोड़ लूगी, आदि।

ऐसा उन्हें कदापि नही कहना चाहिए क्योंकि बालक के मस्तिष्क पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसे यह सत्य है कि बालक पर घर में घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव उसके विद्यालय में होने वाले व्यवहार पर पड़ता है उसी प्रकार शिक्षक को यह भी जानना चाहिए कि विद्यालय मे बालक के प्रति घटित अप्रिय घटना का प्रभाव उसके घर में किए जाने वाले व्यवहार पर भी पड़ता है। विद्यालय में प्रवेश लेने से पूर्व जो बालक आज्ञाकारी, शांत और भीरू स्वभाव का होता है वही बालक विद्यालय मे कुछ वर्ष रहने के पश्चात् घर में तोड़ फोड़ करने, ठोकरे लगाना, चिल्लाना, भूख न लगना, नीद में चौकना आदि की शिका-

यत करने लगता है।

फिलहाल हम अपनी चर्चा को इस विषय तक ही सीमित रखते है कि अध्यापक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बालको के पारिवारिक परिवेश को समझे क्योंकि उसकी यह जानकारी उसे बालक के प्रति अनुकूल व्यवहार करने, उसकी शैक्षिक प्रगति को बढावा देने एव उसके सपूर्ण व्यक्तित्व के विकास मे योदगान देने मे सहायक हो सकती है और वह एक सफल शिक्षक के रूप मे उभर कर आ सकता है। क्योंकि माता पिता अपने बालकों के साथ जो व्यवहार करते है उसके कई कारण हो सकते हैं जिनमे से एक तो यह है कि उनकी कुछ सवेगात्मक एवं भावात्मक समस्याए होती है। कई बार उनको स्वय सहानुभूति एव सहयोग की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। कई माता पिता अपने बालको के साथ वैसा ही व्यवहार करते है जैसा कि उनके साथ उनके माता-पिता ने किया था। उनके बचपन की अधूरी इच्छाओं की पीड़ा भी उनके व्यवहार मे झलकती है।

उपरोक्त विवरण से यह बात स्पष्ट है कि विद्यालय मे बालक के व्यवहार को समझने एवं समस्यात्मक बालकों का निदान करने हेतु अध्यापक को उसके विद्यार्थियो के प्रति पारिवारिक परिवेश को समझना आवश्यक है। इसके बारे में यहाँ कुछ सुझाव दिए जा रहे हैं—

1. जैसे और जितना भी संभव हो अध्यापक विद्यार्थी के परिवार से सम्पर्क करके समस्याओं का समाधान खोजें।

2. प्रवेश के समय सम्पर्क—जागरूप शिक्षक अपने बालकों के अभिभावको से सम्पर्क का एक तरीका यह निकाल सकते है कि जब अभिभावक अपने बालक को विद्यालय में प्रवेश एवं पजीकरण कराने हेतु लाते है तो उस समय उनसे बालक के बारे मे विस्तृत जानकारी प्राप्त कर लें तथा उन हालातों पर काबू पाने का प्रयास करे जो उस समय सामने आई थी।

3. अध्यापक अभिभावक सम्मेलन—इस प्रकार से आयोजित सम्मेलन भी बालको की समस्याएं सुलझाने में अधिक उपयोगी हो सकते है।

4. अभिभावक सहभागित्व—कई अभिभावक किसी कार्य में विशेष क्षमता रखते है। अध्यापक को चाहिए कि वह अभिभावकों को खास तौर से माताओं को विद्यालयी क्रियाकलापों यथा उत्सव की तैयारी, सांस्कृतिक कार्यक्रम, विद्यालय सज्जा, सफाई अभियान, मध्यान्ह, भोजन की व्यवस्था आदि मे सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करे। इन अवसरो पर अभिभावको से अनौपचारिक सम्पर्क करके बालकों की समस्याओ के बारे मे जानकारी एकत्रित करके उनको अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन दिया जा सकता है।

5. छात्र निर्देशन परिचर्चा—अध्यापक बालकों से प्रश्न करके उनको यह भी आभास करा सकता है कि उनके अभिभावक किस-किस प्रकार से उनको प्रेम, सुरक्षा एवं सहानुभूति प्रदान करते है। उनके जीवन की इस प्रकार की घटनाओं को याद दिला कर यह आभास कराया जा सकता है।

6. व्यक्तिगत निर्देशन—जिन बालकों की विशिष्ठ पारिवारिक समस्याएं हों उनके बारे मे सामूहिक रूप से चर्चा करना उपयुक्त नही होगा। ऐसे बालको के साथ अध्यापक को अलग से चर्चा करके उनके अभिभावको के बारे मे विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और बालक की बातों को ध्यानपूर्वक एव सहानुभूतिपूर्वक सुनना चाहिए। बालक को यह आभास दिलाना चाहिए कि अध्यापक उसकी समस्या के प्रति हृदय से जागरूक है और उसके निराकरण के प्रति उत्साहित है।

7. विद्यालय परिवार का विकल्प—कुछ बालक ऐसे हो सकते हैं जो विघटित परिवारो से आते हों जहां प्रतिदिन क्लेश रहता हो, जहां किसी माता अथवा पिता का देहांत हो गया हो, पिता दुर्व्यसनों का

शिकार हो, जहां बच्चो के जन्म देने की गति तीव्र हो, माता अक्सर बीमार रहती हो, कोई दुर्घटना घटित हो गई हो आदि। ऐसे परिवार के बालको को प्रेम सहानुभूति एवं सुरक्षा की विशेष आवश्यकता रहती है जो सब उन्हें अपने परिवार में नही मिल पाता है। चूंकि विद्यालय एवं अध्यापक परिवार का स्थान तो नहीं ले सकते मगर इस प्रकार के परिवार से आने वाले बालकों के प्रति जागरूक रह कर और प्रेम तथा सहानुभूति दर्शाकर उनको काफी संतोष प्रदान कर सकते है।

इसी प्रकार से अध्यापक अपने दैनिक कक्षा शिक्षण के दौरान यह अनुभव करते है कि कुछ बालक आलसी और उदासीन होते है और सुस्त होने के कारण अध्ययन मे रुचि नही लेते तथा उनके चेहरों पर शून्य भाव एव अरुचि झलकती है। उनके इन लक्षणो के परिणामस्वरूप वे बालक शैक्षिक उपलब्धियो मे पिछड़ जाते हैं। अतः अध्यापक को चाहिए कि वह बालकों की शारीरिक स्थिति की जानकारी करे।

क्योंकि बालकों में कई शारीरिक न्यूनताए हो सकती हैं जिनके कारण वे कक्षा मे वांछनीय व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं और इन न्यूनताओं को जाने बिना उनको दण्डित करना, प्रताड़ित करना अथवा उनकी उपेक्षा करना न केवल अव्यवहारिक है अपितु बालकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। बालकों को दोष देने के स्थान पर इन व्यवहारों के लिए उत्तरदायी कारणों तथा शारीरिक न्यूनताओं का पता लगाकर उनका उपचार करने पर बालकों के अवांछनीय व्यवहारो में परिवर्तन आ सकता है। बालक के सामान्य स्वास्थ्य मे सुधार करके उसकी शक्ति, प्रसन्नता, सर्वप्रथम तो शिक्षक को यह समझ लेना चाहिए कि बालक की शारीरिक न्यूनताएं जो उसकी सवेगात्मक, भावात्मक एव सामाजिक एव फलस्वरूप शैक्षिक स्थिति को प्रभावित कर सकती है वे दो प्रकार की हो सकती हैं और उनके लिए अलग-अलग उपचारात्मक उपाय करने की आवश्यकता है। शिक्षक को चाहिए कि वह जहा तक सभव हो बालको की शारीरिक स्थिति को ठीक से समझकर बालको व उनके माता पिता को ठीक से निदान कराने की सलाह ही न दे बल्कि सहयोग भी दें और इस प्रकार के बालकों के साथ सहानुभूतिपूर्वक बर्ताव करे। ऊंघना, सिर दर्द, दुबलापन, पीलापन, छीकना, खांसना, कान बहना, आंखों से पानी बहना, गले मे खराश, खुजली आदि ऐसे रोग हैं जो स्पष्ट दिखाई दे सकते हैं। ऐसी स्थिति मे बच्चे का विद्यालय जाना ही सभव नही है। जैसा हम ऊपर कह आए है शारीरिक दोषो से युक्त इन बालको को प्रसन्नचित्त रखने, उनकी अध्ययन क्षमताओं का समुचित विकास करने, सामान्य बालकों में उनका उचित समायोजन करने तथा उनके संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इस संबंध मे शिक्षक और क्या कर सकता है इस हेतु कुछ सुझाव यहा दिए जा रहे है—

1. हीन भावना से ग्रसित न होने दे।

2. सहपाठियों में समुचित स्थान प्रदान कराने में सहायता दें।

3. शारीरिक दोष को दूर करने या कम करने हेतु मार्गदर्शन दें।

4. उनकी क्षमता के अनुरूप कार्य करने का अवसर दें।

5 अपनी सहायता आप करने का अवसर दे।

इन सबके अतिरिक्त किसी भी एक व्यक्तित्व को विघटित न होने एव समस्यात्मक व्यक्ति में परिवर्तित होने से रोकना राष्ट्र की ही नहीं मानवता की सबसे बड़ी सेवा है जो शिक्षक कर सकता है।

□□

बालकों के व्यक्तित्व के विकास में अभिभावकों एवं शिक्षक की भूमिका व उनके व्यवहार का बालकों पर प्रभाव

यह विश्वविख्यात सत्य है कि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास मे अभिभावकों एव शिक्षकों की महत्त्व-पूर्ण भूमिका रहती है, क्योंकि व्यक्तित्व प्रधानत: पर्यावरण मे प्राप्त अनुभवों का परिणाम है। बालक के व्यक्तित्व के भौतिक स्वरूप को परिवर्तित करना माता पिता के वश में नही है फिर भी वे बालक का शारीरिक विकास करने मे सक्षम है। बालक को सतुलित एवं पौष्टिक आहार देकर, बीमारियों के प्रति सावधानी बरत कर उनकी दिनचर्या को नियमित बनाकर उसे खेल और आराम के पर्याप्त अवसर प्रदान करके तथा स्वस्थ आदतों का विकास करके माता पिता बालक के भौतिक स्वरूप को सही ढग से विकसित होने में सहायक हो सकते है। यहाँ पर भी पर्यावरण एवं अनुभव इस प्रकार अपनी भूमिका निभाते हैं कि बालक उन्हीं आचरणों एवं आदतो को अपनाता है जो वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों को व्यवहार में करते हुए देखता है न कि उन बातों को जिनका मात्र आदेश अथवा उपदेश दिया जाता है।

व्यक्ति के शारीरिक पक्ष के अतिरिक्त भावात्मक, मानसिक एव सामाजिकविकास के पहलुओं तथा मनोवृत्तियो, रुचियों एवं अभिरुचियों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे माता-पिता एवं पारिवारिक परिवेश का गहरा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि एक ही प्रकार के पारिवारिक परिवेश में रहते हुए भी बालकों के व्यक्तित्त्व का विकास अलग-अलग ढंग से होता है। एक से पर्यावरण मे पलने बढ़ने वाले बालको के व्यक्तित्त्व में जो अन्तर होता है वह इसलिए है कि प्रत्येक व्यक्ति समान पर्यावरण मे भी अपनी आतरिक भावनाओं एवं इच्छाओं के अनुरूप अलग-अलग तरह से प्रतिक्रिया करता है। वह उन्ही बातों को स्वीकार करता है जो उसकी आत्म संतुष्टि करती है अन्यथा नही। इसी कारण से एक ही परिवार मे पले हुए दो भाईयों के व्यवहार, आदतों एव मनोवृत्तियो में स्पष्ट अंतर देखा जा सकता है। यह सत्य है कि इतना होने पर भी माता-पिता और शिक्षक ही बालक के व्यक्तित्त्व के विकास की दिशा निर्धारित कर सकते है।

बालक के व्यक्तित्व के अन्य पक्षों के विकास पर भी माता-पिता का वही प्रभाव पडता है जैसा कि वे बालक के साथ व्यवहार करते है, परिणाम स्वरूप वह भी दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करने लगता है।

ऐसे कई उदाहरण हैं परन्तु यहा पर हम अपनी चर्चा को केवल उन तीन पहलुओं तक सीमित रखेंगे जिनका बालक के व्यक्तित्त्व के विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, वह है—

1. प्रेम एवं अनुरोग

2 अनुशासन

3. वालक से अपेक्षाएं

यदि बालक के परिवार जन इन बातों पर अधिक ध्यान दें तो वह कोई वजह नहीं है कि बालक को एक अच्छा व कर्मठ नागरिक न बनाया जा सके। इसी प्रकार से हम यहा बालकों पर अध्यापक के व्यवहार का क्या अतर होता है उसके संबंध में बात करेगे। चूंकि विद्यार्थी जीवन में बालक के दो ही स्थान होते हैं एक घर व दूसरा विद्यालय,

(ऊपर) चित्र 1—वयस्कों के साथ वातावरण समझते हुए
चित्र 2—खोज
चित्र 3—सृजनशील
(नीचे) चित्र 4—निपुणता का प्रदर्शन
चित्र 5—ऊंचाइयों की ओर
चित्र 6—आत्मनिर्भरता



चित्र स० 1

चित्र सं० 4









चित्र सं० 3

चित्र सं० 2

चित्र सं० 5

चित्र सं० 6





चित्र 7—दूसरों के साथ खेलते हुए
चित्र 8—प्रेम की देखरेख मे सुरक्षा का अनुभव
चित्र 9—कुछ बनने की चाह



चित्र सं० 7



चित्र सं० 8



चित्र सं० 9

और आज के युग मे शिक्षण का अर्थ बालको को सूचनाएँ प्रदान करना मात्र ही नही रह गया है। प्रभावी व सार्थक शिक्षण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक छात्र अध्यापक क्रियाओं का समुचित नियोजन करें, अधिगम सामग्री का गठन करे, रुचिपूर्ण एवं चुनौतीपूर्ण ढग से विषय वस्तु को प्रस्तुत करे, ऐसी शिक्षण विधाओं का उपयोग करें जो बालकों की रुचि, क्षमता एव योग्यता के अनुरूप हों। अधिकांश शिक्षक इन कौशलो मे दक्ष होते है क्योंकि वे समुचित प्रशिक्षण प्राप्त किए हुए होते हैं। कक्षा मे शिक्षण में उनको इस पहलू से कोई कठिनाई नही होती है। कक्षा शिक्षण में बालको को उत्प्रेरित करने, रुचि जाग्रत करने, छात्रों का विश्वास प्राप्त करने और व्यक्तिगत विभिन्न-ताओं को ध्यान में रखने सबधी समस्याए शिक्षक के समक्ष अवश्यक रूप से आती है।

इन समस्याओ का सबंध विषयवस्तु एवं शिक्षण विधाओं के ज्ञान से न होकर शिक्षक के अपने व्यक्तित्व एवं व्यवहार से है अत: हम यह कह सकते है कि शिक्षक निम्नाकित धाराओ पर चलकर भी अपने आपको सफल शिक्षक बना सकता है—

1. शिक्षकों का समायोजित व्यक्तित्व,
2. बालकों के प्रति स्वीकारात्मक एवं आदर सूचक मनोवृत्ति,
3. बालको की रुचि के अनुकूल शिक्षण कार्य का नियोजन,
4. अनुशासन के प्रति समुचित दृष्टिकोण,
5. बालकों की आवश्यकताओं एव समस्याओं के प्रति सजगता।

□□

उग्र व दब्बू स्वभाव के बालकों की उत्तरदायित्वहीनता-देर से आने तथा भाग जाने जैसी समस्याएं

लगभग सभी बालक अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य न होने पर उग्र स्वभाव का प्रदर्शन करते हैं। कुछ बालक अपने विद्रोह को अन्दर ही अन्दर दबा देते हैं और प्रत्यक्षतः ऐसा कोई व्यवहार नही करते जिसका प्रभाव दूसरो पर पड़े। कुछ बालक अपने इस अंतर्द्वन्द्व और विद्रोह को खुले रूप मे व्यक्त कर देते है तथा दूसरो की भावनाओं को ठेस पहुचा देते हैं। ऐसे बालकों की ओर अभिभावक एव शिक्षक का ध्यान सहज ही चला जाता है। उग्र स्वभाव के बालको के व्यवहार को अवाछनीय एवं असमाजिक मानकर तत्काल प्रतिक्रिया की जाती है तथा उपचार के सही गलत तरीके अपनाए जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बालको द्वारा प्रदर्शित इन व्यवहारो को मात्र लक्षण मान कर वास्तविक कारणों की खोज की जाए तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से सही उपचार किया जाए क्योकि उग्र स्वभाव भी कई प्रकार का होता है अत: उसे ठीक से समझकर ही कोई कदम उठाया जाये। बच्चे उग्रता निम्न प्रकार से दर्शाते है—

1 क्रोधावेश प्रदर्शन;

2. तोड़फोड करना;

3. धमकाना, धौस जमाना;

4. झगड़ालूपन आदि।

मनुष्य कोई काम किसी न किसी कारण से ही करता है चाहे वह अच्छा हो या बुरा। इसी प्रकार बालक मे उग्रता होने के भी कारण होगे जिसमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1 बालक के व्यक्तिगत कारण;

2. पारिवारिक परिवेश,

3. विद्यालयी परिवेश;

4. स्वास्थ्य का ठीक न होना आदि।

समस्या का निराकरण—कुछ शिक्षकों को उग्रस्वभाव के बालकों के साथ कठोरता के साथ व्यवहार करने के अतिरिक्त कोई उपाय नजर नहीं आता। इधर बालक ने उग्र स्वभाववश कोई अनुचित व्यवहार किया और उधर शिक्षक ने उसे दडित किया। शिक्षक इतनी तीव्र प्रतिक्रिया इसलिए करते है कि वे उन व्यवहारो को अपने स्वय के प्रभुत्व को चुनौती मान लेते हैं जबकि कई मामलों में ऐसा नही होता है। शिक्षक को यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि मात्र कठोरता और दण्ड की नीति अपनाने से उग्र बालको की समस्या से नहीं निपटा जा सकता। प्रताड़ना, आलोचना, प्रतिबंध, कटाक्ष आदि करना, कक्षा के समक्ष लज्जित करना, क्षमा याचना के लिए बाध्य करना आदि ऐसे व्यवहार हैं जिससे शिक्षक को अपना तनाव एवं कुण्ठा भले ही कम होती हो बालक मे तो घृणा और उग्रता को बढ़ावा ही मिलता है। हो सकता है कि शिक्षक की इन प्रतिक्रियाओ से तात्कालिक एवं अस्थाई सुधार दिखाई दें परन्तु वास्तव मे शिक्षक और बालक के बीच आक्रमण, प्रत्याक्रमण का एक दुष्चक्र चल जाता है।

शिक्षक को एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए

कि उग्र बालको की समस्या से निपटने के लिए वह जो प्रतिक्रिया करता है वह उसके स्वय के व्यक्तित्व एव भावात्मक परिस्थितियो का परिचायक होती है। यदि शिक्षक मे स्वयं ही सफलता, मान्यता, सम्मान, आदि पारिवारिक जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण न होने के कारण कुठा एवं विद्रोह की भावनाएँ पनप रही हो तो वह अपने उग्र बालको के साथ अत्यधिक उग्रता से पेश आएगे। कई शिक्षक अपने शाला प्रधान की प्रताड़ना, उपेक्षा अथवा निरादर से पीड़ित होकर उसका प्रदर्शन अपनी कक्षा में बालकों पर करते है। यह तो मानना ही होगा कि शिक्षक द्वारा ऐसा किया जाना न्यायोचित नही है जबकि उसे करना चाहिए—

1. समस्या के मूल का पता लगावे।

2. उग्रता को प्रदर्शित करने दे।

3. बालक को सुने।

4. बालक को आत्म विश्लेषण करने दें।

5. रचनात्मक कार्यों की ओर बढावा दे।

6. प्रशसा एव प्रोत्साहन दें।

इसके अलावा शर्मीले एव दब्बू स्वभाव के बालक के इस स्वभाव का पता लगाने के पश्चात् शिक्षक को उस बालक को अपने काल्पनिक ससार से बाहर निकाल कर एक सुखद जीवन जीने मे सहायता करने के लिए निम्न प्रयास करने चाहिए—

1. बालक मे विशेष रुचि दर्शाना।

2. क्षमता के अनुसार अकेले व स्वतंत्र कार्य करने का अवसर देना।

3. सामाजिक प्रवृत्तियों मे सम्मिलित होने का अवसर देना।

4. अभिभावको से परामर्श करना आदि पर ध्यान देने से भी समस्या पर काबू पाने में सफलता मिल सकती है।

इसके अलावा बालकों की उत्तरदायित्वहीनता, अनुपस्थिति, देर से आने तथा भाग जाने जैसी समस्याओं का निवारण भी ऊपर बताई गई युक्तियो के द्वारा ही सभव है।

□□

बड़ों के प्रति सम्मान एवं आज्ञाकारिता की भावना तथा अध्ययन की प्रभावी आदतों का विकास

जिन बातो को हम पहले कह आए हैं उन्ही की श्रृंखला में बालक के व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया मे ऐसी कई परिस्थितियां आती हैं जिनमे बड़ों के प्रति आदर एव आज्ञाकारिता के गुण के विकास की संभावनाएं होती हैं जिन पर ध्यान देना नितांत आवश्यक है। प्रकृति, समाज, अन्य व्यक्ति अथवा स्वय के द्वारा नियत्रण से इन गुणो का विकास किया जा सकता है। किसी भी उत्तरदायित्व को ढंग से निभाने की क्षमता आयु और समय के साथ बढ़ती है। उदाहरण के तौर पर किसी पुस्तक को समुचित ढग से पकड़ने की क्षमता के विकास क्रम में सर्वप्रथम बालक बड़ों द्वारा भौतिक सहायता की अपेक्षा करता है उसके पश्चात् वह मौखिक निर्देशों की अनुपालना करके ही समुचित व्यवहार कर लेता है और बाद में बालक मात्र अभिभावक की उपस्थिति की अनुपस्थिति मे भी समुचित व्यवहार करने मे सक्षम हो जाता है यही प्रक्रिया लगभग प्रत्येक व्यवहार के विकास मे अपनाई जाती है। इसी तरह आत्मानुशासन बडों के प्रति आदर एव आज्ञाकारिता के गुण क्रमिक रूप से विकसित होते है। इन गुणो के विकास के लिए कठोर अनुशासन की कोई आवश्यकता नही है।

बालकों में इस भावना को जाग्रत करने के लिए यहा कुछ सुझाव दिए जा रहे हैं जो अनुशासन, आदर एवं आज्ञाकारिता के गुणों का क्रमिक विकास करने मे सहायक सिद्ध हो सकते हैं—

1. बालक को भी भली भाति समझ कर यह जान ले कि वह क्या कर सकता है और क्या नही।

2, बच्चे को यह सीखने मे सहायता करें कि उसे क्या करना चाहिए न कि यह कि उसे क्या नही करना चाहिए।

3. बालक को जो भी काम सौंपा जाए उसके प्रति उदार रहे तनावग्रस्त न रहे, कार्य की प्रक्रिया पर चर्चा करके तर्क वितर्क करे और आवश्यकता होने पर कार्य के स्वरूप पर पुन: विचार करे।

4. बालक के प्रति भी उतनी ही आदर की भावना प्रदर्शित की जाए जैसी कि बड़ों के प्रति रखी जाती है।

5 कार्य को गभीरता से लेकर रुचिकर बनाया जाए उसे मात्र मनोरजन न बनने दिया जाए।

6. बालकों द्वारा उचित अनुचित व्यवहार किए जाने पर भी उनको प्रशसा अथवा दण्ड देने के बजाय घटनाक्रम को तार्किक ढंग से समझने का प्रयास करे।

7. बालक द्वारा किए जा रहे कार्य की समुचित प्रशसा करे।

8. बालकों को रचनात्मक कार्य में लगाया जाए और उसकी समुचित योजना तैयार की जाए।

9. बालकों के साथ व्यवहार करते समय उनके प्रति और अपने आप के प्रति निष्पक्षता एवं ईमानदारी से काम लें।

बड़ो के प्रति सम्मान एव आज्ञाकारिता के गुण का विकास पारिवारिक परिवेश से आरभ होता है। माता-पिता एव बड़ो तथा बालकों के बीच व्यवहार का जो स्वरूप होता है वह इन गुणों के विकास में सहायक अथवा बाधक हो सकता है। माता-पिता एव बालको के बीच व्यवहार के स्वरूप को निम्नलिखित श्रेणियो मे रखा जा सकता है।

अनुज्ञात्मक एव कठोर अनुशासन—इस प्रकार के व्यवहार मे अभिभावक एक ओर बालक की बाल स्वभाव-गत प्रवृत्तियो को स्वीकार कर लेते है और किसी प्रकार का दबाव नही डालते तो दूसरी ओर बालक से परिपक्व व्यवहार की अपेक्षा करते है और नियमो का कठोरता से पालन करवाते है।

आक्रामक एवं दण्डात्मक अनुशासन—व्यवहार के इस स्वरूप में अभिभावक बालक के प्रति काफी उग्र होते हैं और अनुचित व्यवहार करने पर दण्डित करते है। ऐसे अभिभावक अपने बालको पर दूसरे बालको के प्रति आक्रमक व्यवहार की उपेक्षा कर देते है परतु स्वय उनके प्रति दर्शाए गए उग्र व्यवहार को सहन नही कर पाते है और बालक को दण्डित करते हैं।

प्रजातांत्रिक एव निरकुश अनुशासन—इस प्रकार के व्यवहार के स्वरूप मे एक ओर अभिभावक बालको के समक्ष अपने हर व्यवहार का औचित्य प्रस्तुत करते हैं, कार्य की महत्ता एवं उपयोग को समझते है बालकों के विचार एव तर्क सुन कर तदनुसार कार्य के स्वरूप मे परिवर्तन करते हैं, स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्रदान करते है और उनके कार्य की प्रशसा करते हैं। यह प्रजातांत्रिक व्यवहार का स्वरूप है। दूसरी ओर अभिभावक बालको से अत्यधिक अपेक्षाए करते है, उनके कार्य की प्रशसा करते हैं। यह भी प्रजातान्त्रिक व्यवहार का स्वरूप है। दूसरी ओर अभिभावक बालकों से अत्यधिक अपेक्षाए करते है, उनके कार्य का लक्ष्य स्वय निर्धारित करते हैं और उसको पूरा करने का आग्रह करते है। बालक को अपने विचार एव सुझाव देने की स्वतंत्रता नहीं देते हैं तथा भय और कठोरता का वातावरण बनाए रखते हैं। यह निरंकुश अनुशासन कहा जाता है।

मोटे तौर पर बालक के प्रति बड़ों का व्यवहार उसकी मूलभूत आवश्यकताओं एवं क्षमताओ के अनुरूप होना चाहिए। साथ ही आगे विकसित होने, परिपक्व होने तथा विचलित न होने देने का दायित्व शिक्षक पर है और वही बहुत हद तक बालको में बड़ों के प्रति आदर एवं आज्ञाकारिता के गुण का विकास निम्नाकित का सहारा लेकर कर सकते है—

1. बालको को निर्देश देने से पूर्व उनका ध्यान क्रोध रहित अपनी ओर आकर्षित करें।

2. निर्देश देने में ऐसी भाषा काम में लाए जो बालक आसानी से समझ सके।

3. निर्देश धीरे-धीरे दे और बीच-बीच मे आश्वस्त हों कि बालक आपके निर्देशो को ठीक से समझ गए है।

4. एक साथ कई सुझाव या निर्देश न दे।

5. निर्देशो की पालना के बारे के निरंतरता बनाए रखे और इनमे बार-बार परिवर्तन न करे।

6. केवल वही कार्य करने के निर्देश देवे जो आप महत्त्वपूर्ण समझते है और उनसे करवाना ही चाहते हैं। केवल व्यस्त रखने या दण्ड देने की खातिर कार्य न थोपे।

7. स्वयं आश्वस्त हों कि आपकी अपेक्षाए उचित एवं निष्पक्ष हैं। एक बार अपेक्षाएं निर्धारित करने के बाद यह देखें कि वे अवश्य ही पूरी की जाती हैं।

8. बालक के किसी दुर्व्यवहार को अपने लाभ के लिए स्वीकार न कर लें और न ही आज्ञाकारिता के पालन के लिए दण्ड अथवा लालच दें।

9. आज्ञाकारिता के व्यवहार को संतोषप्रद एवं सफलता की अनुभूति प्रदान करने वाला बनाए।

10. बालक यदि किसी कार्य के वैकल्पिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए परिवर्तन की प्रार्थना करता है तो ध्यान दे परन्तु जहां आप अपने निर्देशों की अनुपालना अक्षरश: करवाना चाहते हैं तो उसके लिए स्पष्ट निर्देश दें।

बडों के प्रति सम्मान एव आज्ञाकारिता के गुणो के विकास हेतु अभिभावक एव शिक्षको को धैर्यपूर्वक सतत प्रयास करते रहना चाहिए। अब हम प्रभावी अध्ययन के विकास की चर्चा करेंगे।

अक्सर बालकों को इस बात के लिए तो बाध्य किया जाता है कि वे घर पर अध्ययन करें परंतु प्रभावी अध्ययन की विधाओं का ज्ञान नही दिया जाता है। इसके अभाव मे अधिकतर बालक घर पर अध्ययन नही कर पाते है। परिणामस्वरूप वे अपनी शैक्षिक उपलब्धियो में पिछड जाते है। पिछड़ेपन का चक्र चलता ही रहता है और बालको मे अध्ययन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है जिससे हीन भावना का विकास होता है और विद्यालय के प्रति अरुचि जाग्रत होती जाती है तथा अत मे भग्नाशा के कारण वे विद्यालय त्याग देते हैं।

अध्ययन की प्रभावी आदत मूलत: तीन क्षमताओं पर निर्भर करती है—

1. एकाग्रचित्त होने की क्षमता
2. पठन कौशल
3. स्मरण क्षमता

इनके अलावा भी अध्ययन की आदत के विकास हेतु कई आदर्श परिस्थितियां एवं विधाओं का उल्लेख किया जा सकता है परन्तु ये आदर्श परिस्थितिया सामान्यतया उपलब्ध नहीं हो सकती है, और वैसे इनके अभाव मे भी प्रभावी अध्ययन की आदत का विकास संभव है। यहा कुछ सुझाव दिए जा रहे है जिनका उपयोग करके अध्ययन की आदत का समुचित ढग से विकास किया जा सकता है—

1 अध्ययन हेतु उपयुक्त स्थान का चयन
2. मानसिक तैयारी करना
3 अध्ययन का समय विभाग चक्र बनाना
4. कार्य की सूची तैयार करना
5. अध्ययन आरंभ करना
6 अध्ययन कौशल का उपयोग

—सम्पूर्ण पाठ की रूपरेखा, मुख्य बिंदु आदि को एक बार सरसरी निगाह से देख ले।

—पाठ के अत में दिए गए प्रश्नों को ध्यानपूर्वक पढ लें यदि प्रश्न बहुत बडे हो तो उनको छोटे-छोटे प्रश्नो मे बाट कर एक कागज पर लिख ले।

—एक बार पूरे पाठ को आरभ से लेकर अंत तक पढ़ लें।

—दूसरी बार एक-एक अनुच्छेद और एक-एक प्रश्न से सबधित सामग्री को ध्यानपूर्वक पढ़े।

—अनुच्छेद मे दी गई सामग्री के महत्त्वपूर्ण बिंदुओं को कागज पर लिख लें।

—अनुच्छेद से सबधित बिंदुओं को लिखने के पश्चात उनको कागज से ढक कर स्मरण शक्ति के आधार पर सभी बिंदुओ का प्रत्यास्मरण करें। ऐसा करने में यदि कुछ बिंदु छूट गए हो तो पुन: पढ़ कर छूटे हुए बिंदुओ को स्मरण कर ले।

—पाठ की समाप्ति पर अंत में दिए गए प्रश्नों के उत्तर लिखें।

7. अध्ययन की समाप्ति पर प्रत्यास्मरण

अध्ययन की आदतो के समुचित विकास के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है और इनके विकास से बालक अपने भावी जीवन में एक सफल व्यक्ति बन सकता है।

□□

शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन कार्यक्रमों का आयोजन

प्राथमिक शिक्षको का यह दायित्व है कि वे अपने छात्रो को अध्ययन के नियोजन के लिए प्रोत्साहित करें। प्राथमिक विद्यालयो के अध्ययनरत बालको को अपने भावी जीवन के लक्ष्य को निर्धारित कर उसके लिए योजना तैयार कर लेनी चाहिए, कई बालक क्षमता रखते हुए भी उच्चशिक्षा में प्रवेश मात्र इसलिए नही ले पाते है कि उनको यथासमय इस हेतु उत्प्रेरित नही किया जाता है। इन बालकों के जीवन का कोई उद्देश्य ही नही होता है। यदि कोई बालक उच्च शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता रखता है तो उसे इसका निर्णय प्राथमिक स्तर पर ही ले लेना चाहिए और इस कार्य मे शिक्षक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। शिक्षक को चाहिए कि वे इस प्रकार के बालको से बातचीत करके उसकी क्षमताओं का आभास कराएं और उन्हे उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु प्रेरित करें। शिक्षक को ऐसे बालकों के माता-पिताओं से सम्पर्क स्थापित कर उन्हे भी उनके बालक की प्रतिभा का आभास कराते हुए उसके भावी जीवन के लक्ष्य का निर्धारण करने मे सहयोग देने का आग्रह करना चाहिए। उत्प्रेरणा देने का यह काम एक ही बार या एक ही दिन मे समाप्त नहीं हो जाएगा बल्कि बालक एवं अभिभावक को निरंतर इस लक्ष्य का स्मरण कराते रहना होगा।

कुछ लोग यह मत रखते हैं कि प्राथमिक स्तर पर व्यावसायिक निर्देशन की बात करना समीचीन नही है परन्तु वास्तव में बात यह है कि इस स्तर पर शिक्षक को व्यावहारिक एवं रुचिकर बनाने के दृष्टिकोण से अपनाई गई विधाओं से बालक को अपने भावी जीवन का व्यवसाय चुनने में और लक्ष्य निर्धारित करने मे बड़ी सहायता मिलती है।

सामाजिक अध्ययन के अंतर्गत विभिन्न व्यवसायों की कक्षा में चर्चा करने के बजाय बालको को विभिन्न व्यवसायो में लगे लोगो से साक्षात्कार कराने, उनके कार्य स्थानो का अवलोकन का अवसर देने, व्यवसायो के बारे में पूर्ण जानकारी देने तथा उन व्यावसायो के राष्ट्रीय एव सामाजिक महत्त्व को समझने का नियोजन करना चाहिए।

भ्रमण, साक्षात्कार एव सर्वेक्षण का कार्य स्थानीय परिवेश मे उपलब्ध व्यवसायो से आरभ किया जा सकता है और फिर डाकघर, अस्पताल, बैंक, रेलवे स्टेशन, कल कारखानो, सरकारी कार्यालयों आदि का अवलोकन करने के अवसर दिए जा सकते है।

इन स्थानों का भ्रमण करते समय शिक्षक को चाहिए कि वह अपने बालकों के व्यवहार का ध्यानपूर्वक अवलोकन करे और यह देखे कि कौन बालक किस व्यवसाय के प्रति अपनी रुचि अथवा अरुचि दर्शाता है।

फील्ड वर्क के बाद विद्यालय में बालकों को कुछ ऐसे एसाइन्मेंट (कार्य) दिए जा सकते है जो उनके किसी व्यवसाय विशेष के प्रति झुकाव को प्रदर्शित कर सकते है। शिक्षक अपने विद्यालय मे निम्न क्रियाओं का आयोजन कर सकता है—

1. कक्षा मे प्रत्येक बालक को उसके पिता के व्यवसाय के बारे मे जानकारी देने को कहा जाए। बालक यह बताए कि उसके पिता को यह व्यवसाय कैसे मिला, उन्होंने किस प्रकार की शिक्षा एव किस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किया, वे क्या-क्या काम करते हैं। इस व्यवसाय के बारे में उनके क्या सुखद अनुभव है।

2. फील्ड वर्क के पश्चात् बालकों से सभी व्यवसायो की सूची तैयार करने को कहा जा सकता है। उसी सूची में उनकी रुचि अथवा अरुचि के अनुसार उनको प्राथमिकता, प्रतिष्ठा एवं महत्त्व की दृष्टि से व्यवसायों के नाम लिखने को कहा जा सकता है। उन व्यवसायो के प्रति रुचि एवं अरुचि के कारण लिखने को कहा जा सकता है।

3. प्रत्येक व्यवसाय के सम्बद्ध वस्तुओ, क्रियाओ, पारिभाषिक शब्दो की इन्वेंटरी तैयार करने को कहा जा सकता है। बालक उस व्यवसाय की सूचि विस्तृत रूप से तैयार करेगा जिसमे उसकी रुचि है।

4. फील्ड वर्क के पश्चात् बालको को विभिन्न व्यवसायो, से सम्बद्ध व्यक्तियो वस्तुओ, स्थलो आदि के रेखाचित्र बनाने को कहा जा सकता है।

5. सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अवसर बालको को विभिन्न व्यवसायों के "रोलप्ले" एकाभिनय करने को प्रोत्साहन करना चाहिए।

6. प्रत्येक बालक को अपनी रुचि के व्यवसाय के बारे में लेख लिखने को कहा जा सकता है जिसमे उस व्यवसाय से सबंधित क्रियाओ, काम के घण्टे, व्यवसाय के लिए आवश्यक शिक्षा एव प्रशिक्षण कार्य की परिस्थितिया, कार्य के गुण एवं दोष आदि का विवरण हो।

7. प्रत्येक बालक को अलग-अलग व्यवसायों के सबद्ध चित्रों का सग्रह करके एलबम तैयार करने तथा उनसे सबंधित वस्तुओं का सग्रह करने के लिए प्रोत्हाहित किया जा सकता है।

8 बड़ी कक्षाओ के बालको को "मेरा जीवन" विषय पर लेख लिखने को कहा जाए जिसमे वह अपनी रुचियो, अभिरुचियो, पारिवारिक जीवन, सामाजिक आर्थिक स्थिति, विद्यालयोत्तर क्रियाओ, विद्यालय के प्रति उसके अनुभव, उसके अभिभावक एव स्वय उसकी आकाक्षाओ का विस्तृत विवरण हो।

बालको द्वारा सम्पादित उक्त कार्यों का गहन अध्ययन शिक्षक को उनके बारे मे अत्यत महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान कर सकता है जिसके आधार पर वह यह पता लगा सकता है कि किस बालक का ज्ञान किस व्यवसाय के प्रति है। कई बालक व्यवसायों के प्रति दिवा-स्वप्नो और मधुर कल्पनाओ मे खो सकते है। कुछ बालको के मन मे व्यवसाय विशेष के प्रति अनावश्यक घृणा, अथवा वितृष्णा जागृत हो सकती है, कुछ बालक अपनी क्षमताओं एव परिस्थितियो के विपरीत लक्ष्यो का निर्धारण कर सकते हैं। कुछ बालको का आचरण अध्ययन की आदतें, शैक्षिक उपलब्धिया उस व्यवसाय विशेष के लिए अनुकूल नही हो सकती है। कई बालक एक से अधिक व्यवसाय के प्रति रुचि रखते हुए अतर्द्वन्द्व का शिकार हो सकते हैं। किसी एक व्यवसाय के प्रति मानस बनाने मे बालक को कई वर्ष लग सकते हैं और उसके रुझान में बदलाव आ सकता है।

इन सभी परिस्थितियों मे शिक्षक को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए बालक की व्यक्तिगत एव पारिवारिक परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए लक्ष्य का निर्धारण करने तथा उसके अनुरूप नियोजन करने में सहायता करनी चाहिए। बालको को समुचित मार्गदर्शन प्रदान करके अध्यापक बालकों की शैक्षिक उपलब्धियों का स्तर ऊंचा उठाने के साथ ही बालकों को भविष्य मे भग्नाशा एवं निराशा का शिकार होने से बचा सकता है।

□□

दांतों की सुरक्षा कैसे करें ?

□ डा० रामचन्द्र कपर

दांतों की बीमारिया मुख्यत: दो प्रकार की होती है एक तो वे जिनमें दात सडकर (अर्थात खोखले होकर) नष्ट हो जाते हैं, तथा दूसरी वे जिनमे मसूढ़ों मे सूजन हो जाती हैं। यहा पर हम दोनो प्रकार की बीमारियो का अलग-अलग जिक्र करेंगे।

दांतों का सड़ना

पैंतीस वर्ष की आयु के पहले दांतों के गिरने का मुख्य कारण उनका सडना अर्थात खोखला हो जाना है। यह साधारणतया हमारे भोजन के गलत तौर-तरीके के कारण होता है। अक्सर यह देखा जाता है कि जो लोग मीठे पदार्थों को अधिक खाते हैं तथा अपने दांतों को भली-भाँति साफ नही करते हैं उनके दांत कम उम्र मे ही नष्ट होने लगते है। होता यह है कि ऐसे लोगों के मुंह में उपस्थित बैक्टीरिया को दांतों को खोखला करने का उचित वातावरण प्राप्त हो जाता है, तथा दातों को अच्छादित करने वाली एनैमन, बैक्टीरिया द्वारा (भोजन में उपस्थित) शर्करा तथा अन्य किण्वित होने योग्य कार्बोहाइड्रेट से उत्पन्न कार्वनिक अम्ल मुख्यत: लैकटिक, प्रोपियोनिक तथा एसिटिक अम्लों से बारम्बार प्रभावित होती रहती है। कुछ बैक्टीरिया शर्करा से जटिल पालीसैक्राइड का भी निर्माण करते हैं। यह पालीसैकेराइड, मुंह को स्वच्छ न रखने की दशा में, दंत विरजिता (डेंटल प्लेक) का मुख्य घटक बन जाते हैं तथा हानिकारक बैक्टीरिया व उनसे उत्पन्न कार्बनिक अम्लों को दातों की सतह के समीप अवरोधित करके उनके नष्ट होने मे मदद करते हैं, तथा दांत शीघ्रता से गिरने लगते है। दातों के नष्ट होने का एक अन्य मुख्य कारण यह भी है कि चवर्ण (मोलर) तथा अग्रचवर्ण (प्रीमोलर) दातों के गड्ढों तथा दरारो मे भोजन के कण फस जाते हैं तथा इनसे बैक्टीरिया द्वारा उत्पन्न कार्बनिक अम्ल दातों को नष्ट करते रहते है। कभी कभी यह भी देखा गया है कि कार्बनिक अम्ल बैक्टीरिया द्वारा उत्पन्न होने के बजाय अन्य स्त्रोतो उदाहरणत: नीबू, सतरा, मुसम्मी आदि फलो के खाने से भी मुह मे पहुंच जाते है क्योकि इन फलों के रेशे तथा गूदे दांतों के बीच फंस जाते है तथा कार्वनिक अम्ल उत्पन्न करते रहते हैं।

प्राय. यह भी पाया गया है कि कुछ लोगों के दात कभी भी नहीं गिरते है चाहे वे कुछ भी खाते रहे हों अथवा उनका स्वास्थ्य कैसा भी हो। यह घटना दातों के खोखले होने के "ट्रायड सिद्धान्त" द्वारा स्पष्ट की गई है।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि दातों के सड़कर गिरने के तीन मुख्य कारण है—(1) आहार (2) अणुजीवी क्रिया तथा (3) होस्ट (अर्थात दात गिरने वाले व्यक्ति) की प्रभावश्यता। दातों के एनैमल के नष्ट होने के लिये इन तीन कारकों का विद्यमान होना आवश्यक है।

दंतक्षय की रोकथाम

दंतक्षय निम्न विधियों द्वारा रोका जा सकता है—

(1) **फ्लोराइड द्वारा**—यह सर्वविदित है कि ऐसे स्थानों में रहने वाले व्यक्तियों में जहा के पानी मे लगभग एक भाग प्रति मिलियन फ्लोराइड होता है वहा दांतो की प्रतिरोधक शक्ति अधिक होती है। जब पानी मे क्लोरीन की मात्रा कम होती है तो दांतों के सड़ने की गति को निम्न

तरीकों द्वारा घटाया जा सकता है।

- फ्लोराइड युक्त दत मजन व मुख-धावको के इस्तेमाल द्वारा।
- दत चिकित्सकों द्वारा प्रबल फ्लोराइड युक्त औष-धियों द्वारा दातों के उपचार करना।
- नन्हें मुन्ने बच्चो को विटामिन में फ्लोराइड संपूरक पदार्थ मिलाकर खिलाने से।

दतक्षय को रोकने की उपर्युक्त तीनो विधिया अच्छी है परतु इन तीनो द्वारा भी दांत सड़ने की गति उतनी धीमी नही पड़ती है जितनी कि पीने के पानी में फ़्लोराइड मिलाने से।

फ्लोराइड दातों को सड़कर नष्ट होने से ऐपेटाइट मणिमों द्वारा क्रिया करके बचाते है। दांतों की ऐनैमल इन्ही मणिमो की बनी होती है। फ्लोराइड दतक्षय की गति को धीमी करने के लिये किस प्रकार कार्य करते है इस बारे मे कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है—

- फ्लोराइड ऐपेटाइट मणिमों की बाढ को बढ़ाते हैं और इस प्रकार एनैमल के कुछ रासायनिक तथा भौतिक गुणों (उदाहरणत: अम्लों द्वारा विलेयता) को प्रभावित करते हैं।
- फ्लोराइड के अंतर्ग्रहण द्वारा दताग्र के आकार में परिवर्तन आ जाता है जिससे वे सड़कर नष्ट होने के प्रति कम प्रभाववश्य हो जाते है।
- फ्लोराइड बैक्टीरियों की बाढ़ को रोकते हैं।
- फ्लोराइड दाँतों के खनिजीकरण की गति को बढ़ाते है।

फ्लोराइड का उदग्रहण तीन अवस्थाओ में होता है। प्रारम्भिक उदग्रहण उस समय होता है जब गर्भ मे दांतो के खनिजों का मणिभीकरण होता है (सम्भवत: गर्भावस्था के आखिरी तीन महीनो में)। इस अवस्था मे फ्लोराइड का सबसे अधिक उदग्रहण दांतों के कैलसीमरण के बाद परन्तु उनके उद्‌भेदन के पहले होता है और यह क्रिया दांतों के जीवन पर्यन्त तक चलती रहती है।

फ्लोराइड के अलावा कई अन्य सूक्ष्म तत्त्व उदाहरणत: बोरान, कालिब्डेनम तथा वैनेडियम भी मनुष्यो में दंतक्षय की गति को धीमी करते देखे गये है। कुछ सूक्ष्म तत्त्व नकारात्मक प्रभाव भी प्रदर्शित करते हैं, उदाहरण के तौर पर यह देखा गया है कि भोजन मे सिलीनियम की विशेष मात्रा मिला देने से दांतो के सड़कर नष्ट हो जाने की गति बढ जाती है।

आहार

दंतक्षय रोकने का एक दूसरा तरीका है भोजन में परिवर्तन। यह देखा गया है कि परिष्कृत (रिफाइन्ड) कार्बोहाइड्रेट दातों को नष्ट करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जानवरो पर किये गये अध्ययनो से पता चलता है कि जब उनके भोजन से ('शर्करा' हटा दी जाती है तो दंतक्षय होने की गति भी धीमी पड़ जाती है। 'शर्करा' शब्द यहा पर किण्वित होने योग्य सभी कार्बोहाइड्रेटों का समावेश करता है। एक सेब में उपस्थित फ्रक्टोज (फल सर्करा) दांतों को नष्ट करने में उतनी ही प्रभावी हो सकती है जितनी कि किसी मिठाई में उपस्थित शक्कर।

मनुष्यों मे दंतक्षय की गति तथा अतर्ग्रहित परिष्कृत कार्बोहाइड्रेट का संबध कई कारकों द्वारा प्रभावित होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है शर्करा स्त्रोत की दंत क्षेत्र में धारण-क्षमता। यह देखा गया है कि सूखे मेवे उदाहरणत: किशमिश, मुन्नका आदि अपने ताजे फलो के समतुल्यों से अधिक दंतक्षय करने की क्षमता रखते हैं।

एक अन्य कारक है शक्कर ग्रहण करने की अवृत्ति (यदि कोई मिठाई खाना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह बारम्बार मिठाई न ग्रहण करे जिससे कि उसके दातों का क्षय न हो)।

दंतक्षय रोकने की अन्य विधियां

दंतक्षय रोकने की एक नयी तकनीक जो आजकल काफी चर्चित हुई है वह है बधको तथा दातों के गड्ढे भरने वाले पदार्थों (सीलेंट) का उपयोग। इन पदार्थों को जब दातो पर लगाया जाता है तो ये नाखूनो पर लगायी जाने वाली रंगहीन पालिश जैसे ही दिखते हैं। ये बधक तथा सीलेंट बहुलक पदार्थ है तथा ग्लूसाइडिल मेथाक्राइलेट (जी. एम. ए.) तथा बिसफीनोल ए (बिस) से तैयार किये जाते है। इन पदार्थों (बधको व सीलेंट) को दातों से चिपकने के लिये यह आवश्यक है कि दात के इनैमल का विकैल्सीकरण किया जाए। फासफोरिक तथा साइट्रिक एसिड दोनो ही इस कार्य के लिए इस्तेमाल किये गये है। बिस-जी एम ए बहुलक पदार्थ तब दांतो के गड्ढों मे घुस जाता है तथा जमने पर दातों से चिपक जाता है।

दातों को सड़कर गिरने से बचाने का अनुकूलतम तरीका है कि मुख को मुख धावको उदाहरणत: क्लोरहेक्सीडीन अथवा डाइकेल्सियम फास्फेट विलयनों द्वारा धोया जाए। क्लोरहेक्सीडीन रोगाणुरोधक है तथा दातों की सतह व मुख की श्लेष्मल झिल्ली से कई घंटों तक चिपकी रह सकती है, हालांकि यह (क्लोर हेक्सीडीन) दातों का रग खराब करती है।

मसूढ़ों की बीमारी

पैंतीस वर्ष की आयु के बाद दंतक्षय का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है मसूढ़ों की बीमारी। इस बीमारी में मसूढ़ों (मुलायम ऊतको) में सूजन आ जाती है तथा साथ ही दांतों की सहायक हड्डी की सरचना का नाश होने लगता है।

मसूढो की बीमारी के कई कारण है। कीटाणु रहित जानवरो पर किये गये अध्ययनों से पता चला है कि बैक्टीरिया भी मसूढो की बीमारी के एक कारक हैं। अन्य कारक उदाहरणत: फ्लोराइड तथा आहार भी मसूढो की बीमारी को प्रभावित करते है अत: मसूढ़ों की बीमारी द्वारा दतक्षय रोकने के लिये भी उन्ही तरीको का इस्तेमाल करना चाहिए जो कि दातो को सड़कर नष्ट होने मे इस्तेमाल किये जाते है।

पिछले कुछ वर्षों मे अमरीका के राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान ने मसूढो की बीमारी के उपचार के लिये एक रासायनिक तरीका खोज निकाला है। इस विधि में सूजे हुए मसूढों के ऊतको को पहले कई रसायनों उदाहरणत: क्लोरोहेक्सीडीन द्वारा उपचारित किया जाता है तथा बाद मे इस बीमारी से ग्रसित व्यक्ति को दो सप्ताह तक एन्टीबायोटिक पर नियमानुसार रखा जाता है, तथा अत में रोगी को यह हिदायत दी जाती है कि वह अपने दातों को हाइड्रोजन परआक्साइड नमक तथा खाने वाले सोडे के मिश्रण से साफ करें।

□□

अनौपचारिक शिक्षा की प्रमुख संस्था-गांव

□ रामेश्वर दत्त शर्मा

शिक्षा की प्रमुखत: दो ही संस्थाए मानी जाती है औपचारिक और अनौपचारिक। औपचारिक संस्थाओ के अन्तर्गत विद्यालय कालेज, प्रशिक्षण संस्थान आदि आते हैं। अनौपचारिक संस्थानों मे परिवार समाज आदि के अन्तर्गत गांव का प्रमुख स्थान है।

हमारा देश भारत गांवो का देश है। इस देश की अधिकतर जनता गांव में रहती है। अत: भारत के भावी नागरिक नन्हें-मुन्ने बच्चों की संख्या शहरों की अपेक्षा गाव में अधिक है। हमें गांव से शहरों की ओर नहीं भागना चाहिए बल्कि अपने गांव को ही खुशहाल बनाना है। इस ओर सरकार का दृष्टिकोण भी सकारात्मक होना चाहिए। आजकल, अनौपचारिक शिक्षा के विकास पर बल देना अनिवार्य हो गया है।

हमारी ग्रामीण जनता पश्चिमीकरण के प्रभाव से अभी कुछ दूर है। हमारे गांव अनौपचारिक शिक्षा की संस्था के रूप मे निम्नलिखित प्रकार से उभरते हैं—

(1) **शारीरिक विकास की दृष्टि से**—शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक विकास करना है। गांव मे नए-नए लड़के मिल-जुल कर खेल खेलते हैं। छोटे बच्चे अपने-अपने समूहों मे अलग से खेलते है। सायंकाल खेलने की इनकी एक प्रकार की आदत सी बन जाती है। कई गांवों में प्रतियोगिताएं रचाई जाती है, इस प्रकार की क्रियाओ के लिए गांव अनौपचारिक दृष्टि से शारीरिक विकास मे सहायक महत्वपूर्ण संस्था है।

(2) **मानसिक विकास की दृष्टि से**—शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का साधन है, गांव में लड़के लड़किया इकट्ठे होने पर अनेक विषयों पर वाद-विवाद करते है। राजनैतिक अथवा धार्मिक विषय लेकर भिन्न भिन्न मत सामने रखते है। यद्यपि इसके लिए समय और स्थान की निश्चितता नही होती और न ही उद्देश्य मानकर वे वाद-विवाद होते है बल्कि ऐसी ही बाते छिड जाती है। देश विदेश के बारे मे बातें होती है। अप्रत्यक्ष रूप से ये सब क्रियाए मानसिक विकास मे सहायक होती है।

(3) **मनोरंजन और आनन्द की दृष्टि से**—शिक्षा का उद्देश्य मनोरंजन व आनन्द की प्राप्ति भी है। गांव में लोग मेले मनाते हैं मिलजुल कर नाचते गाते हैं। शादी व यज्ञ आदि के समय सहयोग करते है, मेले मे देवता की पालकी बनाकर नचाया जाता है इस प्रकार मनोरजन होता है।

(4) **सहयोग व सामूहिकता की दृष्टि**—शिक्षा का गौण उद्देश्य आपसी सहयोग बढ़ाना भी है। गांव मे लोग एक दूसरे के साथ काम करने जाते हैं। गांव के व्यक्ति मकान का सामान ढोने मे सहयोग देते है, एक दूसरे की फसल काटने मे मदद करते हैं। रास्ता स्कूल आदि बनाने में श्रमदान देते है। इस प्रकार गाव आपसी सहयोग बढ़ाने मे सहायक है।

नेतृत्व के विकास की दृष्टि से—नेतृत्व का विकास करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। गांव मे मुखिया लोग बनाए जाते है, सरपच होते है। वे लडाई झगड़े का निपटारा करते हैं। गाव में क्लब व पार्टिया होती है जिसमे अलग अलग प्रधान व निदेशक बनाए जाते हैं जो गाव से नेता के रूप मे कार्य करते है। अतः गाव नेतृत्व के विकास मे अनौपचारिक सस्था के रूप मे सहायक है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि गाव को समुन्नत करना शैक्षिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आज आवश्यकता है भारतीय धनी समुदाय के लोगो की गांव से प्यार करने की ओर सरकार की इस ओर ध्यान देने की।

□□

"प्राथमिक शिक्षा में नामांकन वृद्धि"

□ भंवर लाल नागदा

प्रस्तावना—राष्ट्र की प्रत्येक गतिविधि मे बच्चे को भाग लेने का समुचित अवसर देना नितांत जरूरी है जिससे वे स्वत: आगे बढ़कर दायित्वपूर्ण कार्यो को अपने कधों पर ले सके और सामाजिक परिवर्तन एव राष्ट्रीय विकास जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों मे सक्रिय भागीदार बन सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी भी बालक बालिका को चाहे वह शहर का निवासी हो या गांव का प्रत्येक को शिक्षा से वंचित न रखा जाए।

समस्या का स्वरूप—हमारे देश में मुख्यत. गावों मे बच्चों की शिक्षा स्थिति अच्छी नही है। स्वतत्रता प्राप्ति के सैंतीस वर्ष पश्चात् भी सरकार अपने निर्धारित लक्ष्य को पूरा न कर पाई है। परिणामस्वरूप सरकार को पुनश्च: यह संकल्प दोहराना पड़ा और अब सन् 1990 तक शत प्रतिशत बालक बालिकाओ को विद्यालय मे लाने का दृढ निश्चय किया है। अत. अब हमे इसे राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप मे अपनाना होगा। इसके लिए प्राथमिक शिक्षा मे नामाकन वृद्धि पर ही विशेष ध्यान देने की जरूरत है, क्योंकि आगे चलकर वे ही राष्ट्र के भावी नागरिक एव कर्णधार बनेगे।

प्राय: यह देखा गया है कि सामान्यत' सभी विद्यालयो में प्रतिवर्ष नामाकन लक्ष्य की पूर्ति येन केन प्रकारेण जुलाई से प्रारभ कर दिसम्बर तक कर दी जाती है। और जनवरी से नाम कटने शुरू हो जाते है। इस प्रकार मार्च अप्रैल में पुन: वही सत्रारभ (जुलाई) वाली स्थिति आ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि रजिस्टरो मे सख्यात्मक वृद्धि हो जाती है लेकिन गुणात्मक वृद्धि नही हो पाती इस तरह हम देखते है कि प्राथमिक स्तर पर ही सर्वाधिक अपव्यय एव अवरोधन होता है। इस पर गौर किया जाए तो वास्तव में यह प्रथा बहुत ही गलत है जो हमारे लिए गंभीर समस्या बनी हुई है लेकिन सभी ऐसा नहीं करते। प्रत्येक विद्यालय में एकाध ऐसी प्रतिभाए देखने को मिल ही जाती हैं जो अपनी विशेषताओ को चमत्कृत किए बिना नही रहती। वे स्वयं एव विद्यालय के लिए दर्पण का कार्य करते हैं।

नामांकन वृद्धि की आवश्यकता एवं महत्व—देश के समुचित विकास, गरीब अभावग्रस्त जनता विशेषकर आदिवासी एव पिछड़े वर्ग के लोगो के उत्थान हेतु स्वर्गीय प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरागाधी द्वारा 20 सूत्री राष्ट्रीय कार्यक्रम एक राष्ट्रीय एव महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इसलिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक चाहे वह अधिकारीगण हो या कर्मचारी, सामाजिक कार्यकर्ता हो या अध्यापक उसका यह दायित्व है कि इस महान राष्ट्रीय कार्यक्रम मे सहयोग प्रदान करे।

सूत्र स० 16 मे सब साक्षर कार्यक्रम को लिया गया है। इसके अंतर्गत विद्यालयों मे छात्रों की संख्या मे अभिवृद्धि करना और शिक्षा के कार्य को वांछित गति प्रदान करना है ताकि संविधान की धारा 45 में वर्णित सार्वजनिक एव नि:शुल्क शिक्षा (6 से 14 वर्ष) के उद्देश्य को पूरा किया जा सके। राज्य मे नामाकन की स्थिति को सुदृढ़ करने के प्रयोजन से एवं कोठारी आयोग (1964-66) की अनुशंसा पर सन् 1973 से प्राथमिक स्तर पर अविभक्त इकाई शिक्षण व्यवस्था लागू की गई ताकि प्राथमिक स्तर पर सर्वाधिक शैक्षिक अपव्यय एव अवरोधन को रोका जा सके और प्रत्येक बालक को उसकी क्षमतानुसार गति

प्रदान की जा सके किन्तु इसमें भी आशाजनक परिणाम हासिल न हो सके। फलत: सन् 1974 से विद्यालयो मे नामाकन अभिवृद्धि के कार्यक्रम को अभियान के रूप मे अपनाया जाने लगा।

भारत जैसे विशाल एव विकासशील देश मे स्कूल न जाने वाले सभी बालक बालिकाओं को शिक्षित करने की जरूरत सर्वाधिक महत्त्व रखती है क्योकि जब तक निरक्षरता का निवारण न होगा तब तक देश से निर्धनता, जनसख्या वृद्धि, बोमारियो व पिछड़ेपन आदि से छुटकारा पाना मुश्किल है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने पूरे प्रयत्नो के साथ इस महान एव महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रम मे जुट जाये और उन्हे विद्यालयो की ओर आकृष्ट करे। वर्तमान मे आवश्यकता इस बात की है कि बालको की अपेक्षाओ, आकांक्षाओ और रुचियो के अनुरूप ही शिक्षा दी जाय। इसके लिये पाठ्यक्रम को लचीला और छात्रों की रुचि एव आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जाए। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए राज्य स्तर पर एस सी ई. आर टी. एव राष्ट्रीय स्तर पर एन. सी. ई. आर. टी. की स्थापना की जा चुकी है जो महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है।

परिकल्पनाए—शिक्षा से कही सुसस्कृत एव चिन्तनशील समाज का निर्माण सभव है। शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है। सुशिक्षित एवं उत्तरदायी व्यक्ति गतिशील समाज की संरचना करते हैं।

मौलिकता ही वह शक्ति है जो विभिन्न क्षेत्रो से कुछ व्यक्तियो को उभारकर सामान्य से अलग करती है। मौलिकता व्यक्ति के उस वैशिष्ट्य का नाम है जो उसके वैचारिक एव व्यावहारिक पक्षो को प्रभावित करती है। मौलिकता के अकुर बालक मे जन्म से होते है और इनका यथोचित विकास भी शिक्षा प्रणाली की सफलता की एक कसौटी हो सकता है।

सृजनशील अध्यापक उस कुम्हार के समान है जो अनुपयोगी एव व्यर्थ पड़े मिट्टी के ढेले को तैयार कर सुन्दर मूर्ति का निर्माण कर देता है। इसलिए वास्तव में अध्यापक सत्य का अन्वेषी होता है। शिक्षकों का ज्ञान उसकी जागरूकता एव कर्तव्य परायणता पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि अध्यापक अपने आचार विचार, व्यवहार एव अध्यापक कौशल मे वृद्धि करें और शोध प्रयोग अनुभव एव अभनवन कार्यक्रमो के माध्यम से विद्यालयी, पारिवारिक आर्थिक, सामाजिक व शैक्षिक समस्याओं का समाधान खोजे तो निरक्षरता, निर्धनता और गरीबी से छुटकारा दिलाने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है साथ ही देश के विकास एव प्रगति को उन्नत करने मे भी सहायक सिद्ध होगा।

क्रियान्विति के चरण—सर्वप्रथम हमें विद्यालय से जुड़े हुए क्षेत्र का सत्रारभ अर्थात जुलाई मे ही सर्वे करना होगा। इसमे इस बात का ध्यान रखना होगा कि 6 से 14 वर्ष के बीच आयुवर्ग का कोई भी बालक बालिका जो विद्यालय मे पढ़ने नही आता है उसका नाम न छूट जाए क्योंकि सर्वे के आधार पर ही विद्यालयो को नामाकन वृद्धि के लक्ष्य आवंटित किए जाते है। विद्यालयो मे नामांकन वृद्धि हेतु प्रभात फेरी का आयोजन किया जावे जिसमे विभिन्न प्रकार के नामाकन वृद्धि से सबंधित नारे लगाना, अभिभावकों से सम्पर्क कर बालक बालिकाओ को विद्यालय मे भेजने हेतु बार-बार आग्रह करना, दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखना, लोकगीतो, गीतो, दोहों, नारो के रूप मे दुहराना, स्कूल जाते बच्चो के पोस्टर को प्रमुख एव सार्वजनिक स्थानो पर चिपकवाना आदि सम्मिलित हो।

सर्वे रजिस्टर के अनुसार अभिभावक सम्पर्क एवं महत्वपूर्ण कार्य है। विद्यालय के प्रति बालको की रुचि जाग्रत करने मे अध्यापक, अभिभावक दोनो ही समान रूप से उत्तरदायी हैं। अधिकाश अभिभावक सोचते हैं कि बालक स्कूल गया, पढ लेगा। यह सोचकर ध्यान ही नही देते। उन्हें यह ज्ञात करा देना चाहिए कि बालक जितना समय अध्यापक के सानिध्य मे व्यतीत करता है उससे कही अधिक घर पर। इसलिए अभिभावको को चाहिए कि वे शिक्षको पर आश्रित न रहकर स्वय भी ध्यान रखे कि बालक नियमित स्कूल जाकर पढ़ता है या नहीं। अगर स्कूल नही जाता है तो उसके क्या कारण है ? जिससे वह शिक्षा से वचित रह जाता है अत. उन कारणों का तप लगाना जरूरी है।

अभिभावक सम्पर्क रजिस्टर में विद्यालय न जाने वाले एव अनुपस्थित रहने वाले छात्रों को अभिभावकों से पर्याप्त सम्पर्क कर लेखा जोखा का समस्त ब्यौरा रखा जावे जैसे छात्रों का विद्यालय मे अनुपस्थित रहने का समय, कारण, सम्पर्क दिनांक एवं अभिभावक के हस्ताक्षर, अभिभावक का मत एव उसकी समस्याएं, आप द्वारा समय-समय पर दिये गये सुझाव आदि का ब्यौरा स्पष्ट हो ताकि अधिकारीगण आपके द्वारा किए गए प्रयासों की जानकारी भी चाहे तो आप प्रमाणीकरण प्रस्तुत कर सकें। रजिस्टर मे अंकित कारणों की समीक्षा कर उसका समाधान ढूंढ़ा जा सके। सम्पर्क के पश्चात् बालकों के स्कूल न आने या पलायन कर जाने के निम्न संभावित कारण सामने आये वे इस प्रकार है—

अभिभावकों का मत

1. विद्यालय का घर से 4.5 कि० मी० दूरी पर होना व रास्ते मे नदी, नालो व जगल के भय से विद्यालय मे न भेजना।
2. अर्थाभाव के कारण छात्रों की गणवेश, पाठ्यपुस्तके एवं स्टेशनरी न खरीद पाने से विद्यालय न भेजना।
3 घर एवं खेत पर माता पिता के काम मे सहयोग एव छोटे भाई बहिनो को खिलाना एव रखवाली करना।
4 मवेशियों को चराने छात्रों कों जंगल में भेज देना।
5. शिक्षण के प्रति अरुचि एव उदासीनता प्रकट करना।
6 सामाजिक कुरीतियों और रूढ़िवादिता से संगीर्य विचार होना।
7. परिवार भरण पोषण हेतु छात्रो को मजदूरी पर भेजना।
8. बालको का लगातार अस्वस्थ रहना एवं अरुचि दिखाना।
9. लगातार अनुत्तीर्ण रहना एव छात्रो द्वारा असमर्थता प्रकट करना।

छात्रो का मत

1. बड़ छात्रों द्वारा छोटे छात्रो को रास्ते मे डराना धमकाना।
2. गृह कार्य एव प्रश्न याद न होने से अध्यापक के भय से न आना।
3. शाला गणवेश, पाठ्यपुस्तकें, स्टेशनरी के अभाव से शाला मे न आना।
4. सहपाठियो के साथ रास्ते मे खेलकर पुनः घर चले जाना।
5. आयुसीमा की विभिन्नता से मानसिक बेचैनी का अनुभव करना।
6. छात्रों की कुसंगति में पड़ कुव्यसन सीखना व अध्यापक के भय से विद्यालय न आना।
7. लगातार अनुपस्थिति एवं अनुत्तीर्ण होने से शाला छोड़ देना।
8. छात्रों का लम्बे समय तक बड़ो के साथ अन्यत्र मेहमान होकर चले जाना।
9. घर व परिवार का अनुपयुक्त वातावरण व जीवन मे स्थायित्व का अभाव अखरना।
10. छात्रों के बार-बार आग्रह पर भी माता-पिता द्वारा शाला न भेजना।

11. घर पर पढ़ने हेतु फर्नीचर, स्टेशनरी, प्रकाश की व्यवस्था न होना ।

12. माता पिता द्वारा घर के अन्य कार्य मे जुटा देने से विद्यालय का कार्य समय पर पूरा न होना आदि ।

अध्यापकों का मत

1. छात्र एवं अभिभावक शिक्षा के महत्व को नहीं समझने से शिक्षा से वंचित रहते है ।

2. अभिभावको की शिक्षा के प्रति अरुचि एवं उदासीनता होना ।

3. विद्यालय का आकर्षण केन्द्र न होना एवं शिक्षण सामग्री का अभाव ।

4. विद्यालय की स्थिति दयनीय तथा उसका व आसपास का अनुपयुक्त वातावरण होना ।

5. अभिभावकों का निरक्षर होना ।

6. बालकों मे प्रारम्भ से ही विद्यालय के प्रति भय या आतंक की भावना होना ।

7. शाला भवनों का अभाव एवं विद्यालय समय का अनुपयुक्त होना ।

8. शिक्षा में खेल एवं अन्य प्रतियोगिताओं को विशिष्ठ स्थान न देना ।

9. शिक्षा कर की राशि का सदुपयोग न होना ।

10. नामांकन वृद्धि जैसे महत्वपूर्ण कार्य में सभी विभाग के कर्मचारियों का सहयोग न होना।

11. नामांकन वृद्धि में पंचायतों का योगदान न होना ।

12. नामाकन वृद्धिमें नवयुवक मण्डलो, महिला मण्डलो जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओ का योगदान न होना।

13. सरकार द्वारा अर्थाभाव से पीड़ित दीन-हीन गरीब सभी निम्न स्तर पर जीवन यापन करने वाले परिवारों के छात्रों को पर्याप्त साधन सुविधाए नि:शुल्क उपलब्ध न कराना।

इस प्रकार हम नामांकन वृद्धि जैसे राष्ट्रीय कार्यक्रम पर गौर करें तो अध्यापक पर बहुत बड़ी जिम्मेधारी आती है वह यह कि प्रत्येक छोटी से छोटी समस्या क्यों न हो हमें उसका हल खोजना होगा। मान लीजिए एक छात्र गृह कार्य न करके लाया उसके अनेक कारण हो सकते हैं। पाठ्य-पुस्तक, स्टेशनरी, पेन या प्रकाश की व्यवस्था न हो या उसे घर के अन्य कार्य मे जुटा देने से समय न मिलता हो या उसे घर पर कोई मार्ग-दर्शन करने वाला न हो या कलह-पूर्ण घर का वातावरण हो ऐसे कुछ भी कारण हो सकते है, उनका पता लगाकर समाधान खोजना होगा और उसे जिस की आवश्यकता है उसे जुटाने का प्रयत्न करना होगा ।

अध्यापक द्वारा नामांकन वृद्धि में किए गये प्रयास

1. विद्यालय की साज सज्जा, बगीचा लगाकर आकर्षण का केन्द्र बनाना।

2. प्राभातफेरी आयोजन, दीवारों पर आदर्श वाक्य, नारे, दोहे लिखे गये एव नामांकन वृद्धि संबंधी आकर्षक पोस्टर चिपकाये गये।

3. विद्यालय में खेलकूद की पर्याप्त व्यवस्था कर मनोरंजन के खेल खिलाये गये।

4. अध्यापकों द्वारा अभिभावकों को शिक्षा का महत्त्व बताकर उन्हें जागरूक किया ।

5. मनोवैज्ञानिक विधि से शिक्षण की व्यवस्था हेतु उपकरणकों का निर्माण किया ।

6. नवयुवक मण्डल, महिला मण्डल, अभिभावक संघ, नामाकन अभिवृद्धि समिति की स्थापना कर उनसे सक्रिय सहयोग हेतु आग्रह किया।

7. विद्यालय मे शिशु क्रीड़ा केन्द्र की स्थापना कर विभिन्न खेलों का आयोजन किया।

8. शिक्षक छात्र सबध पिता पुत्र जैसे रखने के लिए बालको के घरों से विद्यालय का निकट सबध स्थापित कर भयमुक्त वातावरण तैयार किया।

9. परोपकारी एवं दानदाताओं द्वारा निर्मित समिति का गठन कर अर्थाभाव से पीड़ित, गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले एवं अनाथ छात्रो को निःशुल्क पोशाकें, पाठ्यस्पुतकें, स्टेशनरी वितरण कराने की व्यवस्था की गई।

10. समय-समय पर समाजसेवा जैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम पर्व, उत्सव, बैठको में मनोरजन के प्रबधों में विशेष रुचि ली।

11. समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप उन्हें समय-समय पर बीमारियो, फसलो की कीटनाशक दवाओ एव अधिक उत्पादन सबधी जानकारी उपलब्ध कराकर शिक्षा के महत्त्व एव उसके लाभो से अवगत कराया गया।

12. पशु चराने हेतु एक समिति का गठन किया जिससे प्रति माह एक छात्र की एक बारी पशु चराने की आती बाकी दिन वह विद्यालय आता, इस प्रकार बारी-बारी से पशु चराने जाते। पशु चराने की समस्या हल हो गई और छात्र भी नियमित विद्यालय मे पढने आने लगे।

सरकार द्वारा नामांकन वृद्धि हेतु किए गए प्रयास

1. 250 की आबादी वाले गांवो में विद्यालयों की स्थापना कर भवन निर्माण कराना।

2. अन्त्योदय, अ० जा एवं अ० ज० जा० के छात्राओं के लिये निःशुल्क शाला गणवेश, पाठ्यपुस्तके एव स्टेशनरी वितरण करना।

3 छात्रों को दोपहर के नाश्ते हेतु सी० सी० एम० व एस० एफ० बी० की व्यवस्था करना।

4. शिशु क्रीड़ा केन्द्र, आगनवाडी एव अ० जा० की सर्वाधिक एवं नियमित उपस्थित रहने वाली छात्राओं को छात्रवृत्ति देना।

5. नामाकन वृद्धि मे शत प्रतिशत सफलता हासिल करने वाले शिक्षक को प्रोत्साहन स्वरूप प्रशसा-पत्र देना।

6. अनाथ एव अपाहिज छात्रो को छात्रवृत्तियां देकर प्रोत्साहन देना।

सुझाव—जहा तक मै सोचता हूं सरकार बेघरबारों को मकान की सुविधा, भूमिहीनो को भूमि, बीमारों को नि शुल्क दवाइया, गरीबो को कानूनी सहायता, शरणार्थियों को विशेष रियायतें एव अपाहिजों, अनाथों एव विकलांगों को पेंशन आदि की सुविधा प्रदान कर सकती है तो देश के भावी नागरिको को विद्यालयों मे प्रवेश दिलाने हेतु सभी आवश्यक सुविधाये अवश्य जुटा पायेंगी इसमें दो राय नही। क्योंकि देश की अधिकतर जनता अब भी अशिक्षित है और इसलिये वह गरीबी, बीमारी, पिछड़ेपन से मुक्त नही हो पाती। गाधीजी ने कहा भी है—"निरक्षरता देश का कलक है" राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के अभीष्ट कार्यक्रम मे सबसे बडी जिम्मेदारी प्राथमिक स्कूलो के शिक्षको के कंधो पर है, क्योंकि शैक्षिक इमारत की नीव मे वही काम करता है। लेकिन इस पुनीत कार्य में सरकार व अन्य विभागों के कर्मचारियो का सक्रिय सहयोग भी वाछनीय है। योग्य समर्थ एव सुशिक्षित अभिभावक स्वत: ही अपने बच्चों को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने हेतु शिक्षा दिलाकर विभिन्न प्रतियोगिता परीक्षा मे भाग दिलाने की उत्कृष्ट अभिलाषा रखता है। अर्थाभाव से पीड़ित गरीब दीन हीन व्यक्ति ही अपने बच्चो को शिक्षा से वचित रखेगा। वह

स्वयं भी नही चाहेगा किन्तु कुछ मजबूरिया उसे बाध्य करती है। इसलिए सरकार एवं अन्य विभागीय कर्मचारियों से अपेक्षाए की जाती है कि—

1 सरकार द्वारा डेढ से दो कि० मी० की दूरी पर विद्यालय खोले जाएं।

2. सरकार द्वारा दूर दराज से छात्रो को विद्यालय मे लाने लेजाने की निःशुल्क समुचित व्यवस्था की जाय।

3. गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले छात्रो को नि.शुल्क शाला गणवेश, पाठ्यपुस्तके एव स्टेशनरी अच्छी क्वालिटी की पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराई जाए।

4. दोपहर के नाश्ते मे चल रहे कार्यक्रम को बद कर उसके स्थान पर तैयार किया नाश्ता, भुने चने, बिस्कुट, तलपपड़ी आदि की व्यवस्था की जाए जैसा गुजरात व आन्ध्र में दिया जाता है तो पददान सिद्ध होगा।

5. विभिन्न विभागो के कर्मचारियों से सक्रिय सहयोग को आवश्यक बनाया जाए जैसा नामाकन वृद्धि सबधी प्रमाण पत्र उपलब्ध होने पर ही खेतों का नामाकन, खातेदारी दर्ज करना, बैक ऋण, बिजली व नल का कनेक्शन, भवन निर्माण की स्वीकृति आदि विभिन्न प्रकार की मिलने वाली सुविधाए प्रदान की जाएं।

6. वर्तमान मे पचायतो का योगदान नगण्य है। पंचायतों को दायित्व एवं अधिकार सौपे जाए कि जो अभिभावक अपने छात्र छात्रा को शाला मे नहीं भेजते है उन पर कानूनी जुर्माना किए जाए और पंचायत से मिलने वाली सुविधाओं से वंचित रखा जाए ताकि अभिभावकों को मजबूर होकर अपने बच्चो को विद्यालय भेजना पड़े।

7. अन्य विद्यार्थियो को उपयोगी शिक्षण सामग्री, सस्ती दरो पर पर्याप्त मात्रा में पाठ्यपुस्तके एव स्टेशनरी की व्यवस्था की जाए। समय-समय पर छोटी-छोटी बालोपयोगी फीचर फिल्मे बनाई जाएं एव नियमित विज्ञापन प्रसारण का नामाकन किया जाए।

8. एक अध्यापकीय शालाएं बद कर छात्र-अध्यापक अनुपात 20 : 1 रखा जाय ताकि छात्रो की पढाई पर व्यक्तिगत एव समुचित ध्यान दिया जा सके।

9 सर्वाधिक नामांकन लक्ष्य एव नियमित उपस्थिति वाले अध्यापको को प्रोत्साहन स्वरूप पुरस्कृत किया जावे।

10. नदी, नालो पर पुल निर्माण कर रास्ते सुगम बनाये जायें।

11 शिक्षा में खेल व अन्य प्रवृत्तियों को विशिष्ट स्थान हेतु पाठ्यक्रम मे सशोधन किया जावे।

12. बाल मनोवैज्ञानिक शिक्षण हेतु अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जावे।

13. प्रेरक साहित्य की रचनाकर सभी को निःशुल्क वितरण किया जावे।

14. समाज की आवश्यकता के अनुरूप पाठ्यक्रम का निर्माण किया जावे।

उपसंहार –प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को उपयोगी नागरिक तथा उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति का निर्माण करना है। प्राथमिक शिक्षा में बालक के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकारा है। बालक को किसी भी प्रकार के बधन से मुक्त रखने का स्वर निहित है अर्थात् बालकों को स्वतंत्रता-पूर्वक अपनी गति से बढने दिया जाए। उनपर आरोपण एव दबाव न हो लेकिन बालको की जो जो स्थितिया सजोई जाएं उनमें प्रत्येक बालक पर निजी एवं व्यक्तिगत ध्यान दिया जाना जरूरी है।

नामांकन वृद्धि जैसे राष्ट्रीय कार्यक्रम मे केवल शिक्षक ही नही अपितु सरकार एवं विभिन्न विभागों के कर्मचारी अगर सक्रिय सहयोग प्रदान करे, जिससे 1990 तक सार्वजनिक नि.शुल्क अनिवार्य शिक्षा (6 से14 वर्ष) की कल्पना का सपना साकार हो सकेगा इसमें दो राय नही, अपितु देश में बढती हुई निर्धनता, निरक्षरता, जनसंख्यावृद्धि एवं बेरोजगारी जैसी समस्याए समाप्त होगी और देश प्रगति के पथ की ओर अग्रसर होगा। इस प्रकार हमारा नामांकन अभियान वरदान सिद्ध होगा।

□□

सह-शिक्षा

□ मुकेश मोहन तिवारी

सह-शिक्षा का अभिप्राय लड़के और लड़कियो का एक ही विद्यालय मे साथ-साथ बैठकर पढ़ना है। जिस प्रकार पहले स्त्री शिक्षा का विषय वाद-विवाद का विषय रहा था उसी प्रकार से अब सह-शिक्षा भी विवाद का विषय बनी हुई है। सर्वप्रथम सह-शिक्षा का उदय पाश्चात्य देशों मे हुआ और सह-शिक्षा की शुरूआत स्विटजरलैंड ने की। अमेरिका मे सह-शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार है और अब तो रूढ़िवादी देशो मे भी दिन पर दिन इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। सह-शिक्षा आज के इस आधुनिक युग मे उपयोगी सिद्ध हो रही है। सह-शिक्षा के समर्थको का कहना है कि गरीब देशों में सह-शिक्षा द्वारा बचत हो सकती है जिससे लड़के तथा लड़कियो के लिये अलग-अलग व्यवस्था करने की आवश्यकता नही पडती जिससे खर्च भी कम होता है, विशेषकर भारत जैसे देश मे जहां अल्पमात्रा मे लड़कियां वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करती है। उनके लिए अलग शिक्षा-सस्थाए खोली जाए तो उसमे किया गया व्यय व्यर्थ ही जायेगा। इस आर्थिक दृष्टिकोण से भी सह-शिक्षा उचित है। सह-शिक्षा से छात्र और छात्राओं में आपसी सहयोग की भावना पनपती है। इससे यह भावना पनपती है जो छात्राए घर मे या समाज मे जो काफी समय से अपने को हीन समझती रही है उसमे स्वतन्त्रता की भावना जागृत हो जाती है। सह-शिक्षा से ऐसे भी एक खुले वातावरण मे सांस लेने की आजादी प्राप्त होती है। लडके लड़कियों के एक साथ रहने से उनके स्वाभाविक गुणो का विकास होता है। उनमें आपस मे परस्पर सहृदयता और सहानुभूति के भाव उत्पन्न होते है तथा संकोच व झेंपूपन खत्म हो जाता है। लड़कियां अपनी शिक्षा समाप्त करके जब नौकरी के सम्पर्क में आती है तब उनको युवकों के सम्पर्क में आना ही पढ़ता है। इसलिए जो लड़कियां पहले से ही सह-शिक्षा की अभ्यस्त होती है तो उन्हें आगे चलकर कोई परेशानी नहीं होती। इसके साथ सह-शिक्षा के कई दोष भी हैं जैसे प्रत्येक खेल उदाहरण के लिए कबड्डी, फुटबाल, हाकी या अधिक परिश्रम वाले खेल लड़कियो के लिए उचित नही हैं यदि कुछ लड़कियां लड़कों के साथ अपने शरीर के विरुद्ध खेल खेले भी तो उसका बुरा परिणाम भविष्य मे निकलेगा जब वे माताएं बनेंगी। अतः सह-शिक्षा शारीरिक विकास से उपयोगी सिद्ध होने के स्थान पर घातक सिद्ध होगी। नैतिक दृष्टि से 10 या 12 वर्ष की आयु तक प्राथमिक स्तर पर सह-शिक्षा प्रदान करने में कोई हानि नही है। परन्तु युवा होने पर सह-शिक्षा व्यभिचार की उत्तेजना को जन्म देती है। और छात्र और छात्राए कृत्रिम सौन्दर्य की ओर अग्रसर होते है। फिर स्त्री और पुरुष का स्वभाव भिन्न है। साथ ही उनके कार्यक्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः सह-शिक्षा द्वारा स्त्री-पुरुष अपने-अपने कार्य की ओर सचेत होने के स्थान पर उदासीन हो जाते है।

इस प्रकार पक्ष और विपक्ष के तर्कों के आधार पर ग्यारह वर्ष तक की छात्राओ का छात्रो के साथ अध्ययन करना उचित लगता है। क्योंकि जब तक उनमें किशोरावस्था की प्रवृत्तिया उत्पन्न नहीं होती। ग्यारह वर्ष के पश्चात् सत्रह वर्ष तक छात्र-छात्राओ की शिक्षा पृथक-पृथक शिक्षा संस्थाओं मे होनी चाहिए। क्योंकि इस अवस्था में ही भावनाओ का आवेश अधिक होता है, ज्ञान की मात्रा कम। अठारह वर्ष से छात्र-छात्राओं की शिक्षा पुनः एक साथ हो सकती है, क्योंकि इस अवस्था तक दोनों में ही अपना हित-अहित विचार करने की क्षमता आ जाती है। सह-शिक्षा और पृथक शिक्षा के बीच का यही मार्ग आधुनिक विद्वानों को मान्य है। इसी मध्य मार्ग का अनुसरण करने से सम्भव है कि हानि कम हो और लाभ अधिक हो।

□□

रक्तदान—सबसे उत्तम दान

□ मास्टर वेद प्रकाश गुप्ता

पौराणिक कथाओ मे कहते है कि एक बार दैत्यो तथा देवताओ के बीच बहुत भारी युद्ध हुआ और उस युद्ध मे दैत्यों ने विजय पाई। जब सब देवता अपनी जान बचाकर बैकुण्ठ नाथ की शरण मे गए और उनकी स्तुति करने लगे कि हे गोपीनाथ दैत्यो से हमारे प्राण बचाइये। तब उन्होने उनको अपना भक्त जानकर कहा कि तुम दधीचि ऋषि के पास जाकर उनकी हड्डियो का दान मागों और उन हड्डियों का वज्र नाम का शस्त्र बनाकर दैत्यों से युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी।

भगवान के यह वचन सुनकर इन्द्रादि देवता दधीचि ऋषि के पास जाकर उनसे विनय करने के उपरान्त बोले कि हे ऋषिराज हम आपके पास अपने कल्याण के लिए आपकी हड्डियों का दान मागने आये है। यह वचन सुनकर दधीचि ऋषि ने कहा कि देखा जरा सी चोट लगने पर शरीर को कितना कष्ट होता है तुम मेरे शरीर को भी अपने शरीर जैसा समझो मुझे भी तुम्हारी तरह यह शरीर प्यारा है। ऋषि ने यह कहकर अपने मन में विचार किया कि मैने इन्द्र को ऐसा क्यों कह दिया। यह शरीर सदा स्थिर तो नही रहेगा यदि इस शरीर से किसी का कल्याण होता है तो फिर मुझे दे देना चाहिए। कोई बड़ा वृक्ष अपनी डालिया दूसरो द्वारा काटे जाने पर भी कोई कष्ट नही मानता और बहुत प्रसन्नता से अपने फल-फूल तथा छाया दूसरों को दे देता है। यह विचार कर ऋषि ने इन्द्र से कहा हे इन्द्र मैं योगाभ्यास साधकर परमेश्वर के ध्यान में बैठता हूं। तुम एक गाय लाकर उससे मेरा शरीर चटवाओ और जब वह मेरा सारा शरीर का मांस चाट ले और केवल हड्डिया बाकी रह जायें तो तुम उन्हें लेकर अपना मनोरथ पूरा करें। यह कहकर ऋषि ने अपनी हड्डियो का दान दिया और इन्द्र ने उन हड्डियो का वज्र नामक शस्त्र बनाकर दैत्यो को जीत लिया और अपना इन्द्रलोक का सिंहासन फिर पा लिया। यहा इसका उल्लेख केवल इस आशय से किया जा रहा है ताकि हम यह जान सकें कि इस देश में ऐसे महान व्यक्ति भी हुए है जिन्होने परोपकार मे अपना जीवन भी लगा दिया।

इसी प्रकार दानवीर कर्ण के बारे में सुनते है कि महाभारत के युद्ध के अन्त मे जब वह अर्जुन के तीरो से घायल होकर युद्ध भूमि में पड़ा मृत्यु की राह देख रहा था उसी समय अर्जुन और श्रीकृष्ण ब्राह्मण का रूप बनाकर उसके पास दान मांगने गए। कर्ण ने बहुत लज्जित होकर कहा कि महाराज अब अन्तिम समय मे मैं आपको क्या दान दूं, यहा पर मेरे पास अब कुछ भी नही है तभी उसे ध्यान आया कि उसका एक दात सोने का बना हुआ है। यह ध्यान आते ही उसने उन ब्राह्मणो के पास मे पड़ा हुआ पत्थर लाने को कहा वह ब्राह्मण बोले हम परिश्रम किया हुआ दान नही लेते, तुम स्वय पत्थर उठाओ और यह वचन सुनकर कर्ण खिसकता हुआ उस पत्थर तक गया और उसको उठाकर अपना दात तोड़ लिया और उनको देने लगा तब वह ब्राह्मण बोले कि हम खून मे भरा दांत नहीं लेंगे इसे धोकर हमे दो तब लेंगे। यह सुनकर कर्ण ने अपना तीर पृथ्वी मे चला दिया और उसी समय पृथ्वी से एक जल की धारा प्रवाहित हो उठी और कर्ण ने वह दात धोकर उन ब्राह्मणों को दे दिया। कर्ण की यह दानवीरता देखकर श्रीकृष्ण ने उसको अपना चतुर्भुजी स्वरूप दिखलाया और उसको भवसागर पार उतार दिया।

इसी प्रकार राजा हरिश्चन्द्र ने तो अपना राज पाठ, घरबार, वस्तु-आभूषण सभी कुछ दान कर डाले थे और

अपने शरीर पर जो वस्त्र रह गये थे, उन्होने घर से बाहर जाकर डोम के घर नौकरी की और उनकी पत्नी को किसी ब्रह्मणके घर जाकर रसोई बनाने का काम करना पड़ा था। जब उसके पुत्र रोहितास को सर्प ने काट लिया तब उसकी पत्नी अपने पुत्र को जलाने शमशान घाट पर ले गई। हरिश्चन्द्र ने बिना कर लिये अपने पुत्र की लाश को भी नहीं जलाने दिया। अतः इस प्रकार उन्होने दानवीर होने के साथ-साथ कर्तव्य परायणता का भी परिचय दिया।

यह तो थी कुछपौराणिक कथायें अब एक वीरागना की कथा भी है जिसने परोपकार के लिए अपना रक्त दान किया। जब एक व्यक्ति ने आकर कहा कि रक्त दान शिविर लगा है आप अपना रक्त दान कीजिए और मैं सोच ही रहा था कि उसे क्या उत्तर दूं तभी वह वीरागना पूछ बैठी कि ये क्या मागते है और जब मैने कहा कि रक्त का दान मागते है वह बेझिझक बोली तो ठीक है ले ले रक्त दान, मै अपना रक्त दूगी यदि मेरे रक्त से किसी का जीवन बच जाये तो मेरे लिये इससे अधिक और सौभाग्य की बात क्या हो सकती है।

उस महिला ने कहा कि परोपकार के लिए वह चाहे तो मेरा सारा रक्त निकाल लें। मुझे कोई चिन्ता नही है। और फिर हंसते-हसते रक्तदान कर दिया उस वीरांगना ने। कितनी ही बार ऐसा होता है कि जिस व्यक्ति को रक्त चढाकर बचाया जा सकता है लेकिन रक्त न मिलने के कारण वह मर जाता है। इसलिए हमे इस तरह के महान व्यक्तियों की बातों को ध्यान मे रखकर छात्र जीवन से ही यह ध्येय बनाना चाहिए कि परोपकार हेतु रक्त दान की आदत डाले और इस पुनीत कार्य को करने में कभी न झिझके।

□□

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित **प्राइमरी शिक्षक** एक त्रैमासिक पत्रिका है।

इस पत्रिका का उद्देश्य केन्द्रीय सरकार की शिक्षा नीतियों से संबंधित आधिकारिक जानकारी को शिक्षकों और सम्बद्ध प्रशासकों तक पहुचाना है। इसका उद्देश्य कक्षा मे इस्तेमाल की जा सकने वाली सार्थक और सम्बद्ध सामग्री प्रदान करना भी है। भारत के विभिन्न केन्द्रों में चल रहे पाठ्यक्रमों और कार्यक्रमों आदि के बारे में समय-समय पर इसमें सूचनाएं प्रकाशित होती रहती हैं। शिक्षा-जगत में होने वाली हलचलों पर विचार-विमर्श करने के लिए यह एक मंच का काम भी करती है।

इस पत्रिका के प्रमुख स्तम्भ है :

(1) प्राथमिक शिक्षा से संबंधित शैक्षिक नीतियां।
(2) प्रश्न और उत्तर।
(3) राज्यों के शैक्षिक समाचार।
(4) कक्षा मे इस्तेमाल की जा सकने वाली सचित्र सामग्री।

स्कूल शिक्षको की रचनाएं प्रकाशनार्थ आमन्त्रित हैं। हर प्रकाशित रचना पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है। लेख हिन्दी या अंग्रेजी में कागज के एक ओर लिखा होना चाहिए। सुविधा के लिए कृपया टाइप की गई या साफ-साफ सुन्दर अक्षरों में लिखी रचना की दो प्रतियां भेजें।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016 के लिए
श्री र.ा. रामचन्द्रन, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा स्वतन्त्र भारत प्रेस, 423, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

Regd. No. 32427/76



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

inspiration-expiration ratio: a concept introduced by Störring (1906) for use in records of the rate of breathing and used by Benussi (1916) as a technique for lie detection. Woodworth (1938) recommended that the duration of inspiration be divided by the duration of the whole cycle, and that the ratio be referred to as the I-fraction.

instinct: often defined as a complex pattern of unconditioned reflexes or as an unlearned, inner drive to biologically purposeful action. This troublesome word was introduced into human psychology by Preyer (1881), and it received great impetus from James (1890). In psychoanalysis the concept is of major importance, instincts being the energy which causes tensions and drives to action. Freud wrote about the manner in which instincts are displayed, not of their actual nature.

insulin therapy: the method of shock treatment for certain mental disorders which was introduced by Sakel (*c.* 1927). He reported success with schizophrenics and morphine addicts, and his translated articles (1938) have attracted a great deal of attention in America.

integral phenomenology: the exploration of the inner life of the individual by means of personal document analysis, projective techniques, autobiographies, and similar methods.

integration: the organization of parts into wholes and the systematic arrangement of wholes in order of their importance. The concept as used in neurology refers to the coördination among receptors, connectors, and effectors. In mental hygiene, it connotes the well-organized personality.

intelligence: according to Thorndike (1903), a multitude of independent capacities, some of which are sampled by tests of intelligence; but, according to Spearman (1904),

a common capacity (or group of capacities) underlying, in greater or lesser amounts, specific activities. In 1909, Binet wrote that intelligence involves the ability to maintain a direction, adaptability, and auto-criticism. Subsequently, many other psychologists have proposed other definitions none of which has been completely accepted.

intelligence quotient: Stern's technique (1912) of dividing the mental age by the chronological age in order to have a convenient expression for the ratio of intelligence to actual age. Esquirol (1828) had a vague concept relating to the IQ, when he proposed a comparison of the learning ability of mental defectives with that of normal children at the same age-level.

intelligence test: an item or series of items designed to measure the higher intellectual capacities of a person. Binet and Simon (1905) published the first practicable measure of intelligence, and Goddard (1910) adapted it for use in America. The revision of the Binet Scale by Terman (1916) firmly established the use of intelligence tests in America. Tests are classified as individual or group measures; speed (time limits) and power; verbal and non-verbal (performance).

intensity: the attribute of a sensation according to which the individual classifies it as lighter-heavier, softer-louder, smoother-rougher, and the like (Titchener, 1896), though the sensations thus compared for intensity have the same quality (*e.g.*, weight, a musical note, textiles which are touched, etc.).

intentional act: voluntary behavior, as opposed to reflex response.

intentional forgetting: according to Freud, the repression of an unwelcome memory, and hence the inability con-

sciously to recall that which has been relegated to the unconscious.

intentionalism: Brentano's theory (1874) of the mental activity which brings the physical content into the focus of attention, the object thus being brought into the act.

interactionism: Descartes' theory (1650) that mind and body, though separate, interact, the one influencing the other. He located the place of this interaction in the pineal gland.

interest: any preference displayed when choices are offered. Strong (1927) developed a test for the measurement of interests by having the subjects choose among *like, indifference,* and *dislike* for each of 420 items, the weighted scores furnishing a basis for comparisons with persons who are successful in various occupations (chiefly in the professions).

interference: the negative transference of one function to another, as a result of which efficiency in the second is impaired. In associative interference, the exercise of a given function impedes the efficiency of learning in another function. In reproductive interference, the learning of one function impairs the efficiency of recall of another function.

interoceptor: receptor located in the viscera or elsewhere within the smooth musculature of the body. The vague pattern of interoceptive stimulation is the basis for much of what is called the feeling-tone (coenesthesis).

interpersonal relationships: the reciprocal influences which persons exert upon one another in primary (face-to-face) social groups.

interpolation: locating a point between two variables by the use of a specified procedure of statistics, as in locating centiles on the ogive curve.

introjection: a psychoanalytic mechanism connoting the process (or the result) of incorporating into the ego or the super-ego any object or person.

intromission: the insertion of the penis into the vagina.

introspection: the classical method of reflecting upon the nature of an experience for the purpose of analyzing it into its component elements. St. Augustine (396) is often referred to as the "father of psychological introspection." Baird (1913) developed the method of complete introspection, in which literally scores of pages of typescript were used to report observations of brief mental activities. Morbid introspection refers to the tendency to engage in unwholesome thinking about one's status.

introversion: Jung's term (1923) for an attitude-type characterized by a subjective point of view and a tendency to evaluate the environment with the self as the center of reference. Introversion is the antithesis of extraversion. The following function-types complicate the dichotomy: thinking, intuition, sensing, and feeling; hence there are eight possibilities for classifying any individual according to attitude-type and function-type. Freyd (1924) established a relationship between schizoid tendencies and introversion; hence much confusion has arisen about Jung's actual teachings. Freud used the term to denote the condition of being occupied with erotic phantasies which cannot be gratified in reality.

introversive: Rorschach's term (1922) for an individual who is oriented to living in a world of daydreams and who gives an excessive number of responses in terms of movement when tested by his inkblot technique .

inversion: the assumption of the role of a member of the opposite sex

inversion of affect: the psychoanalytic doctrine of ambiva-

lence of strong emotion, which states that, by the principle of polarities, an emotion such as love may suddenly turn to hate.

involution melancholia: a mental disorder associated with the physiological changes (especially the menopause in women) of late middle life, the common symptoms being depressed affects; hypochondria; nihilistic delusions; anxiety, often of the agitated type; and delusions of sinfulness. MacCurdy (1925) suggested that psychological factors (*e.g.*, realization of the immanence of death, feelings of frustration about accomplishments, narrowing of the range of interests) may be fully as important as the reduction of output of gonadal hormones.

intuition: the sudden achievement of a concept, without dependence upon the processes of reflective thinking (Bergson, 1911). Locke (1690) defined it as a knowledge gained by immediate, bare inspection of mental data; J. S. Mill (1843), as the axioms from which all other truths must be known.

involuntary action: that which is either reflexive or habitual, and hence performed without intent.

IQ: the intelligence quotient. (Also *I.Q.*)

iris: the pigmented circular membrane lying between the cornea and the lens of the eye. It includes two sets of musculature: the sphincter pupillae and the dilator (radial fibers) pupillae, which regulate the amount of light admitted into the eyeball.

irradiation: the spreading of excitation aroused by a stimulus (Pavlov, 1890). In the initial stages of the establishment of a conditioned reflex, any intense stimulus may elicit the response, but eventually the response can be elicited only by the stimulus consistently employed in the conditioning process. Hence, Pavlov stated, the irradi-

ation is gradually replaced by differentiation. Watson (1924) reported that a conditioned fear for a furry animal spread to a fear of other animals and furry objects.

irrational delusion: a false belief which lacks internal consistency and which is obviously inappropriate and illogical.

irresistible impulse: a term introduced by Weyer (1579) to denote acts, usually criminal in nature, performed by an individual who had no freedom of choice, but who was directed by pathological impulses and emotions.

irritability of protoplasm: the alterations induced by stimuli. Phylogenetically, this is the characteristic of protozoa from which the specialized sense organs have been developed in the evolutionary process.

irrumation: the act of obtaining an orgasm by the mouth; fellatio or penilingus.

island of Reil: the small convolutions at the base of the fissure of Sylvius in the cerebrum, described by Johann Christian Reil (1759–1813), a Dutch anatomist.

island, tonal: inability to hear certain sound frequencies.

isolation: a Freudian mechanism whereby the obsessional neurotic represses the tensions arising from affects and seeks gratification in intellectualism, hence failing to recognize the compensatory nature of the behavior. The mechanism was defined in 1936 (English translation), and it is generally overlooked by psychoanalysts.

Itard, Jean Marie Gaspard (1774?–1838): French physician who developed a system for the education of deaf children and who described a case of a so-called feral boy (1803).

item: the unit in a psychological test or measure.

J

Jacobi, Maximilian (1775–1858): French psychiatrist who emphasized need for knowledge of the brain, and who minimized the value of non-materialistic concepts, in the treatment of mental disorders.

Jacobs, J.: among the first to investigate the memory span (1887).

Jackson, John Hughlings (1834–1911): British physician who developed the theory that epileptic convulsions result from a sudden discharge of impulses in the gray matter of the cerebral cortex.

Jacksonian epilepsy: spasms affecting small groups of muscles, without accompanying loss of consciousness but with the possibility that severe convulsions are likely to develop later.

Jackson's law: pertains to the manner in which memory functions are affected in mentally disturbed persons, recollection for events immediately preceding the onset being lost first.

Jaeger-test: measure of visual acuity in which types of different sizes are read from a card held in normal reading-positions.

Jaensch, Erich R. (1883–   ): leader of the Marburg School (Germany), which has investigated eidetic images. V. Urbantschitsch (1907) had described images as clear as percepts, but Jaensch carried the studies further. He coined the term *eidetic* (from Greek for "extremely clear and vivid") to denote images, chiefly visual, which are frequently reported by children and only rarely by adults. Jaensch incurred some odium when he and his brother became "official Nazi psychologists."

Jaensch, Walther (1889-): identified eidetic types occurring on a constitutional basis. The basedowoid type (B) is analogous, in minute form, to a hyperfunctioning of the thyroid; and the tetanoid type (T) is analogous, in miniature, to a disease accompanying parathyroid dysfunction.

James, William (1842–1910): "dean of American psychologists"; only man, except G. S. Hall, to be elected twice president of the American Psychological Association; author of *Principles of Psychology* (published in 1890), the book which is said to mark the turning point in the history of modern psychology; author of one of the most important theories of emotion; among the first to start a psychological laboratory, his having been in a small room with meager equipment, at Harvard about 1874–1876; described the stream of consciousness; wrote many books bearing upon psychology, but later became interested in philosophy and developed pragmatism.

James-Lange theory of emotions: the view that perception of the situation arouses motor activity and that awareness of this physiological response is the emotion. James expounded the theory in 1884; the Danish psychologist, Carl Lange (1834–1900), described it in an article published in 1885. James insisted that the theory bear both names. It has inspired a great deal of research, particularly in the field of the physiology of emotions.

Janet, Pierre (1859-): French psychiatrist who investigated hysteria, developed the concept of dissociation, advanced techniques of environmental and suggestive therapeutics, and upheld the concept of psychic energy. In 1906, at the dedication of the new buildings of the Harvard Medical School, he gave important lectures on hysteria.

Janet's neurosis: psychasthenia, a disorder marked by obsessions, compulsions, fears, scruples, feelings of depersonalization, and the like. It is said, by Pierre Janet, to result from loss of psychic tonus or energy.

jargon: meaningless talk by low-grade mental defectives and some psychotics.

Jastrow, Joseph (1863–1945): one of the earliest American psychologists to take his doctorate here; specialist in psychophysics; did much to popularize scientific psychology; founded the first psychological laboratory opened at the University of Wisconsin (1886).

J-curve hypothesis: the general tendency of most persons to conform in institutionalized situations, with only a small number deviating. The amount of deviation may be roughly measured; and as the nonconformity becomes more extreme, fewer individuals are found. This hypothesis, based upon observations, was reported by Floyd Henry Allport, American psychologist, in 1932.

Jehovah complex: belief that one is omnipotent and omniscient.

Jena method: Karl Brauckmann's technique for teaching deaf children to speak, the procedure being for the children to feel lip movements and thus get kinesthetic concepts.

Jendrassik effect: exaggerated knee jerk when fingers are tensely interlaced.

Jennings, Herbert Spencer (1868–): American geneticist who, from studies of *drosophila melanogaster* (fruit fly), drew major conclusions regarding the mechanisms of heredity.

job analysis: study of each operation necessary to perform a given piece of work.

job specification: analysis of the type of person who should be employed to perform a given piece of work.

Johnny and Jimmy: twins used in a well-known study of relative effects of maturation and training (Myrtle McGraw, 1935).

Jolly reaction: abnormal fatigability of a muscle stimulated by constant faradic current, taken as one sign of possible myasthenia gravis or after-effects of encephalitis.

Jost's law: pertaining to the results of continued practice on material equally well learned at the outset, the practice being more effective for the older of two associations than for the more recently acquired.

journals: Wundt's *Philosophische Studien* (1882), in which he published many of his research reports, often referred to as the oldest psychological journal (1882). *Mind*, an English journal for philosophy and psychology, contains many of the early work of American psychologists (1876). The first American journal was founded by G. S. Hall, then of the Johns Hopkins University, and named the *American Journal of Psychology* (1887).

Judd, Charles H. (1873–1946): earned the doctorate under Wundt, succeeded E. W. Scripture in experimental psychology at Yale, and contributed much to educational psychology. He opposed E. L. Thorndike's explanation of transfer of training by identical elements and emphasized the possibility of transfer through generalization.

judgment: cognitive activity of bringing two ideas into an affirmation of similarity or difference, as in judging weights, lines, pictures, and the like. Judgment of just noticeable differences was explored by Weber and Fechner (*q. v.*)

Jung, Carl (1875-): leader of the Zurich school and one of Freud's earliest supporters. He is well-known for

his delineation of personality types, the concept of collective unconscious, and for founding a type of emphasis known as analytical psychology.

just noticeable difference: the minimum detectable difference between two stimuli. The least-noticeable-difference experiments were first reported by E. H. Weber in 1834.

juvenile: youth or adolescent.

juvenile delinquent: from the standpoint of psychology and sociology, a youth who has been brought before police officials or presented in court, the charges having been sustained by the evidence.

K

Kahlbaum, Karl Ludwig (1828–1899): German psychiatrist who introduced the following terms into the literature: catatonia, symptom complex, cyclothymia, verbigeration.

kaintophobia: fear of change.

Kallikaks: pseudonym (literally "good-bad") of a family traced to Martin K., a soldier in the Revolutionary army who had a child by a barmaid (presumably an ament) and later had children by a normal woman. Of 480 descendants traced to his illegitimate offspring, only 46 were normal; of 496 from the normal line, only 5 were abnormal. The case was published by Henry H. Goddard in 1914.

Kalmuk idiocy: mental deficiency in which there is a superficial resemblance to the facial features of the Mongols. The Kalmuks are a Tartar tribe.

Kant, Immanuel (1724–1804): German philosopher who held decided opinions about the field and the limitations of psychology. He upheld the nativistic (a priori) doctrine of space and time perception, and he declared that sensations can never be measured. He wrote that the mind synthesizes the various elements of experience into a whole which is far more than the sum of its parts (creative synthesis).

katabolism: tearing down of tissues; hence the opposite of anabolism. Usually spelled catabolism.

Keller, Helen (1880–   ): American woman who became blind and deaf at 18 months of age and was afterwards taught by Anne Sullivan. Joseph Jastrow reported a psychological study of this case in 1894.

Kelvin, William Thomson (Lord Kelvin) (1824–1907): British physicist whose apparatus was used in the earliest studies of the psychophysics of tone.

Kiesow, Federico (1858–1941): Italian psychologist born in Germany, best known for his work on sensory phenomena.

Koffka, Kurt (1886–1941): German (later an American) psychologist who, with Max Wertheimer and Wolfgang Köhler, was one of the original leaders in Gestalt psychology (1912), and who developed the insight theory of learning (1925).

Korsakoff's psychosis: type of mental disorder occurring in acute alcoholism, the symptoms being loss of immediate memory, disorientation, and glibness (presumably to cover up memory gaps).

Kraepelin, Emil (1856–1926): "father of modern psychiatry"; systematized and classified the field of mental disorders, introducing many terms and concepts. He defined manic-depressive psychosis and dementia praecox.

Krafft-Ebing, Rudolph (1840–1903): German psychiatrist who wrote on sex aberrations and whose views are frequently cited in courts of law. He established the relationship between general paralysis and syphilitic infection.

Krause, Wilhelm (1833–1910): German histologist who identified nerve endings in the skin which are known as the corpuscles of Krause.

Kretschmer, Ernst (1888–): German psychiatrist who maintains that morphological and personality types are essentially the same. He described the asthenic (long, lean) as schizoid; the pyknic (short, dumpy) as cycloid. (*Leptosome* is a synonym for *asthenic*.)

Kries, Johannes von: author of the duplicity theory of vision. He reported (1894) that rods respond to light-waves

stimulating achromatic or twilight vision and that cones respond to light-waves giving rise to daylight and chromatic vision.

Külpe, Oswald (1862–1916): leader of the Würzburg school, which advanced the theory of imageless thought (supported by R. S. Woodworth, American psychologist) and which developed introspective techniques for studying higher mental functions.

Kundt, A.: German physicist who developed the dust method for calculating tone frequencies (1866) and who made some minor studies of geometrical illusions (1863).

kurtosis: flatness of a curve as compared to the normal frequency curve.

kymograph: apparatus recording temporal sequences. The device usually consists of paper affixed to a revolving drum and a stylus at right angles to the drum.

L

labial: pertaining to the lips. Since the mouth plays an important part in the expression of emotions (Dunlap, 1927), the musculature is often mentioned: (upper lip) *levator labii superioris, zygomaticus minor, zygomaticus major, levator anguli oris*; (lower lip) *depressor labii inferioris, depressor anguli oris, levator menti.*

labile affects: unstable feelings, emotions, and moods, characterized by quick shifts from one extreme to the other.

labiograph: apparatus for recording lip movements in speech or in thinking (implicit speech behavior).

laboratory: a place wherein by means of controlled situations, often involving the use of apparatus, scientific experiments may be conducted. William James (about 1875) set up some apparatus for the use of his students in Harvard College. Wilhelm Wundt opened the first real psychological laboratory in the world at Leipzig in 1879. Granville Stanley Hall founded the first one in America (Johns Hopkins, 1883).

labyrinthine apparatus: the cavities of the inner ear, which include the vestibular apparatus, the semicircular canals, and the cochlea.

labyrinth: a maze, such as the Hampton Court pattern used in studies of human and animal learning. Edward Lee Thorndike (1898) is said to be the first to use mazes in the study of animal learning.

lacrimal: pertaining to the tear glands.

lactic acid: an important component of the acid-base balance of the body, reported by Rich (1928) to be abnormally high in excitable persons; activity produces an excess of

lactic acid. (The acid-base level is customarily measured by analyses of the urine or the saliva.)

lacuna: a gap, as in consciousness for past or present events. Presumably, a lacuna (or fugue) may be caused by drugs, mental conflicts, petit mal, inattention, or the like.

Ladd, George Trumbull (1842–1921): an American pioneer in the field of physiological psychology (1887) and one of the founders of functional psychology.

Ladd-Franklin, Christine (1847–1930): American psychologist known for a theory of color vision. According to the theory (1892), the primitive eye was responsive to light-waves for black and white; at the next evolutionary stage, for yellow and blue; and, finally, for red and green.

Laehr, Henrich (1820–1905): German psychiatrist who studied the effects of addiction to morphine.

lag: continuance of physiological activity in a receptor or in the brain after the cessation of the stimulus.

Laignel-Lavastine, Maxime (1875–): French psychiatrist.

laissez-faire: a minimum of governmental control. In the Lewin experiment on experimentally created "social climates" (1939), the term refers to group life without adult participation.

lalia: speech.

laliphobia: dread of the necessity of speaking by a person with a speech impediment.

lalling (lallation): meaningless repetition of sounds, as by an infant or a mental defective.

laloneurosis: a speech impediment caused by functional spasms of muscles in lips and tongue, as in fear, extreme self-consciousness, or the like.

lalopathy: any disorder of the speech functions.

laloplegia: speech disturbance resulting from a stroke. The muscles of the tongue are unaffected.

Lamarck, Jean Baptiste Pierre Antoine de (1744–1829): French naturalist who developed the theory that acquired traits are transmissible through biological heredity.

lamella: apparatus for producing deep tones. It is used in determining the lower limits for auditory sensations.

La Mettrie, Julien Offray de (1709–1751): French philosopher who upheld the doctrine of materialistic monism and who, therefore, denied the reality of mind.

Lange, Carl (1834–1900): Danish physiologist who (1885) developed a theory of emotions similar to that announced by William James (1884). The theory (said by Titchener, 1914, to have originated in the earlier writings of the French) upholds the view that the emotion is the awareness of physiological changes resulting from perception of a situation.

Langermann, Johann Gottfried (1768–1832): German psychiatrist who is said to have written the first doctoral thesis on psychiatry submitted to a German university and who contributed to psychotherapy.

Langley, John Newport (1852–1925): English physiologist who investigated the autonomic nervous system and who differentiated between voluntary and involuntary muscles.

lanugo hair: the soft, cotton-like hair of the mongoloid; also, the hair appearing on the fetus at about the fifth month.

lapsus calami: psychoanalytic term referring to the unconscious wish for a disaster.

lapsus linguae: a slip of the tongue in which the true (unconscious) meaning is revealed. Freud (1914, English translation) cited many examples.

lapsus memoriae: psychoanalytic term referring to unconscious, wishful distortion of recollections.

laryngograph: apparatus for recording movements of the larynx; hence used in experimental studies of the motor theory of consciousness.

latency period: Freudian term for the years between about five and twelve, when, presumably, the interests in sex are more or less dormant. The period begins with the repression of the Oedipus complex and ends with the onset of puberty. According to some analysts, the folktale of Snow White is a representation of the latency period.

latent content: Freud's term (1900) for the unconscious determinants or motivating factors of a dream. The latent content is discovered by an analysis of the manifest content.

lateropulsion: involuntary tendency to sway or walk to one side, as in the case of an individual with organic brain disorder.

law: statement of an observed uniformity to which there are few, if any, exceptions. In the biological and the social sciences there are few laws which can be affirmed with the certainty pertaining to those in the physical sciences.

Lawrence-Moon-Biedle syndrome: an inherited form of idiocy, often accompanied by webbed or supernumerary fingers and toes or with other malformations.

learning: a broad term referring to modifications of behavior as a result of experience. The theories most often mentioned are the following (*q. v.*): association; trial-and-error, conditioning; and insight.

Le Bon, Gustave (1841–1931): French social psychologist who developed the views of Tarde and who wrote on the psychology of the crowd.

Le Conte, John (1818–1891): American physicist who contributed to knowledge of vision.

Leber, Theodor (1840–1917): German ophthalmologist.

lecheur: pervert who applies mouth to genitals.

legal psychology: application of psychological principles to testimony, questioning of witness, determination of guilt, factors influencing judgment of the court, and the like. The field was established by Münsterberg (1916).

Leibniz, Gottfried Wilhelm von (1646–1716): German idealist who upheld the doctrine of pre-established harmony. According to this view, mind and body are discrete entities, causally unrelated, yet working together in harmonious concomitance.

lens: convex, transparent body lying posterior to the pupil and iris.

lenticular nucleus: an ovoid mass of gray matter in the corpus striatum. Degeneration causes Wilson's disease (1912), a syndrome marked by tremors, enfeeblement, irritability, and childish emotionalism.

Lepois, Charles (1563–1633): French physician who broke with the old tradition that hysteria occurs only among women (Hippocrates, 400 B.C.), and who denied that it is caused by the uterus.

leptokurtic distribution: a frequency curve with an abnormally high peak at the center.

leptosome: Kretschmer's term (1925, English translation) for a bodily build which is slender (asthenic) and which is associated with the schizothymic temperament.

Lesbian: female homosexual. The term comes from the name of the island of Lesbia, where Sappho lived.

lesion: an injury, structural change of pathological type, or wound to tissues.

lethomania: morbid craving for drugs.

libido: Freudian term for sexual energy. In the narrow sense, the term alludes to a drive for sex gratification; in a

broad sense, it connotes the instincts of the Id. According to Jung, it is synonymous with the sum-total of psychic energy.

lie detector: apparatus for measuring physiological changes which are concomitants of affective disturbances, presumably some of the changes being related to guilt. Marston, an American psychologist, was a pioneer in this field (1912).

Liébault, Ambroise-August (1823–1904): French physician of Nancy who made use of hypnosis (*mesmerism*) in psychotherapy.

life force: according to Bergson, the idealistic tendency in the entire universe, including the human mind, to evolve into newer, and higher, emergents. He suggested this doctrine as a corrective for the tendency of psychologists to pre-occupy themselves with analyses of mental states.

life instinct: Freud's term for the drives which are said to culminate in self-preservation activities and sex gratification. These drives or instincts act in opposition to the "death instinct"; hence the Eros-Thanatos polarity was discussed by Freud (1910).

life style: Adler's term (1917) for the manner in which the individual in striving to reach the goals of life and to adjust to the problems of occupation, love, and community living. Life style is not fixed by heredity, but the family influences are the principal determinants during early life.

light adaptation: a term introduced by Lohman (1906) to designate the adjustment of the eye to continued stimulation by bright light.

light-waves: energy which stimulates the rods and the cones, and hence which elicits visual sensations. Light-waves are measured either from successive crest to crest (or trough

to trough) or by height. They are either pure or mixed. Presumably (Titchener, 1897), mixed waves are concomitants of brightness differences; length, of hue. Titchener differentiated 32,280 separate color sensations or elements.

limen: threshold of awareness. A stimulus below or above the limen arouses no awareness or sensation. Thus, the determination of the limen for various sense modalities is a classical problem in psychophysics.

limit: the point beyond which further practice or training effects no improvement in a given function. The limit of achievement in simple neuromuscular activities (rate-of-manipulation tests and the like) and athletic performances is far more readily determined than is the limit for learning a complex function, though apparently there is a limit to all functions.

linear perspective: the diminished size or separation of distant objects. This illusion is employed by artists in obtaining the depth effect, and it is illustrated by the apparent convergence of railroad tracks in the distance.

lingam: the penis.

Linnaeus, Carolus (1717–1778): Swedish botanist who developed a classification of odors (1752): aromatic, fragrant, ambrosiac, alliaceous (fishy, like garlic), hircine (cheese-like), foul, and nauseous. This was the first of many attempts to classify the olfactory sensations.

Lipps, Theodor (1851–1914): German who did much to advance act psychology, and who introduced the concept of empathy.

literary psychology: the use of psychological theories (and fancies) in the delineation of characters, the explanation of motives, and the fabrication of plots.

Little's disease: congenital spastic cerebral paralysis; named

for William John Little (1810–1894), an English physician.

local sign: Lotze's term (1852) for the manner in which, supposedly, the individual perceives spatial relations. A number of different local signs are used as cues in the interpretation of relationships among parts of the stimulus pattern. Thus, through experience (though the mind has a natural tendency in this direction), space perceptions are developed.

localization of function: the doctrine that each function is identified with a definite part of the brain. At the present time, there is a tendency not to designate precise and minute areas as the "centers" for detailed and specific functions. Flourens (1824–1825) advanced the notion (now given credence) that, though functions are broadly located, there are not minute "centers" for diverse and specific activities. Broca's discovery of a speech center (1831) had led neurologists on the search for centers for other precise functions.

Locke, John (1632–1704): British philosopher who upheld empiricism (as opposed to nativism), differentiated between primary and secondary qualities (only the primary qualities having an existence outside the mind), and, in the *Essay*, anticipated the doctrine of the conditioned response. He originated the phrase "association of ideas" (1690).

locomotor ataxia: a condition resulting from lesions in the posterior columns of the spinal cord, with such concomitants as intense pains, girdle-sensation, sensory abnormalities, loss of knee-jerk, and general incoördination of muscular activity.

Loeb, Jacques (1859–1924): German (later American) biologist who developed the theory of tropism and who

defended the materialistic (as opposed to the vitalistic) point of view in biology.

logical thinking: mental activity directed according to the canons of logic; hence subject to reality-testing, verification, experimental proof, and the like. Logical (or reflective) thinking is sometimes contrasted with creative thinking and autistic thinking. According to Dewey (1910), logical thinking is a trial-and-error process in which mental manipulation takes the place of overt random movements and in which the goal (solution of a difficulty) is constantly kept in mind.

logokophasia: a form of aphasia in which spoken language cannot be understood.

logology: Stumpf's term for the study of relationships among ideas.

logomania: ceaseless talk by psychotic or psychoneurotic individuals.

longoneurosis: a psychoneurotic condition characterized by a functional speech disorder.

logopathy: any form of dysfunction in motor speech.

logorrhea: incessant talking; usually in the sense that the speech is repetitious and full of circumlocutions but not incoherent.

logospasm: convulsive lip movements when speaking. Thus, the speech is enunciated in an explosive manner.

Lombroso, Cesare (1836–1909): Italian physician and criminologist who developed the opinion that criminals are characterized by morphological stigmata. He also defended the thesis that over-development of a capacity (art, literature, music, etc.) is accompanied by a tendency towards instability and degeneration, a view known as the degeneracy theory of genius.

Lotze, Rudolf Hermann (1817–1881): German philosopher

who developed an empirical theory of space perception. Strain in eye muscles, for instance, is the local sign for depth. Variations in thickness of skin tissues are the local signs for touch localizations. Opposing the teachings of Johannes Müller about innate signs, Lotze upheld the view that these cues are learned in experience. (See *empiricism, nativism.*)

loudness: the intensity of sound. (Not to be confused with *volume* or *pitch.*)

Lubbock, John (1834–1913): British naturalist who wrote about communal life among ants, bees, and wasps (1882) and used the concept of instinct to account for the complexities of their behavior; first to use the maze method.

lues: syphilis.

luminosity: brightness of colors.

Lunacy Act: an act passed by the English Parliament in 1890 consolidating previous legislation and protecting the rights of mentally ill persons. The Act was amended in 1891, and served as a model for enlightened and humanitarian care of the demented for many years.

lunatic: at one time, a popular term applied to the psychotic. Institutions for the care of mental patients were known as lunatic asylums. It was supposed that the moon exerted an abnormal influence upon them and caused their irrational behavior.

luster: as defined by Wundt (1873–1874), the visual experience when irregularities or reflections in the surface of an object cause it to appear somewhat indistinct.

lycanthropy: (1) the delusion that one has been transformed into an animal (such as a wolf); (2) the folk-belief that certain persons have the ability to turn themselves into animals. (This superstition about the werewolf is found all over the world.)

lypemania: profound melancholia together with total loss of desire to take nourishment. Esquirol introduced the term in 1838.

lypothymia: extreme melancholia caused by disappointment, grief, or organic pathology.

M

M: Rorschach's symbol (1922) for responses the content of which are human figures perceived in the inkblots of the Rorschach test.

M: symbol used by American (and other English-speaking Rorschach workers) to denote responses the determinant of which is perception of movement by human beings. (Rorschach Inkblot Test.)

m: Rorschach symbol introduced by Klopfer (1942), to designate responses to the Rorschach Inkblots, the determinant of which is perception of inanimate objects or forces in motion.

Macewen's sign: hollow sound when, in the neurological examination, the skull is explored by percussion. It is a possible indication of internal hydrocephaly.

Mach, Ernst (1838–1916): Austrian physicist, physiologist, and epistemologist who investigated the functions of the semi-circular canals and who formulated a type of structuralism as his systematic point of view in psychology.

machlaenomania: masochism (in a female); sexual perversion in which pleasure is afforded by pain.

machlosyne: nymphomaniac, a woman with inordinate sex desires.

macrocephaly: abnormally large head, with associated mental deficiency. In macrocephaly (as distinguished from hydrocephaly) the skull does not bulge in lateral aspects or forehead. The brain may weigh as much as 2800 grams.

macrocheilia: abnormally large lips, which are usually everted.

macrocosm: the universe as a whole; hence contrasted with the theory that man is the center of reference in all nature.

macrodactylism: abnormally large fingers and/or toes.

macroesthesia: a neurological disorder in which objects placed in the patient's hand are sensed as being abnormally large.

macroglossia: abnormally large tongue, which may impede clear speech. The condition occurs in mongoloid mental deficiency.

macrognathia: unusually large jaw. It is found in acromegaly.

macrographia: unusually large handwriting, as in the florid style of some types of psychoneuroses and psychoses.

macropodia: unusually large feet, about which the individual might be hypersensitive.

macropsia: a disorder of vision in which objects seem to be magnified.

macrosoma: unusually large or elongated trunk.

macrosplanchnic build: a bodily build in which the trunk is disproportionately large and the legs and arms are relatively short.

macula acusticae: endings of the portion of the auditory nerve extending to the utricle and the saccule.

macula lutea: the yellow spot on the retina, which is the point of clearest visual acuity.

macular fibers: nerve fibers forming the central core of the optic nerve.

Magendie, François (1783–1855): French physiologist who discovered (1822) that anterior nerve-roots of the spinal cord are motor; the posterior, sensory. Bell, an English physiologist, had discovered this fact in 1807. Since there still remains some uncertainty about priority of the dis-

covery, the reference is usually made to the Bell-Magendie law.

magic: belief in, or practice of, the accomplishment of certain outcomes which transcend the normal limits of human capabilities. It is the antithesis of scientific procedures or of valid reflective thinking.

magical use of language: the "Open-Sesame" type of speech behavior in which the individual implies a superstitious belief that language can affect the course of natural phenomena. Folklore about "rain-makers" and "pow-wow healers" implies a belief in the so-called magical powers of words.

Magnan, Valentin (1835–1916): French neurologist who studied the effects of addiction to cocaine.

Magnan's sign: the hallucination that ovoid bodies lie under the skin or that "cocaine bugs" are crawling on the body of the drug addict. It is a cutaneous paresthesia induced by pathological stimulation of the sensory nerve endings in the skin as a result of cocainism.

Magnan's tongue: spasmodic protrusions of the tongue in paresis.

magnetism, animal: Mesmer's term for a mysterious type of energy which he claimed to be able to use in healing illnesses. By 1766, knowledge of electricity, magnetism, and nerve impulses was beginning to attract popular interest; and Mesmer extended this popular knowledge to cover his allegedly supernormal endowment.

magnitude: a judgment regarding intensity differences between two or more sensations or perceptions. One of the classical experiments in psychophysics (Weber, 1834) deals with the determination of the least difference magnitude between pairs of weights.

Magnus, Heinrich Gustav (1802–1870): German physicist

who taught Helmholtz and whom Helmholtz succeeded at Berlin (1871).

maieusiomania: psychosis accompanying or immediately following childbirth.

maintenance functions: various bodily functions like respiration, digestion, elimination, and the like, which (Cannon, 1932) preserve a measure of physiological equilibrium in the living organism. Homeostasis, according to Cannon, subsumes all functions which pertain to the maintenance of relatively unchanging states of equilibrium in the body.

major psychosis: one of the serious mental disorders. The older textbooks in psychiatry list scores of psychoses under various diagnostic schemata. The modern trend is to emphasize the etiological and the therapeutic factors rather than nosological systems.

make-believe: the phantasies of young children. A make-believe playmate is not uncommon among bright children of pre-school age. Healy suggests that highly imaginative, improbable fiction and make-believe play of children may be related (1915).

maladjustment: any mild disturbance of the personality in which there is difficulty in securing a satisfactory adjustment to the environment, particularly to other persons. Maladjustments cause conflicts, which, most writers emphasize, nearly always have a social reference. Consequently, major maladjustments arise from impossible demands which society imposes upon the individual. The term is used in a paradoxical sense to cover all attempts to reduce tensions. Thus, whether a behavior pattern be adjustive or maladjustive depends upon the manner in which it is evaluated.

malaria therapy: treatment of certain disorders (especially paresis) by malaria fever. This form of therapy was in-

troduced by Wagner-Jauregg in 1887 and first tried on a human patient in 1917.

Malebranch, Nicolas de (1638–1715): French philosopher who upheld the doctrine of occasionalism as the solution of the body-mind problem. Occasionalism is the theory that, although mind and body are completely different and independent, God occasionally intervenes to have them influence each other.

malformation: any type of abnormal growth or development in any part of the body.

malleus: the outermost ossicle of the middle ear. The handle is attached to the tympanum and the head is articulated with the incus. The bone gets its name from a fancied resemblance to a hammer.

malnutrition: a condition of insufficiency of energy-producing substances in the food, though the amount of in-take may surfeit hunger pangs. Pressey (1933) reports evidence to indicate that malnutrition has a deleterious effect upon the quality of school work. Patent medicine advertisements have made many people take a great interest in real or imagined dietary deficiencies.

Malpighi, Marcello (1628–1694): Italian anatomist and physiologist.

Malthus, Thomas Robert (1776–1834): English political economist who predicted that increases in population would always outstrip food supply. Darwin was greatly impressed by his discussion, and he based his principle of natural selection upon ideas gained from reading of Malthus.

mammalia: any vertebrates that suckle their young.

man-to-man scale: the first rating scale to be applied to large groups of persons. It was devised by W. D. Scott in 1917 for use in the United States Army. It was designed to

obtain objective ratings of officers on the following traits: physical qualities, intelligence, leadership, personal qualities, and general value to the service. This scale was found to be cumbersome and unsatisfactory.

mana: Polynesian word connoting a vague, impersonal, quasi-mechanical force controlling destiny. Belief in luck, charms, and the like, are said to be the counterpart of Polynesian mana.

mania: psychosis in which frenzied excitement is the most obvious symptom. Aretaeus (*c.* 30–90) defined many of the manias, and he made the shrewd observation that spontaneous remissions are usually followed by relapses. The term was at one time used to cover many specific disorders, such as dipsomania (morbid craving for alcohol), monomania (obsessions or fixed ideas pertaining to one topic), arithmomania (obsessive counting), and so on.

manic-depressive psychosis: cyclic periods of elation and depression Kraepelin, 1899). Baillarger had previously defined the disorder (1851) as *folie à double form.* It is an affective disorder in which the following gradations have been defined: hypomania, acute mania, hyperacute mania, simple retardation, melancholia, and stuporous melancholia. In the manic type, excitement and flight of ideas are common symptoms; in the depressed form, despondency and retardation of movement. When the affects shift from one extreme to the other, it is referred to as the circular type. The nosological pattern includes various clinical pictures, such as unproductive mania, agitated depression, mixed types, and the like.

manipulation test: a set of materials to be assembled or arranged in a given pattern, the score being based on time and/or freedom from mistakes. The Minnesota Rate of

Manipulation Test (1930) is a widely known example of this type of measure.

mannerisms: (1) individualistic and differentiating patterns of behavior whereby one person's "style" is distinguished from another's; (2) stereotyped postures and gestures of catatonic schizophrenics.

Marbe, Karl (1869-): German psychologist of the Würzburg school who made experimental studies of judgment and of other higher mental processes.

Marey tambour: apparatus for recording sequential changes, whereby a stylus is moved on a smoked paper (*kymograph*) as a result of air puffs in the device.

Marie, Pierre (1853–1929): French physician who defined acromegaly. This is the result of a pituitary disorder and is characterized by abnormally large hands, feet, jaw, and trunk.

marihuana: widely used derivative of *cannabis indica* which, mixed with cigarette tobacco, soaked in various solutions, sprinkled with grains of nutmeg, or prepared in other ways, is smoked. Popularly called "reefers," the drug is said to distort judgments of temporal intervals, to lessen self-criticism and inhibitions, and (by some) to enhance sex potency.

Mariotte, Edme (1620–1684): French physicist who discovered the existence of the blind spot in the retina. This is the point where the optic nerve and the blood vessels emerge, and where there are no rods or cones. It is sometimes referred to as Mariotte's blind spot.

Maskelyne, Nevil (1739–1811): English astronomer who dismissed his assistant, Kinnebrook, in 1796 because of a difference in recording times. Bessel, a German astronomer, read an account of the dismissal, and then under-

took research which led to the discovery of the personal equation in scientific work.

masking of odors: the cancellation of one odor by another. Thus, Peruvian balsam masks the odor of iodoform.

masochism: erotic gratification in being beaten. The term was taken (by Freud) from part of the name of Luther von Sacher-Masoch (1835–1895), an Austrian novelist who used this theme in his stories. Masochism may be actual (implying the use of whips or other means of inflicting physical pain) or symbolic (finding reasons to revel in self-pity).

mass action: Coghill's term (1929) to denote the behavior of larval *Amblystoma*, which, he observed, respond in unitary fashion. Thus, behavior is not built up additively, but specific patterns of response are emergents (by individuation) from the primitive mass actions of the organism.

Masson disk: a white disk upon which lines drawn from center to periphery appear darkest at the center and least dark at the periphery when it is rotated. The disk was designed by Masson for experiments on visual phenomena (1845) and used in experiments by Helmholtz (1860).

materialism: the doctrine that matter is the sole reality. Democritus (*c.* 460–370 B.C.) was one of the outstanding Greek materialists, and many philosophers in subsequent ages have defended, and amplified, this point of view. Psychological materialism denies the existence of mind and accounts for all psychological processes in terms of other natural sciences.

maze: apparatus consisting of pathways and blind-alleys through which the organism must discover a way to the goal. It is frequently used in studies of human and animal learning. The data from maze-learning experiments have

been cited as evidence for the trial-and-error (Lloyd Morgan's term) theory of learning (especially by Thorndike, 1913-1914).

McDougall, William (1871-1938): English (later American) psychologist who wrote an influential treatise on social psychology (1908), developed a point of view which is called Hormic Psychology, vigorously opposed Behaviorism, and upheld certain animistic and vitalistic concepts in psychology. Hormic Psychology emphasizes the concept of purposive striving toward ends (teleology). He was one of the leading proponents of the doctrine of instincts (or propensities) in recent psychology.

McNaughton case: the record of a man who attempted to shoot Sir Robert Peel and who killed his secretary, the defense attorney offering a plea of insanity. The court gave a ruling that the accused must have been unaware of the difference between right and wrong and that he must not have known of the nature and quality of his act, if this plea were to be allowed. The ruling has been cited in many subsequent cases.

mean: the sum of the scores divided by the number of cases (arithmetic mean). It is one of the most commonly used measures of central tendency in a frequency distribution of scores.

meaning: the interpretation of sensory data (perception). Many factors (such as past experiences and mental sets) determine the meanings which are given to situations. Mentally disturbed persons are said to assign private meanings (those untested by reality) to situations confronting them.

measurement: the application of temporal or spatial units to psychological events or functions. Fechner (1860) was the most important pioneer in the application of tech-

niques of physical measurement to stimulus magnitude. Since his day there has been an increasing emphasis upon measurement in psychology.

meatus: canal or passageway.

mechanical ability: proficiency in manipulating form-boards, various devices, work-samples, and the like. Tests of mechanical ability often include measures of speed of work, accuracy or precision, hand-eye coördinations, manual dexterity, and structural visualization.

mechanical aptitude: measurements, such as the Stenquist (1923) or the Minnesota tests (1930), which serve as a basis for predicting the degree of competence which a person is likely to attain following a course of training in mechanical work on the simpler levels.

mechanical intelligence: concrete, practical ability to deal with tangible materials, such as various articles to be assembled or with tools. By some psychologists, distinctions are drawn among mechanical, linguistic, and social intelligence.

mechanism: the habitual mode of response whereby a person achieves a measure of satisfaction for a thwarted motive. Compensation, direct or indirect; projection; rationalization; and condensation are examples of mechanisms.

median: the 50th %-ile, or the point on the frequency distribution of scores which divides them exactly in half.

medulla: (1) the central part of an organ, as distinguished from the cortex; (2) any tissues which (like fascia or marrow) fill certain cavities; (3) marrow.

medulla oblongata: that part of the brain stem which lies between the pons and the spinal cord. In appearance it resembles a truncated cone.

medullated nerve fibers: those which are covered with the white substance of Schwann, which is the sheath cover-

ing the bulk of peripheral nerves and the tracts in the cerebro-spinal axis. Fibers of the autonomic nervous system are not medullated or sheathed.

megalencephaly: large headedness.

megalomania: obsessive and unwarranted good opinion of one's self.

megalopsia: visual abnormality in which objects appear to be magnified.

Meinong, Alexius (1853–1920): Austrian philosopher-psychologist who was prominent in Act Psychology and who described form-qualities.

Meissner, Georg (1829–1903): German histologist who discovered receptor-corpuscles in the skin on the fingers, the palms, and the soles of the feet.

melancholia: depression of affects. According to the classical doctrine of humors (attributed to Galen, 130–200), this condition is the result of an excess amount of black bile. (Some attribute the doctrine to Hippocrates, 460–377? B.C.)

meliorative mental hygiene: the positive emphasis upon development of a wholesome personality, without the necessity for defining the ideal adjustment. Instead of centering attention upon prevention or correction of abnormalities, it is concerned with all measures which effect progressive and continuous improvements in the personality and in society.

memory: behavior appropriate to a situation not objectively present. Memory is described as the activity of bringing past experience to bear upon a present situation. Woodworth (1923) analyzed the function into the following: learning, retaining, recalling or recognizing.

memory, rote: reproduction of learned material in which the factor of meaning is disregarded.

memory, logical: the repetition of the meaningful substance of material that has been learned.

memory color: inexact perception of the color of an object because of some former experience, usually a recent one.

memory drum: apparatus devised (E. G. Müller and F. Schumann, 1894) whereby, on a revolving drum, material to be memorized can be exposed for brief intervals as it passes by a window in a screen.

memory span: the amount that can be reproduced accurately after one impression (Jacobs, 1887).

menarche: the age of the onset of menstruation.

Mendel, Gregor Johann (1822–1884): Austrian naturalist who discovered major facts about the mechanisms of inheritance. He presented his paper in 1865, but the import of his discoveries was not realized until De Vries, Correns, and Tschermak called them to the attention of the scientific world about sixteen years after his death.

meninges: membranes of brain and cord. The outermost covering is the dura; the middle, the pia; and the innermost, the arachnoid. The leptomeninx includes the pia and the arachnoid.

meningitis: inflammation of the membranes of brain or cord, sometimes with accompanying symptoms of mental impairment.

menopause: cessation of menstruation, sometimes accompanied by involution melancholia (defined by Kraepelin, 1899).

mens: mind. Mental; pertaining to the mind.

mental activity: any function pertaining to the mind, such as awareness, perception, imagination, reasoning, and the like. Act Psychology, as expounded by some writers (*e.g.*, Woodworth, 1923) treats the nouns of psychology

as verbals and the adjectives as adverbials, thus emphasizing the dynamics of behavior.

mental age: (1) ability to acquire knowledge as readily as can other persons of the same chronological age (Esquirol, 1838); (2) mental development measured by comparisons with performances of average persons at various levels of chronological development. An American psychiatrist, testifying in a trial held in 1848, said that the accused "in point of knowledge is equal to a child of 3 years" and thereby introduced the concept into law. Binet (1905) established the concept in psychology.

mental chemistry: the term used by John Stuart Mill (1869) to denote the process whereby sensory elements are fused into unions which are more than the sum of the parts out of which they are built.

mental conflict: the simultaneous arousal of incompatible motives, drives, or wishes.

mental deficiency: inadequacy of intelligence or learning capacity. Esquirol (1838) presented one of the earliest definitions in terms of gradations: (a) those capable of merely uttering cries; (b) those who can utter monosyllables; (c) those using short phrases; (d) those who are normal. Many definitions and gradations have been proposed, most of them centering about one or more of the following criteria: capacity to learn the curriculum; economic status; obedience to laws; community adjustments; and moral responsibility. Psychometric and sociological definitions are not always in full agreement.

mental hygiene: measures which (a) serve to alleviate the conditon of persons with psychoses; (b) those which are designed to prevent the occurrence of mental disorders; and (c) the application of all principles which are thought to promote achievement and maintenance of a

wholesome personality. Clifford Beers (1876–1943) organized the National Committee for Mental Hygiene in 1908.

mental image: Galton's term (1883) for "mental pictures that may be scrutinized with nearly as much ease and prolonged attention as if they were real objects." The term also refers to mental content appropriate to the result as if a sense organ were actually stimulated. Galton investigated the degrees of vividness of mental imagery in the visual modality.

mental set: (1) readiness (because of past experiences or present activities) to respond in a given manner to a stimulus; (2) according to the Washburn motor theory of consciousness (1916), implicit or subdued muscular adjustments which are in progress when the stimulus occurs, even though conscious, deliberate thought may be centered upon other responses. Mental set is a figurative term (as compared to the *set* of a sprinter on the mark) and it subsumes complex phenomena.

mentalism: the emphasis upon psychological events or states that are explored by introspection, as opposed to behaviorism.

Mesmer, Franz Anton (1734–1815): Austrian physician who claimed to have the ability to "magnetize" his patients and thus cure their afflictions. When he was in Paris, a committee reported (1784) that his cures were effected by "imagination." Charles Poyen, a Frenchman who had studied under Mesmer, gave demonstrations in the United States before the Civil War and aroused a great deal of popular interest in the phenomena of mesmerism.

mesocephalon: the large mass of nerve fibers which lie at the base of the brain in front of the medulla oblongata. The structure includes gray matter as well as fibers which

are connected with the medulla, the cerebellum, and the cerebrum.

mesoderm: the middle layer of the embryo, from which the following tissues are developed: glands of generation, kidneys, and the skeletal and the vascular systems.

mesomorphy: Sheldon's term (1940) for the constitutional type in which connective tissues, bones, and muscles predominate over digestive viscera and nervous tissues. Sheldon believes that temperament and constitutional type are very closely related, and he states that the somatotonic temperament is found in an individual who is predominantly mesomorphic.

mesoretina: the layer of the retina which contains the rods and the cones.

Messer, August (1867–): German psychologist who conducted experimental investigations of thought and who developed a systematic point of view whereby the Act and the Content Psychologies were reconciled.

metapsychology: depth psychology as systematically formulated by psychoanalysts.

metazoon: any organism with two or more cells; hence all animals that are not protozoa.

Meumann, Ernst (1862–1915): German psychologist who made important experimental studies of memory.

Meyer, Adolf (1866–): American psychiatrist (born in Zurich) who introduced many concepts into the field and who developed a point of view called psychobiology. He is often called the dean of American psychiatry.

microcephaly: abnormally small head, with associated mental deficiency. The head has a cone-like appearance (oxycephalia), and the forehead and the chin have a marked recession. The brain is reported to weigh as little

as 170 grams (the normal weight being 1375 for males and 1240 for females). Tredgold (1929) is among those who defined this condition.

micropsia: a visual pathology in which objects seem to be very small. Southard (1912–1913) is of the opinion that these phenomena are the artifacts of unintentional suggestions given by the examiner. Inman explains the condition in terms of psychoanalytic theory (1938).

Mill, James (1773–1836): Scotch philosopher and historian who (1829) wrote the culminating presentation of associationism, which he described, not as the result of forces or mental chemistry, but as the operation of mechanical principles. He carried out a system of education for his brilliant son.

Mill, John Stuart (1806–1873): the son of James Mill who developed the principles of associationism and introduced the concept of mental chemistry. He believed that sensory elements fuse or combine to form new patterns which are more than the substance of their parts. He was a precocious child, and is often cited as a remarkable case of extreme brilliance.

mind-body problem: the controversy about the nature of mind and/or body and their interrelationships. Materialism denies the existence of mind; subjective idealism upholds the view that mind is the only reality; dualistic theories assume the existence of both mind and body. Among the influential theories of dualism, the following have influenced the course of psychology: interactionism and psychophysical parallelism.

mind-twist hypothesis: Southard's arrestive term (1922) for the theory which states that psychogenic factors may cause more or less grave mental disorders. This is the psychogenic theory, as opposed to the somatogenic (brain-

spot hypothesis) view, which states that all disorders are the result of organic pathologies.

Minkowski, Oscar (1858–1931): German physician who reported upon experimental studies of the human fetus.

mirror-writing: strephographia, a form of writing in which the characters are reversed and which can be read by holding the page before a mirror. It is assumed to be a neurological difficulty which indicates the need for special education before the habits become firmly established.

misanthropy: aversion to other persons as a result of unhappy experiences in making social adjustments.

Mises, Dr.: the pseudonym under which Gustav Fechner wrote articles dealing with philosophical and occult topics.

misopedia: neurotic dislike for one's own children, usually because they necessitate care or reveal the ages of their parents.

misopsychia: generalized disgust with life, but without accompanying thoughts of suicide.

Mitchell, Silas Weir (1830–1914): American psychiatrist who developed a type of psychotherapy in which the patient is placed in isolation and under complete silence.

mnemonic device: a scheme for facilitating the process of learning and recalling unrelated items by organizing them into an artificial relationship. The familiar device for recalling how many days there are in the various months of the year is an example.

mnemonics: the procedure (based upon false analogy) whereby the memory is strengthened by certain exercises (just as muscles are developed by exercise).

mode: the score or interval which in the frequency distribution has the highest frequency.

monaural: pertaining to a single ear. The opposite of binaural.

mongolism: a form of mental deficiency in which the eyes are slit-like and slope upwards; the tonge is large (macroglossia)and transversely fissured; the hair is sparse and dry (lanugo hair) ; and the skull small and rounded. The condition is thought by some to be attributable to defective ova, though other hypotheses have been proposed.

monoblepsia: capacity to sense but a single color.

monochromatism: same as monoblepsia.

monocular: pertaining to vision using a single eye; a disorder affecting but one eye.

monomania: Esquirol's term (1838) for a mental disorder in which one set of ideas or motives predominates over all others. Zilboorg (1941) states that Esquirol's monomanias were the forerunner of what today are called schizophrenic reactions.

monophasia: a type of speech pathology in which utterance is reduced to a single word or sound.

monoplegia: paralysis which affects a single group of muscles or a single limb.

monotonia: a pathology of the voice which results from paralysis of laryngeal muscles and in which inflections are consequently absent.

monism: the view that all reality is reducible to a single ultimate, such as matter or mind. Dualism and pluralism are differentiated from monism by the fact that they postulate two or more ultimate realities.

Moniz, Egas: the Portuguese neurosurgeon who introduced the technique of prefrontal leucotomy (lobectomy) for the treatment of certain mental disorders. He performed the first successful operation of this type in 1931. Fibers

in the frontal lobes are cut, and as a result some psychotic symptoms disappear or improve.

moral defective: a concept introduced by J. C. Pritchard (1786–1848) to designate an individual with non-social, perverse inclinations and with a total disregard for the rights of others (1835). Moral imbecility and moral insanity were at one time standard concepts in psychiatry.

morale: zest for living; enthusiastic devotion to group endeavor. Positive or meliorative mental hygiene emphasizes measures which improve morale.

moralistic attitude: the attitude in counseling which results in condemnations of certain types of behavior and which is, therefore, out of harmony with the rationale of lay therapy. Understanding the causes for the symptoms is considered to be a preferable approach in psychotherapy.

Morel, B. A. (1809–1873): French psychiatrist who believed that mental disorders are the results of hereditary processes of degeneration and that the stigmata are clearly evident in the patient; described *démence précoce* (1860).

mores: Sumner's term (1907) for the ethical sanctions and taboos which are commonly enforced by religious or magical rituals and upon the observance of which group welfare is thought to depend. They are the moral code of the individual and of his group. Folkways are susceptible to change, and they do not pertain so closely to the code of morals.

Morgan, Conway Lloyd (1852–1936): British psychologist who was a pioneer in animal psychology, who developed the trial-and-error theory of learning, and who rejected the anecdotal method in studies of animal behavior.

Morgan's canon: C. Lloyd Morgan's axiom to the effect that the simplest explanation of all known facts is the best hvpothesis or theory. It is a restatement of the principle

expounded by William of Occam (*c.* 1325) and known as Occam's razor.

moron: the mental defective whose intelligence is above that of an imbecile but below that of borderline defective. The mental age of the moron is usually considered to lie between seven and twelve years of age.

mother-surrogate: a woman who represents the man's mother and who, therefore, revives the Oedipus situation. A social institution or one's country may serve as a mother-surrogate, and hence be the recipient of filial love, according to analysts.

motility: capacity to move freely.

motive: a goad to action; usually restricted to a more or less well-verbalized drive to behavior. The term is used in many senses, and theories of motivation are at wide variance with one another. A motive is not an observable entity, but an inference or hypothetical construct whereby to account for behavior.

motor nerve: a nerve fiber which transmits the nervous impulse to a muscle or gland. Charles Bell (1807) is usually given credit for having first discovered the distinction between motor and sensory nerves, though Magendie (1816) announced the same discovery.

motor theory of consciousness: the theory that consciousness (awareness) is the result of more or less implicit muscular activity, and not a psychic (non-physiological) function. M. F. Washburn published this view in 1926 The oldest objective theory upheld the view that consciousness is a concomitant of brain physiology, and the motor theory presents the view that peripheral factors are basic. Jacobson (1932) has reported on the electrophysiology of mental activities and offered supportive evidence for the theory.

Müller, Georg Elias (1850–1934) : German experimentalist who developed the concept of perseveration tendencies and who directed one of the most important psychological laboratories (Göttingen). He is sometimes referred to as the first experimental psychologist (in the sense that experimental investigations were his sole concern, whereas Wundt was a systematist as well as an experimenter).

Müller, Johannes (1801–1858): German physiologist who developed the doctrine of the specific energy of nerve fibers and who made many contributions to physiological psychology, especially sensation and sense-physiology. The doctrine of specific energy of nerve fibers states that each nerve (or neuron) transmits a different form of nervous energy, and hence different sensations are thus explained.

Müller-Lyer illusion: the best known optical illusion (1889). Two straight lines appear to be unequal in length because of "arrow-heads" on the one and "arrow-feathers" on the other.

multiple causation: many diverse factors, not a single cause, lie at the basis of a psychoneurosis or a psychosis.

multiple correlation: a statistical technique whereby the relationships among three or more sets of variables may be determined. The elementary concepts underlying various statistical procedures in correlation were described by Galton (1885–1886).

multiple fiber theory: the view that intensity differences in sensation are the result of the number of nerve fibers which are stimulated. The greater the intensity of a sensation, the more fibers stimulated in the nerve (or nerves). The theory has been attributed to Volkmann (1863).

multiple personality: two or more diverse personalities in the same body. Ellicott (1815) published one of the first scientific accounts of a case, and Poe ("William Wilson") was the first to make literary use of the phenomenon. About 76 cases have been cited in the literature. The Beauchamp case, described by Morton Prince (1905), is one of the best known accounts.

Munsell system: a procedure for identifying colors by reference to standard tints and shades of various hues, thus objectifying color nomenclature.

Münsterberg, Hugo (1863–1916). German experimentalist brought by William James to Harvard (1892), where he is said to have founded applied psychology.

muscle-reading: the process of inferring what a person is thinking by sensing the slight movements of muscles in the subject's fore-arm. By this means, a skilled performer may be able to locate an object hidden from his knowledge when no other clues are available.

muscle sense: kinesthesis, a sense described by Sir Charles Bell (1826) and at one time referred to as the sixth sense. It is of interest to note that Sir William Hamilton has traced the history of its discovery (1846) as far back as 1557, but that Bell was the first to realize its importance. In 1863, Kühne described the receptors for the muscle sense.

mutism: inability, or want of desire, to speak. Many cases of organic and of functional (hysterical) mutism occur in the literature.

myasthenia: muscular weakness.

myatonia: pathological flaccidity (lack of tonus) in the muscles.

mydriasis: pathological enlargement of the pupil.

myelin: the white substance which covers the medullated

nerve fibers. This sheath was described by Schwann, a German anatomist; hence it is often called the substance of Schwann.

Myers, Frederick William Henry (1843-1901). English author who collected many data on occult phenomena, hallucinations (of normal persons), and abnormal states. Like James, he was deeply interested in topics which cannot be explored by the ordinary methods of laboratory experimentation, and he brought the erudition of an intelligent peison to bear upon these fields.

myesthesia: sensitivity to muscular contractions.

myograph: apparatus for recording involuntary muscular movements or tremors. The automatograph (Jastrow, 1895) is a familiar piece of equipment used in psychological laboratories to demonstrate these movements.

mysophobia: irrational fear of dirt or contamination, often accompanied by incessant handwashing. The classic literary example of compulsive handwashing is found in *Macbeth*, Act V, Scene 1.

mythomania: pathological lying in which the informer actually believes the improbable tales which he relates.

myxedema: a condition thought to be due to thyroid pathologies which is accompanied by muscular weakness, tremors, dullness, slowness of reaction time, and general lethargy.

N

Nagel, Wilibad A. (1870–1910): German psychologist who contributed important research studies to various sense modalities, particularly to vision.

Nancy school: the physicians of Nancy, France, who, under the leadership of Hippolyte Bernheim, arrived at the conclusion that hypnotic phenomena are the result of suggestion. They collected data on about 10,000 hypnotic experiments, and thus were able to controvert the theories of the Salpêtrière school (led by Charcot).

nanism: a form of dwarfism in which the head is proportionately large and the rest of the body stunted. It is thought to be due to endocrine dysfunctions.

Napoleon: the Emperor of France, whose consultant physician was Pinel, the great psychiatrist, and who opposed the doctrines of phrenology.

narcissism (narcism): abnormal self-love; hence, according to Freudians, the inversion of the libido. Primary narcissism is the original, infantile direction of the libido upon the body before the object-love stage. A person with a defective capacity for object-love is said, by analysts, to be a narcissist.

narcolepsy: attacks of short intervals of deep sleep. It is associated with hysteria and some forms of epilepsy. Functional narcolepsy is said to represent an escape, through sleep, from intolerable reality and conflicts.

narcomania: morbid craving for sleep-producing drugs.

narcospasm: convulsion while in a condition of sleep induced by drugs or preceded by a grand mal attack of epilepsy.

nasopharyngeal: pertaining to the nose and the pharynx.

Nasse, O.: German physiologist who (1839) anticipated Waller's discovery that a nerve degenerates in its peripheral part only after it has been severed. Waller (1852) used this fact to assist him in tracing nerve tracts.

National Intelligence Tests: one of the most widely used measures of intelligence for public school purposes (now outmoded), modeled upon the Army Alpha, prepared by eminent American psychologists, and the first to contain practice tests or fore-exercises. It was published in 1920.

nationalism: the intense identification of the individual with the state. In extreme form, the spirit of nationalism requires the derogation of other national groups. It is said to mean that in-group barriers are erected against persons who belong to out-groups.

native: inborn or developed through maturation, as opposed to acquired or learned.

native character: a character (*e.g.*, hair color, Mendelian trait, and the like) which is inherited biologically.

native endowment: the sum total of all traits and characters which are biologically inherited.

natural method: the theory that nature is the best guide in the education of children, and, consequently, that adult interference should be held to a minimum. The theory is attributed to Rousseau (1712–1778).

natural philosophy: the traditional designation for such sciences as physics and chemistry. Before psychology was established as a science, it was taught in the department of philosophy as mental philosophy.

natural selection: Darwin's theory (1842) that favorable variations facilitate survival, and unfavorable variations cause death, hence extermination. Wallace developed the theory in 1858, and both men presented a joint paper on

the subject in that year. Darwin published a full account of the theory in 1859. The theory takes cognizance of the facts of individual variations (not of what may cause them) and shows how some variations favor survival and others bring about extinction of individual organisms and of species.

natural scale: a musical scale that was developed by Didymos (*c.* 63 B.C. to 10 A.D.) to conform to mathematical requirements and which Newton endorsed.

nature-nurture controversy: the argument about the relative importance of heredity and environment.

nausea: visceral distress with tendency to regurgitate.

nauseous: one of the seven primary olfactory sensations in the classification of Linnaeus (1752) and included in Zwaardemaker's list (1895).

near point of convergence: the nearest point at which an object can be brought into focus by both eyes. It lies about three inches in front of the face.

necrosis: death of a group of cells surrounded by living tissues.

necrophilia: sex perversion in which the dead body of a member of the opposite sex excites lust.

Neftel, William Basil (1830–1906): American neurologist who defined a form of hysteria in which muscular control is lost when the patient attempts to rise from the bed.

need: a lack or imbalance in tissues which initiates behavior. Strictly, the term is limited to physio-chemical imbalances, such as dryness of the mouth, deficiency in diet (manifested by abnormal food cravings), pain, and the like. The term is also used in a wide sense to connote a condition of unsatisfied motives. In general, a need is anything which upsets the optimum equilibrium (Rignano, 1920).

negative adaptation: a term introduced by Smith and Guthrie (1921) as the complement of positive adaptation. Repeated stimulation by a weak stimulus raises the threshold, so that, even when the stimulus is intense, the response is not given. On the other hand, repetitions of responses are thought to lower the threshold, so that the stimuli may be weakened and still elicit a response.

negative afterimage: the reversal of a color which furnishes the stimulus, so that its complement is sensed after the removal of the stimulus. The effect is produced by looking at a small piece of colored paper and then shifting the gaze to a neutral gray background. Newton (1704) noted the existence of negative afterimages and terminal lags of sensations, and Johannes Müller described the phenomenon more fully (1838).

negative acceleration: a frequency curve which, after a sharp initial rise, gradually flattens. The classical learning curve and the intelligence curve illustrate negative acceleration.

negative practice: the Beta hypothesis in eliminating wrong habits (Dunlap, 1932), whereby conscious, deliberate practice is given in the wrong habit, the learner being aware of what is wrong and of what should be done.

negative response: abient or avoidant reaction to a stimulus.

negative transfer: the carry-over from one function to another function of skills, habits, or understandings which reduce efficiency. Thus, it is said that practice in literal translations, for example, has a negative-transfer effect upon spontaneity in the vernacular. Confusion is introduced, however, by the fact that educational psychologists speak of positive transfer with negative effect—as the carry-over of a cautious habit into a task which requires speed—and a negative transfer with a positive

effect—as when a subject turns from a disagreeable task to a pleasant one. (Woodworth, 1938.)

negativism: tendency to do the opposite of what is expected or ordered. Primary negativism is said to appear in children about three years of age, when, by sulkiness or resistance, they express resentment of adult domination. Secondary (neurotic) negativism is said to be symptomatic of a weak ego. In catatonia and some types of hysteria, negativism takes the form of mutism, refusal to eat, spring resistance, and the like.

neologism: a word which is coined by the patient but which has no meaning for other persons. Normal children coin words, which are repeated again and again, and which sometimes form a part of the intimate family vocabulary (being meaningless to outsiders).

neonate: the infant from birth up to one month of age.

neopallium: the cerebrum exclusive of the olfactory lobes.

neophilia: excessive preference for novelty, change, newness, with corresponding lack of appreciation for anything considered to be traditional.

neophrania: Kahlbaum's term (1863) for a psychosis ("insanity") occurring in early childhood.

neoplasm: any new growth of tissues which serve no physiological function, such as cysts, tumors, and the like.

nerve: a number of axis-fibrillae which surround a central core (axis cylinder). The nerve fibers of the bulk of spinal and peripheral tracts are sheathed (substance of Schwann), and the autonomic fibers are unsheathed (non-medullated). Nerves are long, cord-like structures which transmit the nerve impulse from the point of stimulation (receptor) to the response mechanism (effector).

nerve cell: the structural element of the nervous system,

called the neuron(e). The functional unit consists (hypothetically) of two neurons: sensory and motor, with a functional connection (synapse) in the cord. The major parts of the nerve cell are as follows: dendrite (receiving end); cell-body, containing the nucleus; axon (or neurite), which transmits the nervous impulse; and collaterals (side branches from the axon). Classified according to morphology, nerve cells are either bipolar (axon and dendrite on opposite sides of the cell-body), or multipolar (with dendrites branching off at different angles). Deiters (1865) was the first to describe the branchings of nerve cells (collaterals, dendrites, and axons); His was first to use the term *dendrite* (1904); and many of the basic observations of the structure of the cell were reported by R. Wagner (1865) and Remak (1854).

nerve (nervous) impulse: the change (electro-chemical) which moves from the dendrite to the axon, and thence (across the synapse) to the dendrite of the next cell or to the tissues of the effector. The rate was measured first by Helmholtz (1850), who reported it to be about 27 meters a second in the motor nerve of a frog; and 50 to 100 meters a second in the sensory nerve of a human being. The rate is now set at about 120 meters a second in the human being.

nervous energy: a loose term applied to a condition of hyperkinetic behavior of unsustained type. Excessive output of energy is said to result in "nervous breakdown." Zealous pursuit of unattainable goals causes mental conflict, with a growing neglect of health regimen, and the patient has to undergo rest.

nervous habits: functional tics, twistings, strained and awkward postures, which indicate persistent conflicts, self-consciousness, anxiety, and the like. They may indicate

health problems, such as excessive smoking, faulty diet, or graver conditions.

nervous system: the cerebrospinal and the autonomic systems taken together.

nervousness: heightened emotional tensions as the result of abnormal stimulation. Combat, questioning by police, final examinations, and the like, are conditions which might create nervousness. It should be differentiated from psychoneuroses, since even the well-adjusted person might encounter a situation which would cause nervousness.

Neumann, Heinrich (1814–1884): German psychiatrist who, rebelling against the practice of classifying various mental disorders according to patterns of symptoms, advocated the use of *insanity* as the single label for all of them.

neuralgia: painful sensations which follow the course of a peripheral nerve-fiber.

neurasthenia: Beard's term (1875) for a condition of heightened fatigability lack of zest, various aches and pains, and minor epigastric disturbances. The term has been called a "dumping ground" for a diversity of psychoneurotic adjustments (Culpin, 1931).

neurobiotaxis: Kappers' term (1908) for the tendency of dendrites to grow in the direction of the cells which are active, and thus commence to form reflex arcs. Stimulogenous fibrillation (defined by Bok, 1915) offers a theory for the growth of axons.

neuroblast: the embryonic nerve cell.

neuroglia: the cells which form the supportive tissues of the nerve cells in the cerebrospinal system.

neurogram: Morton Prince's term (1905) for the trace

which, supposedly, is left in the nervous system and which is the basis of memory.

neurological examination: a study of various sensory and motor functions in order to ascertain whether lesions exist in the nervous system.

neuron: the nerve cell. Schwann (1839) reported that the existence of these cells was known as early as 1665, but not until Golgi developed a method of staining (1873) was it possible to study them thoroughly. Waldeyer (1891) established the theory that the neuron is the functional unit of the nervous system, basing his conclusions upon Cajal's accounts (1889) of the histology of the synapse. Waldeyer named this the "neuron theory." The archineuron responds to the stimulus; the teleneuron transmits the impulse to an effector (gland or muscle).

neuropathic trait: a characteristic which depends upon a pathology of the nervous system.

neuropsychology: the science which deals with the anatomical and the physiological characteristics of nervous tissues (connectors) which mediate stimulus-response mechanisms.

neurosis: a term used alternatively with *psychoneurosis* (preferred by Malamud, 1946) for functional disorders involving maladjustments. In psychoanalysis, it is a colloquialism for *psychoneurosis*; it is used in connection with experimental investigations of maladjustive behavior of laboratory animals (Pavlov, 1921). Pavlov accounted for experimental neuroses in terms of his theory of cortical balance between excitation and inhibition, in the neurotic animal this balance becoming disorganized as a result of stress.

neurotigenic factors: those which predispose an animal to become disorganized by an inescapable and unsolvable problem-situation. Heredity, drugs, diet, and general health are examples of factors which may predispose the animal to have an experimental neurosis. Other writers have expressed a preference for the term *audiogenic seizure* to denote the convulsive disorder induced in laboratory animals.

neurypnology: Braid's term (1843) for trance-like conditions induced by suggestions. He proposed this term to replace *mesmerism* and *animal magnetism*.

Newton, Isaac (1642–1727): British physicist who developed a theory of color-vision, stated two laws of color mixing, and identified the attribute of brightness of hues.

Nietzsche, Friedrich Wilhelm (1844–1900): German philosopher who emphasized the urge for power as the basic directive force in behavior, and who (1889) became psychotic. His disorder has been variously diagnosed, with *paresis* being frequently mentioned.

nihilism: the delusion that nothing really exists. It is mentioned as a symptom occurring in certain mental disorders, particularly in involutional melancholia.

nirvana phantasy: according to psychoanalysis, daydreams of a condition of total extinction, and hence an escape from tensions. Freud wrote of the *nirvana principle*, which is a compulsion of all living organisms to return to the inorganic state from which they first arose, and which is the opposite of the self-preservative (*eros*) principle.

noctambulism: sleep-walking.

noegenetic principles: those which are said to arise from the exercise of pure reason, and hence to be free from sensory elements. Hamilton (published posthumously, 1859)

introduced the concept into psychology to denote knowledge which supposedly, originates in the mind, and which, therefore, is completely independent of sensation.

noise: unpleasant, non-periodic sound waves, and hence the antithesis of tone. Helmholtz wrote a history of music (1862) in which he mentioned that the noises of one age may become the tones of the next. Titchener (1896) distinguished between explosive noises (pop, crackle, snap) and continuative noises (hiss, sputter, rumble) ; and he likened noise to sensations of light, which, compared to sensations of hue, are dull and unstable.

nominal aphasia: Head's term (1920) for an inability to associate names with objects, as a result of a cerebral lesion. The patient may be able to describe the object, but he cannot think of the specific name for it.

nominalism: the doctrine that universals have no existence and that, therefore, such a concept as the *group mind* is nothing more than a name. It emphasizes the doctrine that abstract and general concepts are built up out of sensory impressions, and hence that they have no *a priori* existence. The traditional philosophical argument between the realists and the nominalists has had some influence upon the theory of psychology.

nomothetic laws: principles which are discovered by scientific analysis and which are uniform elements throughout the class of data to which they pertain. Windelband, who introduced the term (1904), used it to denote those sciences which emphasize general laws; and he referred to sciences which seek to understand the specific event (or object or person) as ideographic. G. Allport (1937) states that psychology, hitherto almost exclusively a nomothetic science, should also find place for the ideographic approach.

non compos mentis: a legal term referring to an inability to manage one's affairs because of a mental disorder.

non-adjustive behavior: responses which do not serve to adjust the individual to the exigencies of any given situation, but which merely release some of the tension arising from frustration. Hamilton (1925) introduced this phrase to characterize behavior which, in spite of failure to effect an adjustment, is repeated over and over, often with mounting emotional tension as a result.

norm: a standard of reference in making judgments.

normal: the average, or that which lies within the limits of the first standard deviation in a frequency distribution.

normal distribution curve: the bell-shaped curve along which scores on a random-sampling are distributed.

normative science: one which sets the standards and the procedures for correct behavior, as a logic and ethics.

nosology: the study of symptoms, or the classification of mental disorders. The greatest nosographer in psychiatry was Kraepelin (1883), whose views have been incorporated into many textbooks.

nosomania: the obsession that one has a pattern of symptoms indicating the existence of some dire illness.

nosophobia: morbid dread of illness.

nostalgia: homesickness.

nucleus: the central element in the cell, which contains the chromosomes and which is differentiated from the cytoplasm.

nyctalopia: night blindness. It is often confused with day-blindness (*hemeralopia*).

nyctophobia: morbid fear of darkness.

nympholepsy: a trance-like state induced by erotic daydreams.

nymphomania: uncontrollable and insatiable sex desires in a woman. A similar condition in a man is known as *satyriasis.*

nystagmus: spasmodic oscillations of the eyeballs. The disorder occurs in albinos and color-blind persons frequently, and it is also found in individuals with certain types of organic pathologies.

O

O: the subject in a psychological experiment.

object: in psychoanalysis, a person or thing necessary for gratification of the libido. In object-cathexis, the libido is drained from its original sexual purpose into some other channel; in object-choice, it is directed into channels determined by experiences occurring before the genital stage is reached.

objective psychology: the systematization of psychological facts and principles from the empirical point of view. Bechterev (1913) first used the term.

objectivists: a term (usually) applied to German physiologists whose experiments on animal behavior were based upon the theory that mentalistic terms and concepts are outmoded (Beer, Bethe, and von Uexküll, 1899, being the proponents of psychological objectivism). The term also refers to behaviorists (Watson, 1913, *et al.*).

oblivescence: the gradual fading out of an impression.

obsession: a persisting, pathological drive, idea, or affect. Obsessions differ in degree, some being trivial (*e.g.*, a tune "running in the head"; others being disruptive and serious).

obstruction box: apparatus for measuring the strength of animal drives by determining the frequency with which the animal crosses an electric grid to reach the goal (Warden, 1926).

Occam, William (1280–1349): English Scholastic who stated that entities must not be multiplied beyond necessity, thus introducing the law of parsimony (C. Morgan, 1900).

occasionalism: a classical theory of body-mind relationship which states that the individual's intent to respond is merely the "occasional cause"; actually, God makes him respond. It also states that God is the real cause for the relationship between mental and physical events. This theory was expounded by Geulincx (1663) and Malebranche (1675).

occipital lobe: the posterior part of the cerebrum (in either hemisphere).

occupational therapy: originally, the use of diverting, interesting activities to help the patient pass the time in a hospital or institution; now, the use of activities which may be necessary adjuvants to the medical care (such as those which exercise certain muscles, afford release for tensions, prepare the patient for re-employment, for release, and so on).

ochlophobia: fear of crowds.

ocular dominance: the tendency of one eye to be used in such activities as sighting a rifle or threading a needle. One investigator has reported that about 30% of school children have a dominant left eye (Parsons, 1924). Preferential eyedness and handedness are assumed, by some psychologists, to be related, and each has a bearing upon causation of speech disorders (Travis, 1931).

ocular nystagmus: Bell's term (1808) for the spasmodic rotations of the eyeballs after an individual has been rotated.

oculomotor nerve: the third cranial nerve. It mediates the muscles of the eye, except the superior oblique and the external rectus.

od: Baron Reichenbach's term for an occult force supposedly emanating from magnets and from persons, which "sensitives" can see. Caspar Hauser (a "wild boy" of Nurem-

berg, 1828) was supposed to have convulsions when there was metal anywhere in his vicinity. Mesmerists claimed to work miracles with this force, even having subjects read mottoes enclosed in nutshells.

odorimetry: the measurement of the intensity of olfactory sensations (Zwaardemaker, 1888).

odors, classification of: organization of elementary olfactory sensations. Linnaeus (1752) organized seven classes: aromatic, ambrosiac, nauseous, fragrant, hircine, foul, alliaceous. Zwaardemaker's classification (1895) is as follows: aromatic, ambrosiac, alliaceous, empyreumatic, hircine, nauseous, foul, fragrant, ethereal. Henning, who developed the olfactory prism (1915), names six: ethereal, spicy, putrid, burned, resinous, fragrant.

Oedipus complex: according to psychoanalysis, a conscious or unconscious erotic attachment for the parent of the opposite sex, together with a jealous attitude towards the other parent. Normally, it occurs at about age five, and then infantile sexuality begins to be repressed and the child emulates the parent of the same sex (from six to about fourteen). In psychoneurotics, the Oedipus continues to exert great force.

oestrum (estrum): period of receptivity by the female animal.

oestromania (estromania): nymphomania.

Ohm, Georg Simon (1787–1854): German physicist who developed (with Helmholtz, 1863) the resonance theory of hearing. This theory states that complex tones are analyzed by the ear into simple components.

oikotropia: nostalgia.

olfaction: sense of smell.

olfactometer: apparatus (developed by Zwaardemaker, 1888) for stimulating the olfactory membrane by a stim-

ulus of controlled intensity. Units of intensity are called *olfacties.*

olfactory lobe: the olfactory bulb, the olfactory tract, and the olfactory tubercle, considered as one.

oligophrenia: mental deficiency; feeble-mindedness.

onanism: coitus interruptus (Genesis 28:9); often (though incorrectly), masturbation.

oneirodynia: Cullen's term (1777) for a category of mental disorders (*vesanias*) which are characterized by somnambulism and nightmares.

oneirology: the study of dreams. Theories of dreams were expounded by Aristotle; Wundt investigated dream phenomena; and Freud's theory of dreams (1900) stimulated a great deal of study.

oniomania: a "buying spree." Paretics make extravagant purchases, and some hysterics lose all prudence when on a shopping tour.

onomatology: the science of finding, or of coining, the appropriate term to designate a psychological event or a psychiatric symptom.

onomatopoetic theory: one of the classical theories of the origin of speech, which states that primitive men imitated the sounds of nature in their first real use of communicative language.

ontogeny: the growth and development of the individual, as contrasted with *phylogeny,* the development of the species.

ontology: the study of the ultimate nature of reality. Wolff (1734) included rational psychology as one branch of ontology.

operationism: Bridgman's term (1928) for empirical standards which are consistent, definite, repeatable, intended to lead to concepts of greater validity, and linked to ob-

jective reality. Operational definitions do not pertain to absolute properties or values transcending the limits of any given experiment or group of experiments; they do include concepts which derive their meanings from the operations to which they are directed, and for which they are used, in an experiment. Hence operationism is said (Skinner, 1945) to mean that reports of psychological investigations should be limited to observations, procedures, and the steps which intervene between initial and final statements.

ophidiophobia: extreme fear of snakes.

Oppel, J. J.: German psychologist who reported studies of geometrical illusions (1855).

optical illusions: misperceptions of visual sensations. Necker (1832) described the reversible rhomboid, and Oppel (1855) dealt with many of the illusions. They are dependent upon (a) the configuration of stimuli, (b) the structure and the function of the eye, and (c) anticipatory set or expectation. Wertheimer (1912) introduced dynamic concepts into the field, with his report of the phi-phenomenon (illusion of movement).

ophthalmograph: apparatus for photographing the eye-movements in reading.

ophthalmoplegia: paralysis of muscles which move the eyeball. *Internal opthalmoplegia* is the paralysis of the muscles of the iris and the ciliary body.

ophthalmoscope: an instrument (invented by Helmholtz, 1851) for looking into the eyechamber and examining the fundus oculi.

ophthalmotonometer: apparatus for measuring the movements of the eyeballs, as in reading or surveying a scene.

Oppenheim, Hermann (1858-1919): German neurologist who described several conditions associated with sclerosis.

optic agnosia (aphasia): inability to recall the correct names of objects seen, as a result of cerebral lesions.

optic chiasm: the crossing of the optic nerves, just in front of the tuber cinereum.

optic disk: the small, round prominence where the optic nerve emerges into the eyeball.

optic nerve: the second cranial nerve, connecting the visual center in the occipital lobe and the retina.

optimum balance: homeostasis.

oral-erotic stage: the stage of pregenital development of libidinal cathexis in which the lips and the mouth are the principal erogenous zones. During the period of weaning, according to psychoanalysis, the infant becomes oral sadistic. The mouth is the first definite outlet for the libido, the anus and the genitalia being established as dominant areas in later successive stages of development.

orexia: appetite.

organ: any multicellular group of tissues with a definite physiological function.

organ of Corti: the receptor structure for hearing, which contains the dendrites of the auditory nerve. It was described by Corti in 1851.

organic sensations: a broad term referring to sensations arising from receptors within the body (*e.g.*, muscles, tendons, viscera, and so on). Bell (1826) established the existence of a muscle sense (*kinesthesis*); Weber (1846) described visceral sensations; hunger and thirst were mentioned by Haller (1747); and sensations of muscular innervation were described by Steinbuch (1811). Some writers include sensations from the semicircular canals under this heading, and Darwin's grandfather is mentioned as a pioneer in the field (1801).

organic psychosis: a mental disorder which is caused by a

dysfunction of some organ or by a lesion in the brain or nervous system. Psychiatrists who emphasize somatogenic factors in psychoses are sometimes referred to as *organicists*, a term which differentiates them from those who defend the psychogenic (conflictual) point of view.

organismic: relating to the organism as a whole. The *organismic approach* to problems of behavior emphasizes the necessity for taking into account the whole situation and the entire organism, as opposed to the traditional methods of proceeding from analysis to synthesis. Fechner (1873) introduced this point of view into psychology.

orgasm: the height of genital excitation.

orientation: awareness of one's true relationship, spatial and temporal, in the environment. In routine examinations, the patient is asked about his name and identity, where he is, the date, time of day, and so on. In animal psychology, the term refers to the problem of determining by what methods the animal establishes a spatial position with reference to the energy field surrounding it. The classical work on this problem was done by Loeb (1890).

orthogenic class: a special class of children who require expert attention because of mental deficiencies or serious problems of maladjustment, with a teacher who is qualified to use palliative or remedial techniques of education.

orthopsychiatry: the branch of psychiatry which emphasizes a meliorative program for normal and near-normal individuals, and which utilizes the services of all persons who can assist in benefiting the individuals selected for treatment.

osmia: the sense of smell.

osphresiolagnia: the delusion that everything (or some things) has an unpleasant odor.

osphresiophilia: a type of perversion in which certain odors are associated with erotic stimulation.

ossicles: the bones of the middle ear—namely, malleus, incus, and stapes. Haller (1763) was among the first to give an accurate description of the middle ear.

otoliths: small calcareous particles in the endolymph of the utricle and the saccule, which, when the head position is changed, impinge against the nerve endings. Flourens (1828) reported the effects of destruction of the vestibular apparatus in pigeons.

overcompensation: Adler's term (1917) for a direct attack upon the situation responsible for the inferiority, which results in the removal of the obstacle and also in success in the very field which was hitherto a frustration for the individual.

over-determination: a psychoanalytic term referring to two or more dynamic elements, conscious or unconscious, which combine to bring about a symptom or to furnish the latent content for a dream.

over-protection: sheltering the individual against the effects of competition with others, making decisions for his welfare, and thus denying him the opportunity to achieve self-reliance.

overlearning: a term used by Ebbinghaus (1885) to denote any learning over and beyond that required for one correct reproduction of the material.

overtone: any of the partials, except for the fundamental, in a tone.

ovum: the female germ-cell.

P

P: symbol for a popular response to one of the figures of the Rorschach Inkblot Test.

p: Spearman's symbol (1925) for the tendency of mental functions to perseverate (or exhibit an inertia).

Pacinian corpuscles: small bodies lying along cutaneous nerves. They were described by Vater (1741), and Pacini amplified upon this account (1840); hence they are often referred to as Vater-Pacinian corpuscles. Rauber (1865) stated that their function is to mediate awareness of position of the limbs.

paidology (pedology): child study. At one time, G. S. Hall favored this term.

pain: an independent sense, the existence of which was established by von Frey (1895). Head (1905) described protopathic and deep pain. Experiments on adaptation to pain have shown equivocal results. In animal psychology, Hoge and Stocking (1912) were the first to demonstrate experimentally the efficacy of pain (electric shocks) in eliminating errors in maze-learning.

pain receptors: nociceptors. The work of von Frey (1895) established the pain sense as a separate modality, and Blix (1882) discovered pain spots in the skin. Sherrington (1906) used the label *nociceptor* for any sensory nerve-ending which mediates the sense of pain.

paired associates: words (or designs) which are learned in pairs, and then, when the first is presented, the second is to be recalled. This method of studying the memory functions was introduced by M. Calkins (1896).

paired comparisons: a method used in testing esthetic pref-

erences, the testee being asked to chose the better of two pictures (colors, etc.).

paleoatavistic qualities: G. Hall's phrase (1904) for his theory that psychological development recapitulates the cultural history of the race, and that in childhood and adolescence, there are examples of the stages of savagery, barbarism, and so on. This doctrine is based upon Haeckel's theory of recapitulation (1866).

paleopsychology: Jung's term for the study of the primordial images which are supposed to lie deep within the mind.

paliphrasia: the purposeless repetition of certain words or phrases in speech.

palikinesis: involuntary and stereotyped repetition of various movements, as in catatonia. It is said to occur sometimes in chronic epidemic encephalitis (Critchley, 1927).

palilalia: meaningless repetition of words and phrases, as in catatonia.

pallesthesia (palmesthesia): sensitivity to vibrations.

palmistry: the pseudo-science which purports to interpret mental traits from the lines and the prominences of the palm. Hartlieb (1475) codified much of the ancient lore. *Chirognomy* deals with the analysis of the personality from the hand; *chiromancy* professes to read the past and foretell the future.

palsy: paralysis.

panic: a condition of fear or anxiety together with a disorganization of behavior. Sidis (1898) made psychological analyses of some panics.

panphobia: morbid fear of everything.

pantheism: the philosophical doctrine that everything, animate and inanimate, has no existence apart from God. Spinozistic psychology introduced the concept into modern psychological theory.

papilla: a small eminence. The *papilla acoustica* is known as the organ of Corti in the human ear. The *lingual papillae* contain the taste buds. The *tactile papillae* contain sensory nerve-endings for cutaneous sensations.

para-: Greek prefix meaning "beyond," "distortion or perversion of."

Paracelsus (Theophrastus Bombastus von Hohenheim) (1493-1541): Swiss physician and celebrated alchemist who revolted against traditional theories of mental illnesses but had no consistent theory himself.

parachromopsia: inability to discriminate among certain colors.

paracusia: distorted sense of hearing.

paradoxia sexualis: Krafft-Ebing's term (1908) for strong sex drive in a young child or a very aged person.

paradoxical cold: the arousal of a sensation of cold as a result of stimulating cold spots by warm blunt-pointed rods (von Frey, 1896).

parageusia: distorted sense of taste.

paraleresis: a disturbance of speech during a fever delirium, the patient talking in a weak, incoherent fashion.

paralipophobia: dread of responsibilities because of real or fancied lack of ability.

parallelism, psychophysical: the metaphysical doctrine that mental and physical events accompany each other but are not causally related. Titchener (1896) accepted this doctrine for a working hypothesis in his systematization of the field of psychology.

paralogia: inability to reason clearly because of a pathological condition of the cortex of the cerebrum.

paralysis: loss of power to move (the whole body or a part may be involved) or an impairment of power to move. In *paralysis agitans*, the onset is often seen in involuntary

tremors of the hand, and in advanced cases, the gait becomes an uncontrolled run (festination). In *Bell's paralysis,* immobility of the face is an obvious symptom. *Brown-Sequard's paralysis* is a motor involvement on one side of the body and a loss of sensation on the other side. *General paralysis* was described fully by Falret (1859), and its relation to syphilis was discovered by Krafft-Ebing (1897). Many other types of organic paralysis have been described, but the ones mentioned above are often found in the literature.

paralysis, hysterical: Charcot's term (1887) for hysterical symptoms closely resembling those caused by organic factors, which he found in some of the women patients under his care. Janet reported his extensive studies (1907) of hysterical paralyses and described the methods whereby the physician could differentiate them from organic disabilities. Essentially, he said, they do not conform to the patterns of nerve distribution but to geometrical areas.

paramimia: inability to correctly imitate gestures.

paramnesia: a distorted recollection of some past events.

paranoia: a term used by Hippocrates to designate states of mental disorder. Vogel (1794) used it to denote disorders of the thought processes, and Kraepelin (1883) defined it as a separate nosological entity. The term usually connotes the existence of systematized delusions without serious impairment of other mental functions. Under the head of *monomania,* Esquirol (1838) described the conditions of persecutory delusions.

paranoid: a condition resembling paranoia. In the paranoid form of schizophrenia (or dementia praecox) the delusional element is the uppermost and most obvious symptom.

paraphia: perverted tactile sensations.

paraphrenia: Kahlbaum's term (1882) for a disorder of the cognitive functions. Kraepelin (1912) adopted the term to denote those mental disorders which cannot be classified under dementia praecox or manic depressive because the patients retain their orientation to the environment and may continue to exhibit good emotional rapport.

paraplegia: paralysis of the lower half of the body.

parapsychology: the application of psychological techniques to the investigation of occult phenomena, such as extra-sensory perception or the psychokinetic effect (Rhine, 1930 *et seq.*). In extra-sensory perception (E. S. P.), the investigator attempts to infer the design on cards(Zener pack) without the use of any known sense organs (clairvoyance) or to receive the impression from a person at a more or less remote distance (mental telepathy) ; in experiments on psychokinesis, the experimenter tries to influence (mentally) the fall of dice.

parasympathetic nervous system: the cranial and the sacral portions of the autonomic (vegetative) nervous system. Some writers prefer to divide the cranial portion into two parts. the ocular division (mediating the muscles which alter the size of the pupil and the shape of the lens), and the bulbar division (which is widely distributed). In general, the parasympathetic system is excitatory (*colinergic*) in its effect.

parathymia: a condition in which the moods are inappropriate to the situations.

parathyroid glands: small endocrine glands located near the thyroid. When they are removed from a dog, ataxia is an immediate effect, then muscular spasms, and finally (about ten days) death. In children, hypoparathyroidism

is believed to be a cause of convulsions, which sometimes yield to treatment by soluble calcium salts.

Parchappe, J. B. M. (1800–1866): French psychiatrist who believed that all mental disorders are the result of brain lesions.

parergasia: Adolph Meyer's term (1915) for the behavior of schizophrenic patients.

paresis: a condition of mild paralysis as a result of syphilitic involvement of the nervous system.

paresthesia: perverted cutaneous sensations, such as those caused by certain drugs.

parietal lobe: the lobe of the cerebrum lying above the fissure of Sylvius.

Parkinson, James (1755–1824): English physician who described paralysis agitans. The *Parkinson syndrome* (or *facies*) is a mask-like, expressionless face which appears in epidemic encephalitis lethargica.

parorexia: perverted appetite; pica.

parosmia: distortion of the sense of smell.

parsimony, law of: Lloyd Morgan's statement (1900) that animal behavior should be described in the simplest possible terms. It is an application of Occam's razor to animal psychology. Occam (1280–1349) had said that entities must not be multiplied beyond necessity; and Morgan accepted this view, indicating that anecdotes, attribution of human mental activities to animals, and projection of introspections have no place in animal psychology.

partial correlation: a technique for indicating the ratio between two sets of variables when the linear effect of a third set of variables (or more) is held constant.

partial: any part of a compound tone. The lowest partial is called the fundamental, and the others are the upper

partials. When they are discriminated separately, they are sensed as pure tones (Titchener, 1896). Helmholtz (1859) accounted for compound tones in terms of their partials.

patellar reflex: the forward jerk of the foot when the patellar tendon is struck, the leg being bent at the knee.

pathergasia: A. Meyer's term (1915) for a personality disorder caused by, or associated with, organic pathology.

pathetism: mesmerism.

pathogenesis: the origin and the course of development of a disorder.

pathognomy: the diagnosis of a disorder.

pathomimesis: deliberate feigning of the symptoms of disorders (malingering) or the use of symptoms by a patient with conversion hysteria in order to resolve some of the tensions arising from mental conflicts.

pathology: the science dealing with alterations in structure and function which occur in physical and mental disorders.

pathophobia: obsessive fear of contracting a disease.

Pavlov, Ivan Petrovitch (1849–1936): Russian physiologist who (1890) discovered the conditioned-reflex technique. Yerkes (1909) was among the first American psychologists to recognize its importance. Twitmeyer, an American psychologist, independently discovered the same type of response (1902).

pavor nocturnus: nightmare.

Pearson, Karl (1857–): English statistician and biologist who joined with Galton in establishing eugenics research (1904), and who developed the technique of the coefficient of correlation.

pederasty: intercourse *per anum.*

pedophilia: a sex perversion in which young children arouse erotic impulses in an adult (Krafft-Ebing, 1879).

penilingus: fellatio.

penis-envy: according to psychoanalysis, a stage through which many little girls go when they discover that they are unlike males, and hence they believe themselves handicapped and ill-treated.

peptic ulcer: a lesion in the stomach or the duodenum which is caused by erosion of the mucous membrane by gastric secretions. It is said to occur sometimes as a result of prolonged anxiety, and hence to necessitate psychosomatic treatment (Mittelmann, 1940).

percentile rank: the relative position of each score as arranged in a distribution of one hundred.

perception: awareness of sensory stimulation. Titchener (1896) defines perception as a complex of sensory and imaginal elements; Ehrenfels introduced the concept of form-quality (perception of relationships), which led to modern Gestalt theory. Whether spatial and temporal perceptual patterns are nativistic (Kant, 1781) or learned (the empiricism of Hobbes, 1651, and others) is one of the traditional problems in the history of psychology. The phenomenological view of the Gestaltists is allied to nativism; behavioristic psychology is strongly empirical.

performance test: a non-verbal measure of intelligence, usually in the form of blocks which are to be fitted into recessions. Séguin (1842) developed one of the first tests of this type (the Séguin form board). The Army Beta (1917) is the first group performance test to have wide use in measuring the intelligence of illiterates and non-English-speaking individuals.

perimeter: apparatus for locating the limits of various color

zones on the retina (Aubert's experiment, 1857). Small colored objects are moved about the various quadrants of peripheral vision at various distances from the fovea, and thus the areas of maximal sensitivity for each hue are mapped on a chart.

peripheral nervous system: the nerves which join the brain and the cord with the receptors and the effectors.

peripheral vision: indirect vision, or that which is mediated by other areas of the retina than the fovea. It was first described by Young (1801), and Purkinje (1825) was the first to describe the differential sensitivity to colors in various peripheral areas of vision.

perseveration: the tendency of a mental activity to continue after the removal of the stimulus.

persona: Jung's term (1923) for the mask which conceals the deep components of personality, and which, therefore, meets the demands of everyday environment but hides the individual.

personal equation: variability among individuals who are assigned the task of recording the time of some event. It was discovered in 1820 by Bessel, the German astronomer, who reported an average difference of 1.041 seconds between his astronomical observations and those of Walbeck. Thus, he found that Maskelyne (Greenwich astronomer) had been unjust in his dismissal of Kinnebrook in 1796.

personalistic psychology: a systematic formulation of the principles of psychology around the concept of a Self or Person as the standard of reference. M. W. Calkins (1909) and Sterm (1923) are among those who have upheld this point of view.

personality: a broad, elusive term which has at least two diverse meanings: (a) the social-stimulus value of an

individual, the sum of all traits which differentiate one individual from another, or the total behavior pattern of an individual; and (b) the inner organization or integration of conation, cognition, and affectivity. G. Allport (1937) lists fifty definitions of this ambiguous term.

personality trait: a distinctive and relatively permanent characteristic aspect of the behavior of an individual (*e.g.*, persistence, cheerfulness, etc.). There is a considerable amount of disagreement about the nature of traits and about the difference between individual and common traits. In the English language 17,953 words allude to traits (Allport and Odbert).

persuasive therapy: the method of appealing to the intellect of the patient, while skillfully making indirect suggestions, in order to gain the patient's coöperation in organic disorders or to remove hysterical symptoms (Paul DuBois, 1904).

Peterson, Joseph (1878–1935): American psychologist who investigated the learning process, acoustics, and individual differences.

petit mal: the minimal form of epilepsy; momentary loss of consciousness (*absence*), sometimes mild muscular movements, and often an automatic continuance of actions initiated before the seizure (*minor fugue*).

phagomania: pathologically insatiable appetite.

phenakistoscope: a device invented by Faraday (1831) for the study of apparent movement. It consists of disks with slits which revolve in opposite directions and which create the illusion of a stationary disk between them.

phenomenology: a doctrine introduced into psychology by Husserl (1900) which emphasizes the direct experience (as opposed to sensationalistic elementarism). Psychology is defined (essentially) as the science of the experi-

encing individual, and each experience has dimensions (Titchener, 1920) or Gestalt characteristics (Köhler, 1925).

phenotype: Lewin's term (1927) for similarities in the behavior of a number of individuals. It is to be distinguished from a *genotype*, which is the cause for the behavior and which, therefore, differs from individual to individual, though outward behavior may be similar.

phi-phenomenon: Wertheimer's term (1912) for the apparent movement which occurs when two stimuli are presented in a certain temporal and spatial order. This perception of movement is not reducible to the elements in the stiuation. Wertheimer's famous paper on this topic marked the beginning of Gestalt psychology.

philosophical psychology: the study of metaphysical questions (*e.g.*, the nature of consciousness, personality, the body-mind problem, and so on) which are related to the psychologist's frame of reference. Since the rise of experimental psychology (Wundt, 1879), philosophical questions have been under the "armchair taboo" (Scripture, 1895).

phobia: a morbid fear. Freud divides phobias into two general classes: (a) those which are exaggerations of emotional experiences common to normal persons (phobias concerned with impending doom, solitude, snakes, death, and so on); and (b) phobias which are peculiar to the individual (claustrophobia, agoraphobia, and the like).

phonautograph: apparatus for recording sound waves. Other instruments for recording sound waves in studies of acoustics are as follows: *phoneidoscope, phoneloscope, phonodeik,* and *phonscope.*

phonometer: apparatus for measuring auditory acuity (Wundt, 1893).

photism: a sensation of light caused by a change in the retina, not by stimulation by light-waves. Drugs, certain diseases, and the like, are said to be the causes of photisms, which may appear as small, bright lights or as an illumination of the entire visual field.

philoneism: obsessive interest in fads.

phlegm: one of the classical humors. According to the ancients, an excess produces the phlegmatic temperament (Hippocrates, 420 B.C.).

phrenasthenic: feeble-minded.

phrenology: the pseudo-science which determines mental status by the protrusions and recessions on the skull. The doctrine was announced by Gall (1796), and the term was coined by Spurzheim (1800).

phrictopathic: Head's term (1905) for a vaguely localized tingling sensation.

phylogeny: the evolution of the species, from the simplest protozoa to man. Haeckel (1866) stated that the individual goes through each stage that the race passed through in the process of evolution; hence that ontogeny recapitulates phylogeny.

physiogenic: disorders which are caused by organic pathologies.

physiognomy: the pseudo-science which purports to interpret mental characteristics from the morphology of the face. It was systematized by Gall in 1796.

physiological age: the status of an individual with reference to average persons of varying chronological ages, as judged on the basis of such factors as primary and secondary sex characteristics, endocrine status, and the like.

physiological limit: the ultimate achievement in speed, efficiency, or quality of performance which can be attained by practice.

physiological psychology: that division of psychology which deals with receptors, nervous system, and effectors. Wundt is usually regarded as the founder, since he wrote the first textbook bearing this title (1874).

pia mater: the innermost of the membranes which cover the brain and the cord.

piano theory: a popular term for the Helmholtz theory of hearing (1863), which states that the rods of Corti respond to vibrations like the strings of a piano or harp. It is also known as the resonance theory of hearing.

pica: perverted appetite.

Pick, Arnold (1851-1924): Austrian psychiatrist who described a presenile psychosis. Pick's disease occurs later than the Alzheimer psychosis but earlier than the usual type of senile dementia; and it is characterized by symptoms of cerebral-cortex atrophy, the principal symptoms being as follows: impaired judgment, blunted emotions, and loss of inhibitions.

Pinel, Philippe (1745–1826): French psychiatrist who removed the chains from patients (in the Bicêtre, 1793) and thus initiated the program of scientific, humane treatment of patients with mental disorders. He divided the field of mental disorders into mania, melancholia, dementia, and idiocy (1800).

pinna: the auricle, or outer portion of the ear.

pitch: the attribute of auditory sensations whereby they are judged to be relatively high, middle, or low. In absolute pitch, the stimulus is correctly placed on the scale; in relative pitch, the second stimulus is judged to be higher or lower than the first. The first experimental studies of pitch discrimination were made by Sauveur (1700).

pituitary: an endocrine gland in the base of the brain and contained in the sella turcica. Dwarfism, acromegaly, and

gigantism are associated with pituitary dysfunction (anterior lobe). Tucker (1933) has reported psychotic disorders in connection with hypopituitarism.

placebo: a pill or a liquid given to humor the patient with a psychoneurotic disorder. Its therapeutic effects, if any, are psychological, not physiological.

planchette-writing: writing done automatically or in the hypnotic trance, the apparatus consisting of a freely moving platform on which the subject's fore-arm is placed. James described examples (1890) in support of his theory of simultaneously existing consciousness (co-conscious states or activities).

plantar reflex: flexion of the toes when the sole of the foot is scratched or stroked.

plasticity of the nervous system: James' doctrine (1890) which states that the nervous system is readily modified in youth but that it loses plasticity as the individual grows older (hence it is then more difficult to break old habits or to form new ones).

Plateau, Joseph Antoine Ferdinand (1801–1883): Belgian physicist who experimented with color mixing (1829) and stroboscopic effects (1833).

plateau: the period of no apparent improvement in learning a new function which occurs between the first ascent and the final ascent of the learning curve (Byran and Harter, 1896).

Plater, Felix (1536–1614): German psychiatrist who believed that certain mental disorders were caused by brain pathology, but that others were due to possession by the devil.

Plato (427–347): Greek philosopher who established the tradition of dualism, mentioned the integrative function

of the mind, and recognized the existence of individual differences (in the *Republic*).

pleasure-principle: the psychoanalytic concept that physiological and mental tensions lead to immediate gratification unless they are controlled by the ego and/or the super-ego. Tensions serve as an inner stimulus to give impetus to behavior which will bring maximal pleasure and serve to minimize the suffering which arises from unresolved tensions. The id is governed solely by the pleasure-principle.

plethysmograph: apparatus for determining the blood-volume in a part of the body. The hand or a finger is immersed in water, with an air-tight collar; hence as the volume of blood changes, the water-level is altered. It is used in studies of emotion.

plexus: an intricate network of nerve fibers lying outside the central nervous system.

pneumogastric nerve: the tenth cranial nerve (which is also called the *vagus*).

pneumograph: apparatus for measuring inspiration-expiration movements of the chest. An elastic belt containing a double-headed tambour is strapped around the chest, and the record is made on a kymograph. Rehwoldt (1911) found that excitement increases respiration. Störring (1906) discovered that the inspiration-expiration ratio may be used in experimental studies of emotional behavior, and Benussi (1914) used this ratio in experiments on lie detection.

poikilothermic: cold-blood organisms.

polarities: the psychoanalytic concept that mental activities (instinctual tendencies) polarize about opposite extremes, and that there is a strong likelihood of a swing from one to the other of these extremes. The polarities

which are said to be of great importance are the following: life-death; love-hate; self-object; activity-passivity. Jung emphasized the doctrine of polarities in his formulation of Analytical Psychology (1920).

polarity of neurones: the law of forward direction, which states that the impulse is transmitted from dendrite to axon.

polydactylism: supernumerary fingers and/or toes.

polydipsia: intense thirst.

polyesthesia: a cutaneous disorder in which a single touch is sensed as being two or more touches.

polygraph: apparatus for recording simultaneously a number of physiological activities, such as involuntary tremors, changes in blood volume, heart beat, inspiration-expiration ratio, and the like. It is used in investigations of emotion and in lie detection.

polylogia: a stream of incoherent talk by a patient in an excited phase of a mental disorder.

polymorphous-perverse: the psychoanalytic term to designate the characteristics of the young child's libido whereby a large number of outlets (even perversions) are possible. Normally, the libido finds outlets, successively, through the following stages of development: oral, anal, and genital.

polyphrasia: irrational, incessant talk by a mental patient.

polypnea: rapid breathing, as in hysteria. Sometimes, as a result of exhaustion of the CO_2 content of the blood, the hysteric goes into a cataleptic trance.

pons Varolii: a prominence consisting of transverse fibers lying in front of the medulla, beneath the cerebellum, and below the cerebrum.

poriomania: wanderlust.

position habit: a persistent mode of attempting to adjust to

frustrations. In animal psychology, for instance, the rat is said to have a position habit when it repeatedly enters cul-de-sacs or, in the Lashley jumping apparatus, keeps jumping towards the left or right in spite of repeated punishment.

positive after-image: a continuance of retinal excitation after the removal of the stimulus, so that the image persists. After-images were described by Boyle (1663), and Newton (1691) wrote of his experience with positive after-images of the sun. The term *after-images* was introduced by Fechner (1838).

posthypnotic suggestion: a suggestion given during hypnosis, usually with amnesia also suggested, which is carried out by the subject after the operator has awakened him.

practice experiment: Aschaffenburg's method (1896), now traditional, of measuring the improvement in a task performed many times, when experimental conditions (new motivation, rewards, the test itself, and the like) are introduced. The method is usually applied to skills (*e.g.*, typesetting, mirror-drawing, telegraphy).

preconscious: in psychoanalysis, the conscious (that is, all that is not now in the foreconscious) and that part of the unconscious (if any) which are subject to voluntary recall.

pre-established harmony: the doctrine (Leibnitz, 1695) that God established a harmony between body and mind, so that, though they are unlike entities, they function simultaneously and in coördination.

pregenital stage: according to psychoanalysis, the polymorphous perverse, oral, and anal stages of libido attachment, which precede the direction of the libido to the genitalia. *Pregenital sexuality* denotes either the autoerotic period which precedes object love or the un-

conscious desires of neurotic adults for auto-erotic satisfactions.

pregnance: Wertheimer's term (1922) for the tendency of every Gestalt to become as good as possible under the conditions permitted by the situation. Sander (1928) said that a poor figure or form is seen as if it were somewhat better than it is (the eidotropic principle or the law of pregnance).

prehension test: measure of immediate memory span, usually for digits but sometimes for sentences (Jacobs, 1887).

preparation: in creative thinking (as described by Wallas, 1926), the first stage, which is followed by *incubation, illumination,* and *verification.*

preparatory response: a set which facilitates the final or consummatory response.

pre-perception: a term introduced by McDougall (1923) to denote a preparatory set or conative tendency to select certain stimuli from a total situation and to ignore others. Illusions of recognition are cited as examples of pre-perception.

prepotent reflexes: Sherrington's term (1906) for the reflexes which take precedence over all others, such as withdrawal, struggle, hunger, and sex.

presbyophrenia: mental disorder caused by old-age deterioration.

presbyopia: a condition of inelasticity of the lens which occurs in later maturity, and which makes it difficult to see near objects clearly.

presenile psychosis: Alzheimer's or Pick's disease, or premature deterioration of the brain.

presentation: in psychoanalysis, the manner in which an instinctual drive expresses itself; in academic psychology, a sense perception.

pressure of thoughts: a descriptive term referring to the flight of ideas in mania, which apparently outrun the patient's ability to vocalize them.

pressure sense: the response to stimulation of spots lying on the hair follicles (von Frey, 1894), the device used to locate them being called a hair esthesiometer. The spots may be stimulated by wrinkling the skin, by brushing the hairs, and by any deformation of the surface of the skin.

Preyer, William (1842-1897): German psychologist who (1882) wrote one of the first systematic textbooks on child psychology.

priapism: a persistent erection of the penis due to a nervous lesion, not to erotic desires.

Pritchard, James Cowles (1786-1848): English psychiatrist who introduced the term "moral insanity" (1835), by which he meant a perversion of motives and affects without any impairment of intellectual functions. The term has been loosely employed by the courts to denote psychopathic behavior.

primary abilities: Thurstone's identification (by factor analysis) of nine basic traits measured by intelligence tests (1938): spatial relations (S); perceptual speed, visual (P); number calculations (N); verbal relations (V); word forms (W); immediate memory span (M); induction (I); deduction (D); and reasoning (R). Spearman (1904) had described the following: a general factor (g); group factors (found only in similar measures); and specific factors (occurring only in a single measure of ability).

primary attention: (Titchener, 1896) involuntary, spontaneous, passive; as contrasted with forced (secondary), and derived primary (acquired interest) attention.

primary dementia: Kraepelin's term (1883) for a major

ategory of mental disorders occurring in adolescence and ifferentiated from other disorders by a withdrawal from eality, fantasies, and inappropriate emotional behavior.

ary process: according to psychoanalysis, the tendency which leads to condensation (much represented by little) nd displacement (shift of affect from one outlet to nother).

ary qualities: Locke's term (1690) for solidity, extension, figure, and mobility—which inhere in the object; as ontrasted with the secondary qualities (tastes, colors, ounds, odors, and the like)—which exist in the mind of he percipient.

ce, Morton (1854–1929): American psychiatrist who lescribed a famous case of multiple personality (1905), nd who introduced Charcot's theories of dissociation of onsciousness to Americans.

lem box: a device for experimental studies of animal earning (Thorndike, 1898) in which the animal must liscover, by trial and error, how to escape from a box or age. Other experimenters have devised boxes in which ood is placed and which the animal must learn to pen (*e.g.*, Sackett, 1913).

romal: that which warns of an impending disease or nental disorder.

ile: an arrangement of test scores (expressed in comparable units of measure, such as standard scores) which ndicates the relative standing of an individual on various sychological measures (*e.g.*, linguistic intelligence, educational-achievement status, mechanical ability, and the ike).

ection: Freud's term (1894) for the process of attributing to others the drives and complexes which belong to oneself. Ideas of reference and delusions of persecution

are examples. In academic psychology, the term refers to the localization of sensations at the place of stimulation. *Visual projection* denotes the placement in space of the various stimuli in the visual field which arouse conscious responses.

projective technique: a method of appraising dynamic factors in the personality by having the individual interpret chance forms (inkblots), pictures (Thematic Apperception Test), use finger paints, supply omitted dialogue in cartoons, and so on. The purpose of these procedures is to obtain an insight into values, wishes, repressions, emotional organization, and so on, which the individual might be unwilling or unable to supply if the direct-question method were used. The Rorschach Inkblot Test (1922) is the oldest and best-known projective technique.

proprioceptor: a receptor located in a muscle, tendon, tendon sheath, or joint (also, the vestibular apparatus is sometimes included). Proprioceptive stimulation was once known as the "muscle sense" (described by Bichat, 1812). The term (proprioceptor) was coined by Sherrington (1905).

prosencephalon: the forebrain, which includes, in addition to the cerebral hemispheres, the following: optic bulbs and tracts, tuber cinereum, corporara mamillaria, and the posterior perforated spot.

protanopia: red-blindness.

protapathic sensibility: Head's term (1905) for a primitive cutaneous system which responds to pain and great changes in temperature. The individual finds difficulty in locating these sensations, but he reports that they are unpleasant and intense. Both *protopathic* and *epicritic* sensations are cutaneous (*deep* is subcutaneous). Head's

theory was proposed to overcome some difficulties with the von Frey (1894) theory.

protoplasm: the essential substance of living cells, a jelly-like material consisting (usually) of *spongioplasm* (a network) and *hyaloplasm* (a fluid).

proximodistal axis: that which extends from the midline of the body to the uttermost extremities.

psellism: impairment of speech.

pseudo-angina pectoris: functional heart disorder induced by prolonged, intense anxiety.

pseudochromesthesia: the association of colors with sounds. Galton (1883) was the first to make a systematic investigation (by the questionnaire method) of the tendency for some people to experience a pseudo-sensation of colors when notes of varying pitches are played. This is a particular type of synesthesia.

pseudo-emotion: an affective change induced by a drama, a motion picture, a novel, and the like.

pseudolalia: meaningless, animal-like sounds made by mental defectives and psychotics.

pseudolalia fantastica: self-accusation of a crime which the individual did not commit, and which may never have occurred at all. It is sometimes found in schizophrenia.

pseudesthesia: a sensation which is referred to a part of the body which has been removed (*e.g.*, an amputated finger or arm).

pseudo-feeble-mindedness: Burnham's term (1924) for a superficial picture of mental deficiency caused by intense self-consciousness, lack of confidence, and a defeatist attitude, though the individual may actually have normal intelligence.

pseudophone: Thompson's term (1879) for a device which reverses the apparent direction of sounds, those actually

coming from the front being deflected to the rear and thus being perceived as if they came from there. Young (1928) devised a technique for acoustical transposition of sound, that on the right being directed to the left ear (by crossed trumpets) and *vice versa.*

pseudoscope: mirrors or prisms which reverse the retinal images (Wheatstone, 1852).

psychasthenia: Janet's term (1889) for a psychoneurotic condition in which there is a loss of psychic tension, and in which such obsessive disorders as phobias, feelings of depersonalization, compulsions, tics, and morbid anxieties are the characteristic symptoms. Janet includes under this heading all those psychoneurotic symptoms which are not properly classified as hysteria.

psychataxia: inability to concentrate; mind-wandering.

psyche: the mind.

psychiatry: the branch of medicine which deals with the diagnosis and the treatment of mental disorders.

psychic: in occultism, the possession of a supernormal "faculty" or power to achieve knowledge hidden from ordinary persons.

psychic blindness: an outmoded term (once widely used) to denote impairment of visual functions as a result of lesion in the occipital lobe of the cerebrum.

psychic mechanics: Herbart's term (1816) for the systematization of knowledge about intensity differences among ideas in the mind. Strong ideas rise into the focus of consciousness; weak ones are pushed below the level of consciousness. The concept is of historical interest because it involves the first use of mathematical techniques in psychology.

psychic tension: Janet's term (1889) for a "mental tonus" comparable to muscular tonus. It is capable of becoming

weak; hence various mental elements become dissociated. This concept was introduced into America by Prince (1905).

psychical research: the application of experimental techniques to the investigation of topics usually included in the real of occultism. *Parapsychology* is the term preferred by many contemporary investigators.

psychoanalysis (psychanalysis): Freud's method for investigating the unconscious (1895). Through free association and dream analysis, the patient is encouraged to overcome resistance and to verbalize all the conflictual material hitherto repressed into the unconscious. In 1903, Freud began the task of systematizing and revising his theories in the Viennese Psychoanalytic Association. In 1909, G. S. Hall invited Freud to present his theories to the academic world (Clark University lectures). Sears (1943) and others have investigated the theories from the standpoint of experimental psychology and thus have effected a closer relationship between Freud's views and scientific psychology than existed during earlier decades.

psychobiology: a term used by Bernheim (1886) to emphasize the importance of dealing with mental as well as with biological factors in diseases. In 1915, Meyer used the term *objective psychobiology* to indicate the relationships which exist between the individual (both mentally and physically) and his environment.

psychodiagnostics: the exploration of the personality by the Rorschach Inkblot Test (1922).

psychodometer: apparatus for measuring reaction time.

psychodrama: Moreno's technique (1938) for assisting the patient to achieve mental catharsis by having him act various roles with alter egos or soliloquize on the stage.

psychogalvanic reflex (P. G. R.): lowered resistance to con-

duction of an electrical current when the person is stimulated by a sensory or an ideational stimulus. Féré (1888) and Tarchanoff (1890) discovered (independently) that there is an alteration in electrical potential between points on the skin in strong emotion. In 1911, the method of measuring changes in resistance to a current was introduced (Wells and Forbes), and the term usually refers to this procedure.

psychogenic: a disorder which is of mental origin. The opposite of *somatogenic.*

psychography: the application of Freudian theories or psychoanalytic principles to a literary characterization of a well-known person.

psychological determinism: the psychoanalytic theory that every mental event has a cause, which is to be found either in the conscious or the unconscious mind.

psychology: the science of mental life, both of its phenomena and of their condition (according to the famous definition by James, 1890). Many short definitions have been proposed, the chief point of agreement among them being that psychology is an empirical science dealing with mental activities and objective behavior. Melanchthon is said to have used the term about forty years before it first appeared in the title of a printed book (by Gloeckel, 1590). Though the era of definitions in terms of the tenets of various schools of psychology has passed, there is still no acceptable single-sentence definition.

psychometrics: a term now restricted to mental testing, but once applied to measurement of reaction time, thresholds, and the like.

psychomotor: a term used by psychiatrists to denote the relationships between the ideational stimulus and the muscular response. Hence *psychomotor retardation* means

that the patient delays making responses to his thoughts or to questions. The term also refers to voluntary (as distinct from reflex) responses to stimuli.

psychoneurosis: in psychoanalysis, the narcissistic and the transference neuroses, which arise from unconscious conflict and which affect the mental and social adjustments of the individual. They are distinguished from anxiety neurosis, hypochondriasis, and neurasthenia (which are the *actual neuroses*). In a more general sense, the term denotes psychogenic disorders which do not warrant institutionalization, but which impair the efficiency of the individual and cause him more or less anxiety.

psychopath: an egocentric, impulsive, asocial individual. The term is variously defined, and the category has been the occasion of much dispute, some writers referring to it as a "waste basket" into which patients who are neither psychoneurotic nor psychotic are placed.

psychopathia sexualis: Krafft-Ebing's term (1879) for all types of sex perversions.

psychopathology: the scientific study of mental disorders.

psychophysical parallelism: the solution of the body-mind problem which was proposed by Leibnitz (1695), and which states that mental and physical activities are unlike but function harmoniously in a parallel manner. This view was revised and adopted by Titchener (1896).

psychophysics: the science which determines the quantitative relationship between the stimulus and the sensation. The "father of psychophysics" was Fechner (1860), who defined the field as the "exact science of the functional relations or the relations of dependency between mind and body." The term is sometimes used synonymously with *experimental psychology.*

psychosomatic: pertaining to both mind and body.

psychosis: any grave mental disorder.

psychotechnology: the application of psychological facts and principles in practical affairs of business or industry. Münsterberg is often called the "father" of this science.

psychotherapy: the treatment of disorders by the use of persuasion, suggestion, educational techniques, occupational therapy, lay or religious counseling, psychoanalysis, and the like. Psychotherapeutic procedures may be used as adjuvant techniques in many disorders and as the principal mode of therapy in others.

psychro-esthesia: the illusion of feeling cold.

pubertas praecox: abnormally premature maturation of primary and secondary sex characteristics.

puberty: the stage of physiological development which marks the beginning of adolescence.

Purkinje, Johannes Evangelista (1787–1869): Bohemian physiologist who observed that the values of colors change in twilight (1825)—the *Purkinje phenomenon*, and who made extensive studies of vertigo.

purpose: a symbolically represented mode of eliminating a motive.

purposive accident: according to psychoanalysis, a slip of tongue or pen which reveals the unconscious.

purposive (hormic) psychology: McDougall's term for a formulation of psychological theories in terms of ends or goals (teleology) of which the individual may have no awareness, but which, nevertheless, are implicit in conation.

pursuit movements: coördinated movements in following a moving stimulus.

pygmalionism: erotic devotion to an object (*e.g.*, a painting or a machine) made by a patient with schizophrenia, paranoid type.

pyknic build: Kretschmer's term (1925) for a rounded physique, which is associated with a cyclothymic temperament. Cyclothymics tend to be gay, contented, friendly.

pyrolagnia: arousal of sexual excitement by fires.

pyromania: setting fires in order to achieve erotic gratifications. According to psychoanalysis, the pyromaniac has a urethral-erotic fixation, and, as a child, was an excessive bed-wetter (Ferenczi, 1926).

pyrophobia: morbid fear that one's residence will catch on fire.



Q: symbol for quartile deviation.

quadrigemina, corpora: four small, rounded protuberances in the dorsal or superior part of the midbrain.

quadriplegia: paralysis of both legs and both arms.

qualitative data: statistics of attributes. Examples of qualitative data are as follows: good, accurate, moderate speed, fairly intelligent, and so on. See *quantitative data*.

quality: the unique attribute which differentiates each sensation from every other sensation (Titchener, 1896). Warm, bitter, loud, red, and the like, are examples of qualities.

quantitative data: statistics of variables. Numbers or other mathematical symbols are examples of quantitative data. In psychological research, the investigator is faced by the problem of quantifying data in order that it may be manipulated by statistical procedures.

quantity objection: James' (1890) term for his objection to the opinion that sensory elements have magnitude (*e.g.*, that "pink is a portion of our sensation of scarlet").

quartile: one of three points on the abscissa of a frequency distribution curve whereby the scores are divided into four equal parts.

quartile deviation: one-half the range between the first and the third quartiles. In the Gaussian curve, the quartile deviation equals the probable error.

querulant paranoia: systematized delusions of persecution which take the form of incessant complaints about alleged mistreatment, lack of appreciation.

questionnaire: Galton's (1883) method for gathering data

about mental imagery, whereby he circularized many contemporary Englishmen to ascertain facts regarding individual differences in images. Hall adopted the method for use in his studies in child and adolescent psychology; Münsterburg derided it.

questionnaire, attitude: a list of planned questions or statements designed to measure attitudes towards a given situation (Thurstone and Chave, 1929).

questionnaire, personality: a list of questions, such as a psychiatrist or a psychological counselor would ask in a face-to-face interview, which is printed and which the subject reads to himself and indicates his answers by checking or encircling his likes, preferences, symptoms, dislikes, and so on. Woodworth (1917) developed the first personality questionnaire.

Quetelet, Lambert Adolphe Jacques (1796–1874): Belgian mathematician who is called the "father of statistics" and who discovered that certain variables are distributed in a curve of theoretical probability. He established the belief that the average man represents the ideal of nature, and hence that deviations are more or less undesirable. See *normative concept.*

Quincke, Heinrich Ireneaus (1842–1922): German physician who discovered that cerebrospinal fluid could be obtained by lumbar puncture, thus facilitating the development of knowledge about the identity between syphilis and general paresis.

Quincke's tubes: a set of whistles for demonstrating different tones.

quintile: one of four points on the abscissa of a distribution curve whereby the frequencies are divided into five equal groups.

quotient, achievement: the measured accomplishment of a

person divided by mental age. The accomplishment is ascertained by a standardized test which gives an achievement age, and the mental age is obtained by means of an intelligence test. When a battery of tests is used to measure general achievement in all subjects within the curriculum, the score may be converted into *educational age*, and the quotient obtained by dividing this age by the mental age is called the *educational quotient*.

quotient, intelligence: mental age divided by chronological age (usually multiplied by 100 to clear of decimals). Esquirol (1828) first used the concept of mental age. Stern (1900) and Terman (1916) introduced the concept of IQ into intelligence measurement.

R

R: response; in psychophysics, stimulus (*Reiz*).

r: Pearson product-movement coefficient of correlation.

Rank, Otto (1884–1939): an early disciple of Freud's who developed many theories of his own, particularly the theory of the *birth trauma* (1923). This theory states that neurotics are individuals who never get over the anxiety produced by the birth experience.

range of consciousness: an introspective term referring to the rhythmical grouping of clicks. Dietz (1885) reported that the range is approximately ten seconds. Other introspectionists have reported the *conscious present* as a single second. Herbart (1816) attempted to work out the problem mathematically.

rapport: an attitude of confidence and trust on the part of a client (counselee or patient) towards the counselor (or psychiatrist). Some psychoanalysts prefer to use the word *transference* to denote the patient's esteem and respect for the analyst.

race psychology: a study of likenesses and differences among various races in such psychological topics as interests and preferences, intelligence-test scores, reaction times, feelings and emotions, aptitudes, sensory acuities, and the like. The first experimental study was made by Woodworth (1904). Many of the early studies were made on Negroes (*e.g.*, Ferguson, 1916) and Indians (*e.g.*, Garth, 1921).

radical: a person who adheres to extreme opinions or unusual views, and who, according to some psychologists, may be compensating thereby for an attitude of inferi-

ority. An extreme radical is said to be unaware of the nature of his motivations and defense mechanisms and to rate low in insight. Like the extreme conservative, he makes extensive use of rationalizations.

rating scale: a technique for objectifying judgments of the order of merit on several traits of personality so that one individual may be compared with others. Heymans and Wiersma (1906) made the first thorough attempt to rate individuals on personality traits, and the Man-to-Man Scale used in the United States Army (W. D. Scott, 1917) is the first major use of a rating scale for practical purposes.

rational psychology: Wolff's term (1734) for a study of the soul and its faculties.

rational type: Jung's term for individuals whose functions are predominately thinking and feeling (as distinct from the irrational type, in whom sensation and intuition are the principal functions).

rationalization: a term introduced by E. Jones (1908) to denote the method of self-justification whereby acceptable, not real, reasons are given for past behavior. It is also used to denote an intellectualized attempt to account for an unconsciously motivated thought or act.

raw score: a score which has not been subjected to statistical treatment.

Ray, Isaac (1807–1881): American physician who developed an eclectic system of psychiatry.

Raynaud, A. G. Maurice (1834–1881): French physician who described a disorder (*Raynaud's disease*) once thought to be psychoneurotic when found in women; the symptoms include circulatory changes in extremities, paresthesias, and astereognosis. It is now considered to be somatogenic, whether occurring in men or in women.

reaction: an integrated pattern of responses to a situation. It differs from a response in that it is more complex, though some writers use the two terms synonymously.

reaction apparatus: a device for measuring the time interval between a stimulus and a response. Studies of this type are often referred to as *reaction experiments*. Helmholtz (1850) was a pioneer in this work.

reaction-formation: a term used in psychoanalysis to denote the psychoneurotic's defense against infantile urges by the adoption of the opposite tendency in conscious behavior.

reaction time: the interval between stimulus and response. The experiments on this important topic were initiated by Helmholtz (1850), Donders (1868), and (particularly) by Wundt (1874).

reaction-type: A. Meyer's term (1915) which includes the following specific psychiatric syndromes: affective, delirious, deteriorated, organic, paranoid, and substitutive.

reaction psychosis: a serious mental disorder precipitated by environmental factors, such as imprisonment or a profound disappointment (Bleuler, 1930).

readiness, law of: Thorndike's principle (1914) which states that when a stimulus-response bond is ready to conduct, for it to do so is satisfying; when it is not ready to conduct, for it to do so is annoying.

reality-principle: according to psychoanalysis, the function of the mature, normal ego in protecting the individual against immediate gratification of a libidinal desire lest there be a painful outcome.

reasoning: the act of thinking in conformity with the principles of logic. Ability to reason is appraised by tests involving syllogisms, verbal analogies, problems in arithmetic, and common-sense judgments. Thorndike (1898) was one of the first to offer experimental proof for the

argument that animals are unable to reason (thus advancing the theory of radical behaviorism). Ruger (1910) concluded that human beings also think by trial and error, and hence that no reasoning occurs. Binet, however, was firmly convinced that reasoning ability is the essence of intelligence (1886, 1905).

reassurance: a technique of psychotherapy in which the patient's self-confidence is restored, and constructive activities are initiated, by a directive type of counseling in which suggestion (direct and indirect) has a large part.

recall: the revival of a past experience. The term is sometimes used to denote the revival of a past experience when a cue or surrogate for the original situation is presented. In a *recall test*, the testee is required to fill in missing words, phrases, or numbers.

receptor: the ending of the sensory nerve which is stimulated by some form of energy (light-waves, sound-waves, thermal, and so on). Each receptor has a low threshold for one particular type of energy and a high threshold for all other types. Histologically, the receptor is the dendrite of an afferent nerve cell.

recessive character: an inherited character which does not develop when balanced by a dominant character, but which may be transmitted through heredity (Mendel, 1866).

recidivism: a return for treatment in a mental hospital or a second conviction after having served a sentence in a penal institution. A *recidivist* is a person who has had two or more returns to the hospital or commitments to prison.

reciprocal innervation: Sherrington's term (1906) for the relaxation in one member of a pair of antagonistic muscles when the other member is contracted.

recognition: the feeling of familiarity when a previously en-

countered situation is present. In a *recognition test*, the testee is required to choose among the various items those which have been presented in lectures or stated in the textbook (usually by indicating *true* or *false*, as the case may be).

recollection: a broad term denoting revival of memory images.

reconditioning: the process of disestablishing a conditioned response, thus reinstating the original response. M. C. Jones (1924) used two methods in reconditioning: (a) experimental extinction (repetition of the substitute stimulus without reinforcement), and (b) associating the stimulus with an antagonistic response.

recurrent images: perseverative visual images which are experienced when the individual is influenced by powerful emotions.

red: the response to light-waves 670–760 millimicrons in length.

red-green blindness: dichromatism.

redintegration: Hamilton's term (published posthumously, 1859) to denote the tendency of each impression to revive in consciousness the whole situation of which it was originally a part. A cue or a surrogate for a broad situation can serve to revive the total response once made to the situation. Thus, he sought to correct the schematized theories of contemporary associationists by emphasizing the factor of total experience.

reduced cues: a theory of learning which states that, as learning progresses, a cue or surrogate acquires potency to elicit a response once attached to a total situation. Finally, an ideational stimulus may redintegrate a complex response pattern.

re-education: the method of restoring a lost function or in-

tegration, as in the case of a multiple personality (Prince, 1905), aphasics (Franz, 1907), or victims of bodily injuries.

referred pain: the localization of a pain in some other area than that which is actually involved.

reflective thinking: according to pragmatists, the logically patterned mental activity which proceeds as follows: a difficulty, definitions, hypotheses, testing the hypotheses and rejecting those which are illogical; and verification (Dewey, 1914).

reflex: an immediate, unlearned response to a specific stimulus. The *reflex arc* includes at least the afferent neuron, a synaptic connection in cord or brain, and a motor neuron. The theory of reflex action was proposed by Descartes (1650); Marshall Hall (1833) and Cabanis (1802) were among the first to relate the concept to the nervous system. Pavlov's work on reflex-action (1890 *et seq.*) has become a standard topic in psychology.

reflex-circle: Bok's term (1915) denoting the tendency for proprioceptors to be stimulated when muscles are contracted, and hence for the response to be a stimulus for another response, and so on. Holt (1931) used the concept and gave it special meaning.

reformism: a paranoidal zeal in advancing one's own views which are compensatory for frustrations and feelings of inferiority, and which are intended to enhance one's own prestige, not to advance the social welfare.

refractory disorders: myopia, hyperopia, aniseikonia, presbyopia, and other ocular defects which are the result of imperfections in the eyeball.

refractory period: the interval during which a neuron or muscle cell does not respond to stimulation. Immediately after excitation there is an *absolute refractory period,*

which is followed by a *relative refractory period.* This phenomenon was described by Gotch and Burch (1899).

regression: according to psychoanalysis, unconscious displacement of libido-outlets to those which were established at an earlier period of normal development. The libido retreats to an infantile or childish localization or love-object in order to escape from frustrations in the present situation of the individual.

regression, filial: Galton's principle (1869) which states that offspring tend to regress towards the average level of the family. For example, the offspring of tall parents tend to be less tall; their offspring, still less tall; and so on, until the average height of the family stock is established. Galton stated this principle as a law of heredity.

Reid, Thomas (1710–1796): Scotch philosopher who taught that there is a "faculty of common sense," through which man knows that both external reality and his own mind exist. He objected to the theory that consciousness is built up by accretions of sensations, and he advocated the theory that consciousness is the primary datum in psychology (1764).

Reil, Johann Christian (1759–1813): Dutch anatomist who investigated the topography of the brain. The *island of Reil (gyri operti)* consists of from three to five gyri at the base of the fissure of Sylvius.

reinforcement: the facilitative influence of one neural pattern upon another, the excitation of the one increasing the intensity or efficiency of excitation in the other.

Reissner, Ernst (1824–1878): German histologist who described the structure of the cochlea. *Reissner's membrane* separates the scala media from the scala vestibuli.

rejection: deprivation of affection. This causes a condition known as *affect hunger* (Levy, 1937).

relapse: the return of a disorder shortly after the period of convalescence or readjustment.

relational thinking: the process of discovering interrelationships among ideas, or the isolation of the essential characteristic which exists among otherwise discrete ideas.

relative pitch: ability to judge differences between successive pitches.

relaxation therapy: E. Jacobson's technique of progressive relaxation (1929), which consists of teaching patients how to relax skeletal muscles and the incipient motor responses found in essential hypertension, the anxieties, stuttering, tics, insomnia, and the like.

release therapy: a technique of psychotherapy in which the child works off anxiety-tensions through the use of play materials (blocks, finger paints, sand box, and the like).

reliability: the consistency or accuracy with which a given test measures a function, or the dependability of the sampling which has been chosen to represent the totality from which it has been drawn. In the study of the individual, the term is applied to the dependability of observations, memory, and the like (*e.g.*, Münsterberg's pioneer studies on the reliability of witnesses).

religious psychology: a branch of psychology (founded by G. S. Hall, 1895) which investigates psychological aspects of conversion experiences (Starbuck, 1897), the psychological basis of belief (Leuba, 1896), revivals (Davenport, 1905), and the like. The first journal in the field was established in 1904; and the founders of religious psychology were often called the *Clark School.*

remembering: the activity of reviving memory images.

reminiscence: as defined by Ballard (1913), the rise in the curve of retention in the first two or three days after partial learning of a poem (or other material). Accord-

ing to Ballard, the rise is not due to review, though many other investigators have attributed the phenomenon to voluntary or involuntary rehearsal during the interim between two tests.

remission: the abatement of the symptoms of a disorder, or the temporary amelioration of an affliction.

repetition-compulsion: according to psychoanalysis, the unconscious tendency to repeat infantile patterns of behavior, even when these repetitions violate the pleasure principle.

replacement: the substitution of psychoneurotic or psychotic ideational trends by wholesome associations stimulated by occupational therapy, recreational activities, nondirective counseling, and the like.

repression: Freud's term (1900) for the unconscious tendency to exclude from consciousness unpleasant or painful ideas. It is a concept of major importance in psychoanalysis; and Freud made a notable alteration in his theory of anxiety, which he first believed to be due to repression, but which he later (1932) believed to be the cause for repression.

reproduction, method of: oral or written restatement of material learned or perceived, the purpose being that of measuring the individual's retention. Philippe (1897) was the first to develop a technique for using reproduction as a measure of the quality and the quantity of retention.

resistance: in psychoanalysis, opposition to revealing the unconscious. The ego and the super-ego, which effected the repressions, seek to keep them in the unconscious; hence there is resistance against any attempt to bring them into consciousness.

resonance theory: Helmholtz's explanation of hearing

(1863), which states that complex sound waves are analyzed in the cochlea. He designated the rods of Corti as the receptors or resonators, some of which vibrate when stimulated by waves of low frequency; others, of middle frequency; and some, of high frequency.

response: glandular, ideational, or muscular reaction to a stimulus. Sometimes, the term is restricted to the motor activity elicited by a stimulus; and *reaction* is used in referring to a complex pattern of responses.

retained members, method of: the measurement of retention by determining the percentage or the number of items which can be correctly reproduced.

retardation: a slight degree of mental deficiency.

retention: the after-effects of a response or an excitation, which may alter subsequent responses or excitations. One of the most important experimental studies of loss of retention was made by Ebbinghaus (1885).

retifism: foot and/or shoe fetichism; the term is derived from the name of a French pervert (Retif de la Bretonne, *c.* 1775).

retina: the innermost membrane of the eyeball which contains (among other structures) the rods and the cones. Kölliker (1854) was one of the first to describe the histology of the retina.

retinal rivalry: Helmholtz's term (1863) for the simultaneous stimulation of the retinas by two different colors or by designs which cannot be fused. The impression is unstable and fluctuating.

retroactive inhibition: inability to recall a list of nonsense materials or rote items when the list exceeds the span or when other learning is interpolated between the end-test and the re-test. G. Müller and Pilzecker (1900) were the first to define it.

retrogression: adjustment to difficulties by reverting to childish or infantile modes of behavior. The term is preferred by some because it does not have the psychoanalytic connotation of *regression.*

retrospective falsification: unintentional distortions and inaccuracies in the reproduction of past experiences. Henderson (1903) investigated the phenomenon and reported the existence of tendencies to symplify, generalize, and distort; and many subsequent investigators have amplified his conclusions.

reversal-formation: the adoption of conscious behavior and affective trends which are the opposite of the unconscious (repressed) impulses, thereby lessening the tensions and anxieties, aggressions and hostilities, or infantile sex wishes.

reversible figure: a perceptual experience in which the same figure is seen in two successive, incompatible perspectives (Necker, 1832). The oldest example is the Necker rhomboid. Lange (1888) was the first to record the times for reversals. Koffka (1930) developed a theory of tridimensional dynamics or fluctuations.

reward: the incentive used to motivate animal and human subjects in experiments on learning. It is used in studies of improvement of human efficiency.

Rhazes (860–930): Arabian physician who was interested in advancing the methods used in treating mental disorders.

rhinencephalon: the olfactory lobe of the brain.

rhinolalia (rhinophonia): a nasal voice.

rho: the symbol for a rank-difference coefficient of correlation.

Ribot, Theodule A. (1839-1916): pioneer experimental psychologist in France (1885). *Ribot's law of regression*

states that in mental deterioration, memory for recent events goes first, and finally only the primitive emotions and childhood memories remain.

ritualistic behavior: stereotyped actions which serve as a defense against anxiety by preserving the fiction of security.

rivalry: competition for dominance status. In sibling rivalry, there is competition for primacy in parental affections, school marks, and the like.

Rivers, William Halse R. (1864–1922): British psychiatrist and anthropologist who (1899) participated in a pioneer psychometric study of primitive people, and who wrote extensively upon the characteristics of the primitive mentality.

rods: a receptor for vision, located in the retina. They were first differentiated by Kölliker (1854), and the theory that they respond to light-waves giving rise to achromatic sensations was stated by von Kries. Rods contain visual purple, which (Parinaud, 1881) is believed to be essential for dark adaptation.

Rolando, Louis (1773–1831): Italian anatomist who described one of the major fissures in the brain (*fissure of Rolando*), which separates the frontal from the parietal lobe.

Romanes, George John (1848–1894): English naturalist who (1882) wrote the first book on comparative psychology (having coined the phrase), and who introduced the anecdotal method into animal psychology.

Romberg, Moritz Heinrich (1795–1873): German physician who noted that victims of locomotor ataxia tend to sway when standing with heels together and eyes closed (*Romberg sign*).

Rorschach, Hermann (1884–1922): Swiss psychiatrist who developed a projective technique (1922) for appraising

personality by a study of the individual's responses to a standard series of inkblots.

rotation: a method of exploring vestibular sensitivity by turning the individual rapidly around (Purkinje, 1820). Mach (1873) devised a revolving chair for these studies, and Goltz (1870) was the first to note that the after-effects of rotation depend upon the semicircular canals (not upon a motion of the brain itself, as Purkinje believed).

Rousseau, Jean Jacques (1712-1778): French philosopher who taught that educational procedures should be based upon the natural impulses of the child.

Royce, Josiah (1855-1916): American philosopher who wrote a text on psychology (1903) from the standpoint of idealism.

Rubin, Edgar: German psychologist who (1912) commenced a study of figure-ground relationships in visual perception. His theories have been incorporated into Gestalt psychology.

Rush, Benjamin (1745-1813): American physician who is said to have founded psychiatry in this country (1812). Not until 1844, however, was there an organization of physicians specializing in mental disorders or a journal in this field. Rush developed methods of calming excited patients by ducking them or by whirling them rapidly.

S

S: (a) the subject; (b) the stimulus.

s: Spearman's symbol (1904) for an individual's special abilities (as distinguished from general ability or *g*).

saccadic movement: the rapid jump of the eyes from one fixation point to another (described by J. Müller, 1826).

saccule (sacculus): a membranous sac in the inner ear, which (together with the utricle) is thought to contain receptors for static equilibrium.

"sacred disease": grand mal epilepsy. Hippocrates is said to have objected to the connotation of this label.

saddle nose: a flattened root of the nose occurring in congenital syphilis.

sadism: a form of sex perversion in which cruelty, ill-treatment, and suffering are inflicted upon the love-object. The earliest form is said to be oral sadism (biting) and both anal and urethral sadism may develop during toilet training. The term has been extended to include any type of pleasure achieved through the infliction of pain upon another. Freud coined the word from the name of the Marquis de Sade (1740–1814), a French novelist.

saggital axis: that which extends from front to back; the dorsoventral axis.

Saint Vitus' dance: chorea.

Salpêtrière: a hospital in Paris where Pinel served as chief physician (1809–1826), and where Charcot (1893) developed his theories of hypnosis and of hysteria. The *Salpêtrière school* (Charcot's theories) taught that hysteria arises from a physical pathology. The *Nancy school* (Bernheim) opposed this opinion, and taught that hys-

teria is psychogenic and that hypnosis is nothing more than the result of suggestion.

saltatory growth: growth by sudden spurts, as contrasted with progressive maturation.

saltatory spasm: clonic muscular spasms which make the patient jump when he attempts to stand erect.

Salzburg meeting: the first scientific gathering at which Freud had an opportunity to present his theories to Bleuler and Jung (1908). Two years later they joined in establishing the International Psychoanalytic Associaation (1910).

sampling: the choice of representatives of the totality to be used in a survey, psychological experiment, or investigation. What is true of the sampling is (if the *sampling error* be avoided) likely to be true of the totality. The sampling error occurs when the sample is not truly representative of the group. The reliability of the sampling is usually expressed in terms of probable error or standard error, and it is generally related inversely to the square root of the number of samples chosen to represent the totality.

Sanford, Edmund Clark (1859–1924): American experimental psychologist who prepared the first laboratory manual in the field (1898).

sapphism: Lesbianism, or female homosexuality.

satisfier: Thorndike's term (1914) for the gratifying outcome of a stimulus-response connection which favors a repetition of the bond.

saturation: a hue produced by a single light-wave; the attribute of chroma at a maximum (Titchener, 1896).

satyriasis: excessive sex desire in a male.

Sauvages, Boissier de (1706–1767): French psychiatrist who specialized in nosology.

Savart's wheel: a device for locating the lower and the upper thresholds for auditory sensitivity (1830). The limits were found to lie between about 8 and 24,000 cycles per second by this method.

saving method: Ebbinghaus's term (1885) for a method of measuring retention. After he had learned some material, he allowed a standard time-interval to elapse, and then recorded the amount of time required to relearn the same material (nonsense syllables).

scala media (cochlear duct): the smallest of the three membranous sacs in the inner ear. It is filled with endolymph, and it contains the organ of Corti.

scala tympani: a membranous sac in the inner ear which communicates with the scala vestibuli at the helicotrema. It is filled with perilymph.

scape-goating: a device used by propagandists in which an individual, group, or race is cited as the reason for the frustrations of those to whom the propaganda is addressed.

scatter diagram: a two-way table (or bivariate frequency arrangement) in which scores on two psychological tests or measures are arrayed. The first use of this device was made by Galton (1885) in his essay on the stature of midparents, and from this technique Pearson and others have developed the method of correlation.

Schäfer, Edward Albert (1850–1935): English physiologist whose schematic illustrations of the histology of the nervous system (1877) frequently appear in textbooks, and who (1900) edited a textbook on physiology containing material on sensory functions.

schema: a frame of reference for the orderly presentation of facts and principles of psychology or any psychological topic. The term is also used to refer to the drawing of a

young child (under five or six) in which habits, not the model, determine the form; hence the model and the drawing appear to be more or less disconnected.

schemograph: apparatus for tracing the outlines of the visual field.

Schilder, Paul (1886–1940): psychiatrist (Austria, later America) who planned to systematize the work of Freud.

schizoid: nonsocial and introverted.

schizophrasia: an incoherent jumble of words, often called a "word-hash," which sometimes occurs in cases of schizophrenia.

schizophrenia: Bleuler's term (1911) to describe a mental disorder characterized by autistic thinking. The term was quickly adopted in America as being more appropriate than dementia praecox (Kraepelin, 1883). The clinical symptoms are varied, but the following are often mentioned: loss of emotional rapport with the environment; negativism or automatic obedience; individual logic in thought processes; and hallucinations. The types often mentioned are: dementia simplex (simple type); catatonia; paranoid; and hebephrenia. This disorder has been explained in various ways. Freud (1911) stated that it is the result of unconscious homosexual trends; Boisen (1936) said that it is based upon conflicts pertaining to an intolerable loss of self-respect; many writers object to the psychogenic theories and uphold the view that it has an organic pathology.

schizothymia: Kretschmer's term (1918) for a condition which in some particulars resembles schizophrenia, but in which the trends are kept within normal limits. The individual is strongly introverted, prefers his own company, engages in daydreaming, and lacks emotional rapport with the environment; but there are no organic

pathologies, hallucinations, or other symptoms of psychosis. The schizothymic has an asthenic (leptosome) build.

Schlemm, Friedrich (1795-1858): German anatomist who described a canal in the eyeball (*Schlemm's canal*) through which the aqueous humor is supplied.

Schneider, Conrad Victor (1614-1680): German anatomist who described the membrane in the nose (*Schneiderian membrane*) containing the receptors for smell.

Scholastics: the philosophers of the 11th century who, by deduction, formulated systems of rational psychology and developed many of the abstract concepts which influenced the history of pre-scientific psychology (before 1879).

"schools": a loose term referring to various and divergent frames of reference in psychology. The term was popularized by the publication of books on conflicting theories (1920, 1930), and particularly by the debate between J. B. Watson and McDougall (1923-1924). At one time, the term "new school" was applied to those who, like Wundt, sought to introduce into psychology the methods of scientific experimentation.

Schopenhauer, Arthur (1788-1860): German philosopher who taught that will is the unconscious driving-force in human nature. Freud adopted some of his teachings.

Schreber case: the record of a German attorney who developed a paranoid psychosis and exhibited strong homosexual interests. Freud studied the case and developed the theory that in the paranoid form of schizophrenia the principal etiology is the repression of homosexuality (1911).

Schrenck-Notzing (1862-1929): German psychiatrist.

Schumann, Friedrich (1863-): German psychologist whose studies on visual space-perception contributed a great deal to Gestalt psychology, especially his illustrations of the manner in which dots are grouped.

Schwann, Theodor (1810–1882): German anatomist who described the medullary sheath (*substance of Schwann*) which surrounds most peripheral and cerebrospinal nerve fibers. The thin membrane on the outside is known as the *primitive substance of Schwann* (or the *neurilemma*); the myelin (white, fatty cells) is known as the *white substance of Schwann* (or the *medullary sheath*). These substances are not found on autonomic fibers.

scientific management: application of psychological techniques to the increase in output in industry. Frederick Winslow Taylor was the first to apply the method (Bethlehem, Pennsylvania, 1881), when he increased the output of pig-iron handlers about 400%. This was once known as *Taylorism*.

sclera: the outermost covering of the eyeball. The *sclerotic coat* is tough and opaque; the cornea is continuous with the sclera and covers about one-sixth of the surface, the sclera including the remaining five-sixths.

sclerosis: hardening of nervous tissues, or a thickening of the walls of the arteries. In *multiple sclerosis*, the hardening process occurs in various parts of the nervous system; and the principal symptoms are as follows: nystagmus, weakness, slurred or monotonous talk, spastic gait, and intention tremors (tremors when voluntary actions are attempted).

scotoma: a dark spot in the visual field, usually due to a lesion in the retina. *Scotomata* may be sensed as a ring around the macula lutea, flashes of light, sparks, dimness, and total absence of visual sensitivity in a certain part of

the field. Their location and extent are mapped by a *scotometer.*

scotopic adaptation: darkness adaptation (Aubert, 1865).

scrabbling: running movements (while in one place) by the rat having an audiogenic seizure (Maier, 1939). It is a part of the running attack which follows the air blasts (Hall and Martin, 1941).

screen-memory: a protective or defensive memory which serves as a concealment for a repressed memory. According to psychoanalysis, this is the reason why recollections of childhood are fragmentary, deal with trivial episodes, and appear in highly condensed form.

screening test: a method of appraisal by psychological tests and measures in order to discover those individuals who should be given a more searching, individual study.

Scripture, Edgar Wheeler (1864-   ): American experimental psychologist who opposed the traditional philosophical psychology (Ladd and others), and who developed laboratory psychology (the "new psychology") at Yale.

scrying: crystal gazing.

seclusiveness: (not to be confused with *introversion*) nonsocial behavior; schizoid.

secondary qualities: Locke's term (1690) for the changeable, subjective qualities which constitute sensation (*e.g.*, tastes, colors, tones and noises, and so on). These qualities exist in the mind of the percipient, not in the stimuli (which have primary qualities—motion, number, size, and the like).

security: according to W. I. Thomas (1918), one of the fundamental wishes, and the origin of mankind's conservatism. Mental hygienists sometimes state that the

pivot of mental health is a feeling of emotional security in interpersonal relationships.

Seguin, Edouard (1812–1880): French psychologist and physician who (1842) established the first specialized curriculum for mentally defective children, and who constructed the first form-board for the appraisal of intelligence. He came to America to establish schools for the training of subnormal children.

selective learning: the process of "stamping in" satisfying responses, and "stamping out" unsatisfactory responses, in the trial-and-error sequence (Thorndike, 1898). The curve of learning represents the process of "learning by varied reaction through selection of the successful variants" (Thorndike).

selective perception: a tautological term (Pillsbury, 1908) denoting the fact that every perceptual activity emphasizes one aspect of a situation to the neglect of others. Some phase of the total situation is in the focus of consciousness; others are on the periphery of consciousness or not perceived at all.

self: the sum-total of all that the individual can call his, including both physical and mental data; and having the following constituents: the material, and social, and the spiritual selves; and pure ego (James, 1890). The term is used to denote the feeling of self-awareness or of personal identity. The pure self is sometimes defined as the soul or the judging thought (James). Calkins (1917) wrote that the self "*is* a mind and *has* a body." The doctrine has no place in objective psychology; but it is a basic topic in *Geisteswissenschaft*, personalistic, rational, and *Verstehende* psychologies.

self-abuse: a popular term for masturbation, which was once believed to be the cause for serious mental disorders.

self-accusation: pathological self-incrimination for minor faults or for fancied crimes, which may occur in anxiety hysteria or in manic-depressive psychosis, depressed type. In *involution melancholia*, the patient may accuse herself of having committed the unpardonable sin; an individual with a strong guilt-complex may talk of his own unworthiness and sins.

self-consciousness: (technically) the awareness of one's own identity as a more or less persisting entity. Popularly, the term refers to embarrassment or lack of self-confidence.

self-deception: the use of various mechanisms (*e.g.*, rationalization) as defenses against self-disparagement. The practice is said by mental hygienists to be harmful and to indicate resistance (*e.g.*, Klein, 1944).

self-observation: a loose term used as a synonym for *introspection*.

self-psychology: a frame of reference which emphasizes the primacy of the *self*, and which states that all mental activities are the manifestations of a *self* (Calkins, 1910).

selenogamia: sleep-walking (so named because it was once believed to be caused by the influence of the moon, *selene*).

semantic aphasia: Head's term (1920) for loss of ability to understand the meanings of words, a condition which results from an organic pathology in the brain.

semicircular canals: three osseous canals, containing membranous sacs, lying at right angles to one another in the inner ear. They are named as follows: *anterior* or *superior* canal; *posterior* or *vertical* canal; and *lateral* or *horizontal* canal. The enlargement of each canal as it leaves the vestibule is called the *ampulla*. They mediate the sense of equilibrium (Flourens, 1824), or the *static sense* (a concept introduced by J. Breuer, 1875). Crum

Brown (1874) did most of the pioneer work on the functions of the semicircular canals in the human ear.

semi-interquartile range: one-half of the difference between the 75 %-ile and the 25 %-ile.

semiotic (semeiotic): pertaining to symptoms.

senescence: old age. G. S. Hall was the first to write on the psychology of senescence (1922).

senile psychosis: shrinking of the brain due to breakdown of neuroglia and atrophy of nerve cells, with such accompanying psychological symptoms as the following: loss of memory for recent occurrences; depression; poor judgment; confusional states; emotional poverty; delusions; and/or analogous disorders. Esquirol (*c.* 1830) and Prichard (1842) were the first writers in the modern period to describe the symptoms. In *melancholia vera*, the principal feature is delusions of sinfulness; in *anxietas senilis*, a great sense of insecurity; and in *depressio apathetica*, a loss of interest in the environment. Shakespeare's *King Lear* is said to present many of the psychological aspects of this disorder.

senium: enfeeblement in old age.

sensation: the state of awareness which results when a sense organ is stimulated, and which cannot be analyzed into any elements (Titchener, 1896). In psychophysics, a sensation is the awareness which accompanies the excitation of the brain (Fechner, 1860), and which, though unmeasurable itself, can be approached indirectly by measuring the differences between stimuli and the strength of any given stimulus correlated with any sensation.

sensation-type: one of Jung's four function-types (1923), in which responsiveness to sensory stimuli predominates. When the sensation and the intuitive functions are strong,

the individual is said to belong to the *irrational* function-types.

sense experience: awareness which results from direct stimulation of sense organs. In educational psychology, the term denotes the type of education for young children which Froebel introduced in 1826 (*sense realism*) to replace or supplement the traditional emphasis upon ideational experience.

sense organ: the receptor and the accessory apparatus considered as one (*e.g.*, the eye or the ear).

sense perception: immediate interpretation or recognition of data present to sense.

sense unit: Fechner's term (1860) for each noticeable difference in stimulus intensities.

sensitivity: responsiveness to stimulation. The term is sometimes used to denote the degree of sensory acuity in the various modalities, and it most often appears in these forms: *vestibular sensitivity* (sense of equilibrium) and *visceral sensitivity* (responsiveness to vague stimuli from the digestive tract).

sensorium: those parts of the cerebral cortex which mediate awareness of direct stimulation of sense organs, and the integrity of which is explored in a neurological examination. Occasionally, psychiatrists use the term to connote the patient's degree of orientation to the immediate environment.

sensory acuity: threshold of responsiveness to various stimuli.

sensory nerve: a nerve fiber which connects a receptor to the brain or the spinal cord.

sensory threshold: the strength at which a stimulus, increased or decreased by constant increments, is just strong enough to elicit a conscious response. The lower limit is RL-l (*Reiz,* stimulus; L, *limen*; *l*, lower); the upper limit is

RL-u (*u*, upper). Weber (1831) was the first to report systematic measurements of sensory thresholds.

sentiment: McDougall's term (1923) for an organized, more or less permanent tendency to experience certain emotions and desires with reference to some particular situation. Hatred, contempt, love, respect, and self-regard are examples of sentiments (in McDougall's psychology).

sequelae: after-effects of a physical or mental disorder.

set: a temporary condition which favors the selection of certain stimuli or facilitates a particular type of response.

sex character: any trait, mental or physical, which differentiates the sexes. Primary sex characters are those which are directly involved in reproduction; secondary sex characters are those which have no direct bearing upon reproductive functions but which differentiate the sexes.

sex differences: those which are found in psychological tests and measures to differentiate the sexes, the traditional debate being whether or not measured deviations in mental tests indicate the existence of inherent differences.

s-factors: Spearman's designation (1904), in the two-factor theory of intelligence, of psychoneural elements which account for success in variable special abilities, and which are differentiated from the *g-factor*, a general factor common and basic to all correlated abilities in the same individual.

shade: any color which lies below mid-gray in brilliance.

"shell-shock": a loose term designating emotional disorganization as a result of prolonged overstimulation in combat (1915). Since analogous conditions were found to exist among non-combatants and civilians, the term was discarded as inappropriate.

Sherrington, Charles S. (1857–   ): English physiologist who contributed to physiological psychology, and who

described the integrative action of the nervous system (1906).

shock therapy: the use of convulsant drugs and electric shocks as palliative or therapeutic measures in some severe psychoneuroses and in certain psychotic conditions. Meduna (1928) started the use of convulsants (metrazol), Sakel (1936) has reported the use of insulin shock, and Berkwitz (1940) initiated the use of electric shock.

sibling: brother or sister, not a twin, of the same parentage.

Sidis, Boris (1876–1923): American psychiatrist who wrote on the psychology of suggestion and allied phenomena. His son was a child prodigy often referred to in the literature on gifted children.

sigma: the standard deviation; also, in psychophysics, one one-thousandth of a second.

sign: a stimulus which serves to elicit a response originally evoked by another stimulus. The term connotes a great reduction of the original stimulus, so that a small part or a surrogate will suffice to redintegrate the response (as in learning to read).

similarity: the characteristic of a group of stimuli which gives them potency to elicit the same, or approximately the same, response.

sinistrality: left-handedness.

sitomania: pathologically strong appetite; bulimia.

situation: a complex pattern of stimuli; every factor which determines the behavior of an individual at any given moment.

skeletal musculature: the striated (striped) muscle fibers attached to the bones and controlled by the central nervous system.

skewness: asymmetrical frequency distribution or frequency curve.

skill: a rapid, efficient performance, mental or physical, which has been learned (*e.g.*, mental arithmetic, golf, and so on).

skin eroticism: according to psychoanalysis, sexual gratification by rubbing or scratching the skin, particularly the erotogenous zones.

skopophobia: paranoidal fear of spies, foreign agents, Bolsheviki, and the like. When not the result of propaganda effects, it may indicate hysteria, schizophrenia, and other disorders.

smooth muscle: unstriated muscle fibers controlled by the autonomic system.

social climate: folkways and mores of a community, state, or nation, particularly those which are not objectively measurable, but which impress the social scientist as constituting the Gestalt of the group.

social facilitation: (A. Mayer, 1903) the mild degree of rivalry which increases the output of an individual in the group; (Allport, 1923) the sight and the sounds of other persons at work, which increase the quality and the quantity of the performance of the individual.

social intelligence: ability to deal with, and adjust to, other persons. Traits considered to be measurable aspects of social intelligence are the following: sense of humor, memory for names and faces, common sense in social relations, recognition of the mental state of the speaker, and common observation of social behavior (Moss, 1927).

social mind: Durkheim's term (1912) for a collective religious consciousness, which, in his studies of Australian

aborigines, he considered to be the basis of religious experiences.

social psychology: study of individual behavior which stimulates, and is stimulated by, other persons, together with a description of such conscious experience as depends upon other persons (Allport, 1923); the study of all those processes which make a socialized being out of the human animal (LaPierre and Farnsworth, 1936).

socialization: the process of becoming habituated (or conditioned) to symbolic action.

sodomy: sexual relations between human beings and animals (Genesis XVIII–XIX). *Bestiality* is a preferable term.

somatic: pertaining to the body.

somatogenic disorder: one which has an organic etiology.

somatopsychic: pertaining to both body and mind.

somesthesia: the vague pattern of cutaneous sensations.

somesthetic area: that part of the cortex of the cerebrum which is transversed by the fissure of Rolando and which extends for some distance back in the parietal lobe. The area was first described by Munk (1881). Campbell (1905) would limit it to the postcentral gyrus.

somnambulism: sleep-walking. In *monoideic somnambulism* (Janet, 1889), the same ritual is carried out night after night; in *polyideic somnambulism,* various conflicts produce varied behavior. Janet considered hysterical somnambulism to be an example of dissociation.

somniloquism: talking in sleep.

sophomania: delusions of omniscience.

sound cage: apparatus for charting the ability to locate the source of auditory stimuli (Matsumoto, 1897). Preyer (1887) was the first to explore the problem of tridimensional localization of sound by using a series of wire

pointers attached to the head of the subject and serving as points for the presentation of stimuli.

sour: established as one of the primary taste qualities by Stich (1857), but omitted from the earlier lists.

Spallanzani, Lazaro (1729-1799): Italian physiologist who studied the regenerative capacity of cells.

spasm: sudden contraction of muscles.

spasmodyspnea: spasms of the muscles involved in respiration, as in stuttering, hysterical asthma, and organic disorders.

spastic movements: those characterized by sudden, intense contractions of muscles.

Spearman, Charles Edward (1863-1945): English psychologist who developed the two-factor theory of intelligence. He taught that a general factor, *g*, is revealed by the hierarchy of correlations and accounts for a part of the individual's achievement in each test; and that a number of special abilities, *s-factors*, are revealed by the inequalities which are found when the individual takes a series of tests of diverse functions. He identified a *p-factor* (mental inertia), which makes it an effort to shift from one task to a different one; and a *w-factor*, which may be identified as the tendency to act upon the dictates of reflective thinking, not impulse.

specific energies of nerves: J. Muller's doctrine (1826), anticipated by Bell (1811), that each sensory neuron is identified with one, and only one, type of sensation, no matter what the stimulus may be; consequently, that each sensory nerve fiber mediates only one sensory process and quality (*e.g.*, the optic nerve, vision; the auditory nerve, hearing; etc.).

specificity: the established relationship between a response and a conditioned stimulus, no other stimulus being

potent to elicit that given response. The conditioned response is in a state of *irradiation* at first, many stimuli being potent to elicit it; after training, however, it is elicited only by the conditioned stimulus (Pavlov, 1890).

specious present: James's term (1890) for the duration (protensity) of a single conscious experience.

spectral scale: the 150 (Titchener, 1896) discriminable hues around the base of the color pyramid, arranged according to just noticeable differences when brilliance is not taken into account.

spectrocolorimeter: apparatus for measuring color sensitivity to isolated spectral hues.

speech disorders: according to the White House Conference data (1931), the following (in order of frequency): oral inactivity; structural disorders in articulation; stuttering; sound substitution; functional disorders of the voice; dilectal; structural disorders of the voice; articulatory disorders resulting from paralysis; aphasia; "hard of hearing" speech; and disorders of the voice resulting from paralysis.

speech center: usually denoting Broca's area (1861).

sphincter control: control of defecation and urination (normally established by the 42nd month).

sphygmomanometer: apparatus for measuring blood-pressure, as in studies of the physiology of emotion (Marston, 1917).

spinal cord: the long, cylindrical column in the vertical canal. The principal ascending fibers are the following: spinothalamic; column of Goll; column of Burdach; direct cerebellar tract; and the tract of Gowers. The chief descending tracts are: the direct pyramidal; the crossed pyramidal; and the extra-pyramidal tracts. Cross-section reveals an H-shaped gray matter. The cord mediates cer-

tain reflexes, and it is the great path of conduction from and to higher centers.

spinal nerves: (in man) the thirty-one pairs of nerves attached to the spinal cord and named (from the area of emergence) aș follows: cervical (8); thoracic (12); lumbar (5); sacral (5); and coccygeal (1). Charles Bell (1807) discovered that the anterior nerve-roots of the spinal cord are motor; the posterior nerve-roots, sensory.

Spinoza, Baruch (1632–1677): Dutch philosopher who developed the *double-aspect theory* (1665), the view that mind and body complement each other (like the concave and convex portions of a curved line). He also taught the doctrine of determinism.

spiritism: the belief in a materialistic survival after death, and hence that spirits can appear, at the behest of mediums, at seances, where they blow trumpets, leave fingerprints, and so on. Modern American spiritism began with the allegedly occult phenomena produced by Kathie and Margaret Fox (1851 *et seq.*). The British Society for Psychical Research was founded in 1882 for the investigation of spiritistic phenomena.

spirograph: apparatus for measuring inspiration-expiration.

Spitzka, Edward Charles (1852–1914): American neurologist who located some major nerve-tracts.

splanchnic: visceral.

Spranger types: Eduard Spranger's ideal fundamental types of individuality (1909); theoretical; economic; aesthetic; social; religious; and political.

spurious correlation: a relationship between two sets of variables which is the result of other factors than those mistakenly assumed to be the same.

Spurzheim, Johann Caspar (1776–1832): an Austrian who developed Gall's craniology (which he named *phren-*

ology), and who (1834) professed to be able to judge the "powers" of the mind by feeling of the "organs" of the mind (*i.e.*, protrusions and recessions in the skull).

staircase illusion: Schröder's reversible-perspective illusion (1858) in which a line drawing of a flight of stairs may be viewed as if seen either from above or below.

standard deviation (sigma): the square root of the mean of the deviations from the mean squared. It is used both as a measure of variability and as a basis for higher operations in psychological statistical work.

Stanford Revision of the Binet-Simon Tests: an individual test of intelligence which Terman and associates developed (1916) from the Binet-Simon Scales (1905, 1908, 1911). It contains ninety items (thirty-six more than the Binet-Simon), and it was standardized on about 2,300 subjects. In 1937 Terman, Merrill, and associates published another revision. Two scores are obtained from these revisions: *mental age* and *intelligence quotient.*

static sense: Flourens' term (1875) for sensations which accompany the stimulation of the semicircular canals, and later applied to the sense of balance.

statistics: the application of mathematical techniques to the manipulation of variables (test scores and the like) as a propaedeutic for induction and inference in an investigation. Galton (1869) was the first to make serious use of methods for quantifying data in psychological research, and then using statistical techniques in classifying them.

Stein, Stanislav Alexander von (1855-): Russian otologist who explored the problem of vestibular sensitivity.

stereognosis: recognition of objects from handling (not seeing) them. *Astereognosis* is indicative of a lesion in the parietal lobe, and hence exploration of this sensory

process is a routine part of a neurological examination (Grinker, 1941).

stereoscope: apparatus for the fusion of disparate drawings or pictures so that they are sensed as tridimensional (Wheatstone, 1838). O. W. Holmes devised the familiar hand stereoscope (1861). It is used in studies of visual depth perception (*stereoscopy*).

stereotype: an emotionalized concept of a race, an individual, a scale of values, and so on, which is not changed by attempts to demonstrate its absurdity or falsity.

stereotypy: purposeless repetition of words and/or actions, as in catatonia.

sterilization: an operation (on human beings) which involves cutting the vas deferens (in males) and cutting or excising the fallopian tubes (in females), and which has been advocated by eugenicists as a means of combatting the "rising tide of the biologically unfit." In 1934 an American Neurological Association committee, appointed to study the matter objectively, brought a somewhat adverse report.

Stern, Ludwig Wilhelm (1871-1938): German (later American) psychologist who developed the concept of the *intelligence quotient* (1912), and who applied the philosophy of personalism to the theory of psychology (1938).

stigmata: gross physical abnormalities associated with (or said to be associated with) abnormal behavior. Lombroso (1876) developed the theory that criminal types can be identified by *atavisms* (recrudescence of morphological characteristics normally found only in savages); Rosanoff (1905) referred to the following as the stigmata of arrested development: microcephaly, macrocephaly, scaphocephaly (keel-like projection from front to back of

skull); and both extreme brachycephaly and extreme dolichocephaly. Charcot (1893) described the stigmata of anesthetic areas and the like, which he believed to occur only in *grande hystérie*.

Stiller, Berthold (1837–1922): Austrian physician who believed that a floating tenth rib is a stigma of neurasthenia and of an intestinal displacement.

Stilling, Benedict (1810–1879): German anatomist who made a study of the structure of the spinal cord.

stimulogenous fibrillation: Bok's term (1915) for the manner in which axons develop from the neuroblasts of chick embryos. An axon grows in the direction of a positive electrical discharge.

stimulus: any form of energy which elicits a response. In psychophysics, the letter *R* (*Reiz*, stimulus) is frequently used as an abbreviation.

stocking anesthesia: Janet's term (1889) for a type of hysterical insensitivity which does not conform to neurological pattern, but which is the result of a process of dissociation.

strabismus: cross-eyedness.

Stratton experiment: reversal of the visual field by a system of lenses (first done by G. M. Stratton, 1896, and repeated by Ewert, 1930), the purpose being that of ascertaining the extent to which bodily orientation furnishes the context for visual perceptions.

strephosymbolia: a rare disorder in which printed material is read as if reversed. When the writing is reversed, the condition is known as *strephographia* or *mirror-writing*.

striatum: the caudate and the lenticular nuclei, which are masses of gray matter at the base of the cerebrum extending into the lateral ventricles.

striped muscles: the skeletal muscles, which under micro-

scopic examinations are observed to have a *striated*, or striped, appearance, and which are involved in adjustments to the external environment.

stroboscope: a device for creating two visual illusions: rapidly moving objects may appear to slow down or to be at rest; successive scenes, differing only slightly from one another, may appear to be in motion. Faraday (1831) and Plateau (1833) were among the first to devise methods of rotating disks in opposite directions or viewing them through rotating slits. It is now used in studies of perception of movement (*phi-phenomenon*).

Strong Vocational Interest Blank: 420 items to be marked *like, indifferent, dislike,* which, when scored according to weights established for various occupations, discover whether a person's interests resemble those of a given occupational group (Strong, 1927). It has been extensively used in research studies and in counseling.

structuralism: the point of view which considers the chief task of psychology that of analyzing the *contents* (Wundt, 1873) or the *structure* (Titchener, 1896) of consciousness. It is the antithesis of *act psychology* or *functionalism*. Mental states are composed of sensations, images, and feelings; and all complex mental organizations can be reduced to certain basic elements.

Strümpfell, Adolph (1853–1925): German physician who taught that hysteria has an organic basis (1892).

Stumpf, Karl (1848-1936): German psychologist who contributed a great deal to the psychology of music (1883), and who was influential in introducing phenomenology into systematic psychology.

stuttering: a disorganization in the rhythm of speech accompanied by tonic spasm of the larynx, abdominal expiration and thoracic inspiration, tremors, prolongation of

certain sounds, and repetition of other sounds. The term is often used to include *stammering* (speech blocking). Many theories have been proposed to account for this disorder, and many diverse therapeutic procedures have been tried.

subconscious: either mental activities which occur on the periphery of awareness or which lie below the threshold of consciousness. The term was popularized by Herbart (1816) and James (1890).

subjective data: those which are not directly accessible to other investigators, and which cannot readily be quantified.

subliminal stimuli: those which are not sufficiently potent to elicit a response.

sublimation: Freud's term (1900) for the achievement of a socially acceptable outlet for a drive. Desexualized, aim-inhibited interests and motives are examples of the sublimation of the infantile libido.

substitutive psychoneurosis: Meyer's term (1915) for a disorder in which conflicts, repressed into the unconscious, manifest themselves in disguised manner.

suggestion: influencing the beliefs or the actions of another person without resort to direct orders (McDougall, 1923). The procedure in suggestion is essentially that of presenting stimuli which build up attitudes, release them, or augment the release of incipient responses, with a minimum of reflective thinking on the part of the individual to whom the suggestions are given (F. Allport, 1923).

sulcus: furrow or groove. The sulci of the cortex of the cerebrum are often used as convenient points for mapping various areas.

Sully, James (1842–1923): English psychologist who

founded a British society for child study (1895), and who wrote some influential textbooks.

summation of stimuli: the cumulative effect of repeated stimulation of a given receptor. In the psychology of advertising, the term denotes the continuous presentation of a slogan or an appeal (*e.g.*, "Eventually, why not now?"). If a single presentation of a stimulus be inadequate to elicit a response, a repetition of the stimulus may have a *summation effect*, and thus evoke the response.

supraliminal: above the threshold.

sweet: one of the elementary taste sensations (Bravo, 1592). Cohn (1914) coined the term *glucogenes* to denote the stimuli for this sensation.

Sweetser, William (1797–1875): American physician who was the first to use the term *mental hygiene* as the title of a book published in this country (1843).

Sydenham, Thomas (1624–1689): English physician who investigated chorea. *Sydenham's chorea* is an infectious disorder with the following symptoms: irritability, involuntary tremors, spasmodic movements, disturbances of emotion, loss of memory, hallucinations, and delirium.

symbol: any stimulus (*e.g.*, object, spoken word, ideational element) which elicits a response originally attached to another stimulus. The term often denotes the redintegration of a response-pattern when a cue or surrogate of the original situation is the stimulus. In psychoanalysis, *symbolization* is the unconscious process in which emotional values are displaced from one object to another, so that repressed wishes may achieve a measure of disguised satisfaction; but the conscious mind is entirely ignorant of the fact that symbols have been employed.

sympathetic nervous system: the thoracicolumbar portion of the autonomic nervous system, which consists of a paired

chain of ganglia and efferent fibers innervating the visceral organs, duct and ductless glands, muscle walls of blood vessels, and so on. Cannon has demonstrated (1929) that when the sympathetic portion is dominant over the craniosacral (*parasympathetic*) portion the following physiological changes occur: inhibition of salivation, acceleration of heart beat, constriction of small blood vessels, acceleration of adrenal outflow, and the like. In short, the body is prepared for an emergency reaction.

symptomatic act: according to psychoanalysis, a slip of the tongue, misplacing objects, lapse of memory, and the like, which represent an unconscious determinant; hence any *purposive accident*. The individual regards these acts as mere chance or explains them as being due to inattention, but actually they are unconsciously determined.

symptomatology: the study of symptoms. Many of the discussions of personality types make use of the terminology of psychiatric symptomatology (*e.g.*, schizoid, cyclothymic, paranoid trends, and so on).

synapse: the functional junction of the axon and the dendrite of nerve cells (Cajal, 1889), the term itself having been introduced by Sherrington (1906).

syncope: a fainting spell.

syncretism: a characteristic of the thinking of young children (Piaget, 1922) in which the demands of objective reality (from the standpoint of the adult) have no relationship to the cause-and-effect, temporal, or spatial relationships which are established.

syndactylism: web fingers or toes (a Mendelian trait).

syndrome: a pattern of symptoms indicating a given disorder; a symptom complex (Kahlbaum, 1874).

synergy: the coördination of motor activities into a unified response pattern.

synesthesia: a phenomenon discovered by Galton (1869) in which the individual has a vivid sensory image when another sensation is aroused (*e.g.*, color imagery when tones are sounded).

syntactical aphasia: Head's term (1920) for a speech disorder (somatogenic) in which the grammatical relationships among words is incorrect and more or less unintelligible.

syphilis: a venereal disease caused by *Spirochæta pallida* or *Treponema pallidum*, which is related, in a way not fully explained, to *locomotor ataxia* and *paretic dementia.*

syringomelia: a lesion of the spinal cord which involves loss of pain and of temperature sensitivity.

systematic psychology: that branch of psychology which deals with the philosophical implications, the postulates, and the unification of psychological facts and techniques.

systematized delusion: an unfounded belief which is made plausible, coherent, and relatively permanent, but which rests upon premises palpably fallacious from the standpoint of the well-adjusted, intelligent person.

systemic sense: the response to interoceptive (visceral) receptors.

systole: the contraction of the heart.

T

T: Rorschach's symbol for responses to the inkblots in terms of animal content.

t: ratio of a score to its standard error.

tabacosis: toxic conditions resulting from excessive use of tobacco, sometimes having concomitant mental symptoms of disorientation.

tabasheer: name of an aphrodisiac.

tabes: pathological condition marked by progressive degeneration of tissues.

tabes dorsalis: locomotor ataxia (disorder of syphilitic origin) due to sclerosis of posterior columns of spinal cord. A mental disorder characterized by hallucinations, delusions of persecution, and general anxiety is a frequent accompaniment of tabes dorsalis.

tabula rasa: term attributed to John Locke (1632–1704) to denote the idea that all knowledge is derived from experience. Although he did not actually use this term in his writings, he did oppose the current beliefs in nativism and he did emphasize the doctrine of empiricism.

tachistoscope: device for rapid exposure of material. A. W. Volkman, German physiologist, described the principles and first used the term in 1859.

tachy-: Greek word meaning "rapid."

tachycardia: rapid heart, as in states of excitement or organic ailments.

tachylogia: unusually rapid talk, as in states of nervousness or in mania.

tachyphagia: rapid eating and swallowing, as in some psychotic states.

tachyphrasia: extremely voluble speech. (Mr. Jingle in Charles Dickens' *Pickwick Papers* would be called a tachyphrasic.)

tactile: pertaining to the sense of touch. Touch is a popular term for the four cutaneous sensations: pressure, cold, warmth, pain.

tactometer: apparatus for measuring sensitivity to pressure on a minute point of the skin.

Talbot-Plateau Law: light-waves from two disks being rotated (beyond point of flicker) fuse into an intensity the same as that which would be sensed if light-waves corresponding to this intensity were directed upon the disks. (Named for William Henry Fox Talbot, 1800–1877, an Englishman who is mentioned as one of the inventors of photography; and Jean Plateau, who (1853) reported investigations on mixtures of light-waves.)

talent: unusual proficiency in some field, such as music, creative writing, or art. Since the ability of a talented individual exceeds that of the average, the assumption is that, if others had an equal opportunity and failed to make comparable achievements, talent depends upon inherent capacity.

talion principle: according to psychoanalysts, the exaction, by the unconscious (or id), of retribution because of repressions enforced by ego and/or super-ego.

talipes: deformed or club foot.

tambour: drum-like apparatus which moves a stylus as puffs of air cause a diaphragm to rise or fall.

tantrum: violent rage.

taphephobia: morbid fear of being buried alive. The fear is thought to be a survival, in folklore, of premature burials which took place during the plagues of the Middle Ages.

tapping test: a simple measure of speed of movement in

which the testee taps a metallic plate with a stylus, the number of taps per minute being recorded by a counter. It is often used as one of the tests in studies of effects of caffeine, tobacco, alcohol, sleep deprivation, and the like.

tapping test, Knox's: a measure of attention or memory span in which four cubes are touched in various orders of difficulty (*e.g.*, 1-4-3-2; 1-3-2-4-3-), the testee to repeat immediately the pattern given. The test was developed by H. A. Knox as a nonlanguage test for use at Ellis Island (*c.* 1914).

Tarde, Gabriel (1843–1904): French sociologist and criminologist who wrote *Laws of Imitation* (1890), a book which led early workers in social psychology to emphasize the so-called instinct of imitation as the basic principle in social life.

Tartini, Giuseppe (1692–1770): Italian musician who discovered the difference tone. If two notes are sounded continuously and intensely, a third note is heard, the vibration frequency of which is the difference between the frequencies of the two notes sounded. This phenomenon is known as *Tartini's tone* or the *difference tone.*

taste: the sense of gustation, the receptors for this sensation having been discovered by Schwalbe and Loven (1867). Taste is generally considered to be a chemical sense; hence the receptors have been called *chemoreceptors.* Sir Charles Bell (1774-1842) described the papillae (1803) and W. Horn observed that diverse sensations arise from stimulation of different papillae (1825).

taste adaptation: gradual loss of taste discrimination as a result of continued stimulation of the papillae by a given substance.

taste tetrahedron: Henning's graphic representation (1921) of the theory that there are four salient tastes: sweet,

sour, bitter, salty. Between each of any two of these, there are other salient tastes, the basic four merely being the "corners" of the tetrahedron.

tarantism: in the seventeenth century, thought to be a mental disorder caused by the bite of the tarantula. *Tarantism* was possibly a manic condition or hysterical excitement, and the psychiatrists of that time were concerned to define a specific cause for each mental disorder, tarantula bite having been chosen as the etiological factor in these conditions. The Italian anatomist Baglivi (1668–1707) is said to have coined the term.

tau-effect: judgments of the distance between two lines exposed successively for short intervals depend upon the length of the time lapse.

taxis: Verworn's term to denote simple responses to simple situations, as among lower animals.

Taylor, Frederick Winslow: pioneer in applying the principles of efficiency to industrial operations. His demonstration at the Bethlehem Steel Plant, in which he increased the output of a pig-iron handler by about 400%, is mentioned as the first application of scientific management-techniques in industry (1885).

Tay-Sachs' disease: amaurotic family idiocy, which is an inherited condition of partial or complete blindness together with extreme mental deficiency.

Td: Rorschach's symbol for responses the content of which is animal detail (*Ad*).

technical term: that which is employed in a restricted denotation in a science, whereas in general usage it has a wider connotation; or that which does not occur in general usage at all, the term being restricted entirely to a given field of science. "Touch," for example, is a term which has no place in scientific psychology, as E. B.

Titchener has pointed out; but it has a wide usage in popular speech. "Talent" is a term which has a more restricted denotation in psychology than it has in daily speech. "Telencephalization" is a term which would scarcely ever be heard in ordinary discourse, but it has a technical denotation in one phase of psychology.

technique: the procedure for carrying out a psychological experiment or investigation. It includes the selection and use of appropriate apparatus, the selection of a random sample of cases, the manipulation of the data by statistical procedures, drawing conclusions, verifying the results, and preparing the summary or report.

techtorial membrane: the thick membrane which overlies the organ of Corti (in the inner ear).

teichopsia: temporary dullness of vision (such as that occurring in excessive use of tobacco), often with accompanying visual images of subjective origin.

telekinesis: according to occultists, the mysterious power whereby objects at a distance are moved, allegedly without the interposition of any connivance or deceit.

telencephalization: Tilney's designation of the theory that the brain structure last to appear in evolution dominates the functions localized in brain structures which were of earlier phylogenetic origin. The doctrine also implies that the latest part of the brain to be developed in evolution has an unstable control over functions which are based in lower centers.

teleologic hallucinations: Bleuler's term for hallucinations which warn the patient of ill to befall or which give helpful advice. Such hallucinations are said to reveal the fact that sometimes the "voices" have a relationship to other mental content, such as persistent difficulties or problems of adjustment.

teleology: the doctrine that all nature shows a progressive adaptation towards the achievement of higher ends and purposes. In psychology, this doctrine was upheld by William McDougall (1871–1938), who vigorously opposed the mechanistic emphasis of American psychologists and who upheld the theory of purposive causation.

teleostereoscope: apparatus consisting of a series of mirrors which produce an effect as if the eyes were set farther apart. Objects then appear in relief and at close range. It is an adaptation of the stereoscope, invented by Wheatstone (1838).

telepathic experiments: the studies of extra-sensory perception carried out by J. B. Rhine since about 1927 (also known as the Duke University experiments). The experimenter looks at a card, and the subject attempts to "sense" what the card is. In the pack of 25 cards, five designs are used; hence "hits" consistently above chance expectations are said to indicate a paranormal situation.

telepathy: transmitting thoughts from one person to another without any known sensory capacities being involved. William James was greatly interested in telepathy, but he never gave it his full endorsement. Much of the literature on this topic consists of anecdotes and hearsay evidence; consequently, many psychologists include telepathy under the heading of vagaries of belief.

telephone theory of hearing: colloquial term referring to the theory advanced by Rutherford (1886–1887) that the impulses initiated in the ear by sound waves are analyzed in the brain. It was advanced to overcome some of the difficulties present in the "piano theory" of Helmholtz.

telepsychic: a term used among occultists to designate an alleged capacity for knowing future events or for being able to predict outcomes of present events.

telesthesia: allegedly paranormal capacity for responding to stimuli which are below the threshold for normal persons. Some occultists claim to have "x-ray eyes" or to make use of "electrical waves."

telic: pertaining to the accomplishment of ends or purposes.

telodendron: the arborization of the axon of the neurons.

temperament: the more or less stable effective pattern characteristic of an individual. It is revealed by one's susceptibility to emotional stimulation, by reaction time, by strength of responses, by quality and intensity of moods, and by all that is subsumed under "emotional nature"; and it is very largely a matter of inheritance (G. W. Allport, 1937). According to Hippocrates (*c.* 400 B.C.), there are four basic temperaments, with corresponding humors; choleric (yellow bile), melancholic (black bile), phlegmatic (phlegm), and sanguine (blood).

temperature illusion: the experience occurring after one hand has been immersed in hot water and the other in cold water, and then both hands are placed in tepid water, the illusion being a reversal of judgment. The water feels cold to the hand that was in hot water, and hot to the other hand. John Locke (1632–1704) described this illusion.

temperature sense: referring to "cold spots" and "warmth spots" located on the surface of the skin. Charles Bell (1803) commented briefly upon them, and Blix (1882) and Goldscheider (1884) experimented by applying blunt-pointed rods to minute areas of the skin, thus locating areas of sensitivity to warmth and cold.

temporal lobe: the portion of the cerebral hemisphere which lies below the fissure of Sylvius and in front of the exoccipital fissures.

temporal sign: an episode which can be recalled and hence

which facilitates recall of other events occurring closely before or after that time. Temporal signs are used in hypnotic studies of regression, the subject being told to revive a recollection of a known episode and thus to recall other (apparently forgotten) experiences which took place near that time.

tendinous sensation: awareness of tensions in the tendons.

teniophobia: morbid fear of tapeworms. (*Tæniphobia.*)

Tenon's capsule: the socket within which the eyeball is set. It is named for Jacques René Tenon (1724–1816), French anatomist.

tension: a general term denoting upsets in complacency or optimum balance, an emotional upheaval being the principal characteristic of hypertensions. Anxiety, irritability, incoördination, and hyperactivity are common symptoms of upsets. The basis of tension lies in the activity of the sympathetic portion (*thoracico-lumbar*) of the autonomic nervous system (Cannon, 1929; Kempf, 1918). Physiological and psychological tensions are said to be the results of such conditions as unsolved problems, continued frustrations, sudden and intense stimulations, and prolonged worry. According to psychosomatic medicine, unresolved tensions may have a deleterious effect upon health.

tension-relaxation: Wundt's term for one of three dimensions of feeling. Tension rises as an event is about to happen; it relaxes after the event has occurred.

terminal inhibition: cessation of a muscular response when the antagonistic muscle is stimulated.

Terman, Lewis Madison (1877–   ): American psychologist best known for revisions of the Binet-Simon Scale (1916, 1937); director of a study of genius.

terrors: intense fears caused by relatively minor external

stimuli. Night terror (*parvor nocturna*) may signify intense mental conflicts or a health problem.

test: any procedure whereby a score is obtained for a performance, mental or physical. Tests are classified in diverse ways, such as form or pattern of items, purpose, content, and manner of construction. Essay-type tests are the traditional devices for measuring achievement in various branches of the curriculum. New-type tests are objective, impartially constructed, easily scored measures of achievement. J. M. Rice (*c.* 1895), an American schoolman, was one of the first to objectify the achievement test. Intelligence tests (Binet, 1905) measure capacity to learn. Literally, thousands of tests of various psychological traits have been published in America, especially since 1918.

testes: two glands in the scrotum which secrete spermatozoa.

tetanus: a disease causing convulsive seizures, muscular spasms, and heightening of reflexes.

tetanoid-type: Walther Jaensch's term for a psychoconstitutional make-up which, though not pathological, resembles in a superficial way the victim of tetanus.

tetrachromatism: normal color vision from the standpoint of the Hering theory; hence the capacity to distinguish red, green, yellow, and blue. See *trichromatism*.

tetrad differences: the earliest method of factor analysis, which was developed by Carl Spearman (1912) in his studies of the two-factor theory of intelligence. The method is of importance because it represents the pioneer investigation into the nature of intelligence by statistical procedures and because it opened up a field of research in which American psychologists have made many contributions.

thalamus: the ovoid mass at the base of the cerebrum. Injury

to the ganglia on the ventral side beneath the thalamus (hypothalamus) has long been recognized as an etiological factor in pathologies of emotion. When the hypothalamus is impaired (as by a tumor), the individual is apathetic. When the hypothalamus is intact but when the thalamus is impaired, the individual is very excitable. Cannon (1929) advanced the hypothesis that it is the "center" of control in emotions, and Masserman (1943) has reported experiments on animals which seem to offer support for this view.

thanatos instinct: according to psychoanalysis, the urge to destroy or to injure one's self. It is the antithesis of the *eros instinct* (life), and is one of the most important polarities in the psyche. Self-mutilation, the talion principle, and suicide are said to illustrate the workings of the thanatos instinct.

thanatomania: neurotic obsession for attending funerals, visiting cemeteries, or reading obituaries.

thanatophobia: morbid dread of death. A thanatophobic, for instance, might not permit anyone to mention the subject of death in his hearing.

thaumatrope: apparatus consisting of figures on opposite sides of a rotating plaform which blend into one figure. When the rotation ceases, the figures may continue to appear to be blended, thus furnishing an index to the persistence of the terminal lag of the sensation.

theelin: hormone from the ovary.

theism: any belief in the existence of God or a deity. According to some psychologists, philosophical and theological concepts have hampered the development of the science (*e.g.*, J. B. Watson, 1919). Others would draw a line between metaphysical issues (*axiological propositions*) and scientific descriptions (*existential propositions*), thus

avoiding arguments about theism. Rational psychology (stemming from Thomistic philosophy) would keep theistic views as a central problem in psychology.

theomania: morbid concern about religious cults and emotionalized modes of worship. In extreme form, a deluded person may believe that he is God or that he has been selected as the founder of a "true" religion.

theopathia: belief that medications and surgery are of no value, but that prayer alone will effect cures.

Theophrastus (*c.* 300 B.C.): Greek philosopher who described, in crisp style, thirty "types" of personality. He is said to have been the "father of literary characterology."

theory: a statement of the relationships among observed data which is tentatively accepted but not finally demonstrated.

therapeutics: the division of medicine which deals with the treatment of disease. Psychotherapeutics deal with clinical techniques for treating mental difficulties, and the principles are usually subsumed by the term *mental hygiene*. Techniques of changing attitudes, of inducing relaxation, of engrossing tasks, of directive or nondirective counsel, psychoanalysis, persuasive methods, or seeking to alter the environment are a few of the procedures used in psychotherapeutics.

thermal sensitivity: response to stimuli which induce awareness of warmth or cold. Max von Frey (1895) discovered "warmth" and "cold" spots in minute areas of the skin. Altruz (1896) found that "hot" is the result of stimulation for warmth, cold, and pain.

thermalgesia: painful response to stimuli for extreme warmth or heat.

thermesthesiometer: apparatus for measuring sensitivity to warmth and heat. Thunberg (1896) was the first to

devise a grid for congruent stimulation of warmth and cold areas on the skin surface.

thermohyperesthesia: abnormal sensitivity to fluctuations in temperature.

thermohypesthesia: abnormal insensitivity to changes in temperature.

thigmesthesia: sensitivity to pressure stimuli. "Touch" sensitivity is most acute on the "windward" side of hairs. Research has failed to identify a specific type of nerve cell which is the receptor for thigmesthesia.

thigmohyperesthesia: neurotic or organic disorder in which one symptom is a complaint about the weight of clothing or about the bed covers.

thinking: (1) problem-solving behavior, involving a delayed response until after various possible courses of action have been considered; (2) implicit speech behavior; (3) the process of generalization from specific experiences; (4) phantasy-making, or daydreaming; (5) the reorganization of past experiences into novel combinations, whereby new and untried possibilities for behavior are explored. The term is used in a great variety of connotations and implies a frame of reference in the theory of psychology. In general, it subsumes three distinct types of mental activity: free associations (stream of consciousness); reflective (logical) thinking; and creative thinking.

thirst: awareness of dryness in mouth or throat, resulting from tissue lacks. A. von Haller (1747) was one of the first to analyze this sensation.

Thorndike, Edward Lee (1874-): one of the pioneer American students of animal psychology and a leading contributor to the field of educational psychology.

thought-reading: according to occultists, the power of apprehending, without the use of known sense organs, the

contents of the mind of another person. It also refers to the ability to judge what a person is thinking of by noting subdued muscular activity (*muscle-reading*).

thought-transference: according to occultists, the ability to communicate with another person by use of supernormal powers.

threshold (limen): term first used by Herbart (1816) to denote the point at which ideas rise into consciousness. Fechner gave the term its modern denotation by applying Herbart's concept to measurements of the magnitude of stimuli which elicit sensations (1860).

threshold, absolute: Fechner's term for the magnitude of a stimulus which is necessary to elicit a sensation. Sound waves of 10 double-vibrations per second, for example, are below the absolute threshold for audition.

threshold, differential: Fechner's term for the magnitude of difference between two stimuli necessary to give a sensation of twoness. See *Weber-Fechner law.*

thymia: the general sphere of feelings and emotions, moods, and temperament. The following terms are rarely used: *agriothymia:* savage or uncontrolled affects; *athymia:* lacking in all warmth of emotional response; *barythymia:* crudity of affects; *parathymia:* warped or distorted affects. The following are frequently used: *cyclothymia, hypothmia,* and *schizothymia.*

thymus gland: an endocrine gland lying in the upper part of the thorax and the throat which gradually atrophies about the time of puberty. Its function is uncertain, and it is often referred to as "the gland of childhood."

thyroid gland: an endocrine named from its fancied resemblance to a shield (Greek) which lies anterior to the trachea. Hypofunctioning of the thyroid gland leads to cretinism and myxedema; hypertrophy of this gland leads

to or is associated with a disorder known as *exophthalmic goiter.*

tic: (1) an involuntary jerking of a small group of muscles; (2) habit-spasms, such as blowing upon the fingers, facial grimaces, or clearing the throat. Tics may be due to organic factors, such as extreme fatigue, drugs, and the like. They are often due to psychogenic factors, such as purposeless, unintentional jerks, twitches, and the like, which are in no way adjustive to the situation confronting the individual.

timbre: the qualitative characteristics whereby different voices and musical instruments are differentiated, even when the same fundamental tone is used. The accompanying sound-waves (overtones) and the adventitious sounds (rasping noises) make up timbre.

time sense: referring to one of the classical controversies of 18th and 19th centuries regarding *a priori* vs. *a posteriori* perception. Kant, for example, upheld the doctrine of nativistic time-sense; whereas Locke advocated the empirical concept. At one time, the nativistic-empirical controversy was a central issue in discussions of time and space perceptions.

tinnitus aurium: subjective noises in the ear, such as those caused by air-pressure differences between the middle and the outer ear, impacted cerumen, changes in the endolymph of the inner ear, and the like.

tint: the result of an admixture of white with a primary or an intermediate hue. See *color pyramid.*

Titchener, Edward Bradford (1867–1927): American psychologist (born in England) who systematically worked out, by experimental analysis, the elements of consciousness and who sought to make psychology as exact a science as physics. In 1915 he revised his point of view re-

garding the primacy of elements of consciousness ("sensationistic elementarism").

tobaccoism: toxic condition resulting from excessive use of tobacco.

tolerance: the amount of a given stimulus which can be endured without pain or without a withdrawal response. The term also refers to the amount of drug (caffeine, alcohol, etc.) which can be ingested without appreciably affecting physiological or psychological functions.

tonal islands: areas within the field of auditory stimuli which do not elicit a sensation. Inacuities may exist in a limited range of sound-waves, but the ear may function normally in other ranges. (Helmholtz, 1862).

tonal pencil: Titchener's diagrammatic representation of a spatial aspect of tone, designed to illustrate the fact that deep tones seem to be large; middle tones, more or less the same size; and high tones, thin (1896).

tonaphasia: loss of ability to carry a tune, as a result of cerebral lesion.

tone: periodic vibrations of sound waves evoking an auditory sensation with more or less well-defined attributes. The distinction between tones and noises is not wholly within the realm of physics, however, since Helmholtz pointed out that the noises of one generation may be the tones of the next in the history of music. Titchener (1915) differentiated three attributes of tones: pitch, volume, and octave similarity; other psychologists have described other attributes.

tone-deafness: inability to judge differences among the sequential pitches of tones; hence inability to enjoy music. Once considered to be the result of organic disability, it is now believed, in certain cases, to be caused by lack of training or indifference.

tonic spasm: sudden, intense contraction of a muscle or group of muscles.

tontriphobia: intense fear of thunder.

tonus: muscular tension. The opposite of tonus is *flaccidity*.

topoalgia: neurotic localization of pain, as in a region where no organic cause for the discomfort can be found or where the distribution of the sensory nerves does not justify the complaints.

topography, mental: the psychoanalytic description of regions of the psyche, whereby the conscious and the unconscious minds are delimited and whereby the id, the ego and the superego are separated. These concepts are said by their proponents to be useful metaphors.

topological psychology: Lewin's point of view in which concepts of geometry and vectors are used to describe the individual in his environment. Negative and positive forces repel or attract the individual within a given life-space; hence diagrammatic representations may be used to describe any individual at any time.

topothermesthesiometer: apparatus for measuring the degree of sensitivity of various areas on the skin surface to stimuli for warmth.

torpor, initial: the warming-up period necessary before undertaking a task. Presumably the reduced output at the commencement of a task is attributable to such factors as persistence of interrupted activities, different mental sets, and the like.

torsion: a twisting movement.

torso: the trunk.

torticollis: a twisted neck, as in a catatonic posture, an organic disorder, or a neurotic pose.

totem: the animal regarded by savage tribes as the carrier of the spirits of the deceased. Freud (1904) traced sur-

vivals of totem-worship in modern times and described a similarity between primitive culture and practices of neurotic or psychotic adults.

touch: a popular name for the cutaneous sensations of cold, warmth, pain, and, especially, pressure. Titchener refers to three degrees: contact, pressure, and granular pressure (1896).

toxanemia: anemia resulting from poisonous substances in the body; hence a condition which would lower efficiency in mental or physical work.

toxicomania: frenzied determination to commit suicide by taking poisons.

toxiphobia: morbid fear that enemies are trying to poison the individual.

trace reflex: Pavlov's term for a conditioned reaction produced when the substitute stimulus is given some time before the adequate stimulus in the training, and hence when the substitute stimulus is followed, after a pause, by a weak response. Pavlov reports that he was able to establish delays as long as five minutes in dogs (1927).

tracheophyma: goiter.

tract: a more or less well-defined group of tissues, such as the columns of the spinal cord or a nerve.

trade test: a series of brief questions or a relatively simple task designed to indicate whether an applicant possesses the knowledge or skill which he claims to possess. Trade tests were introduced by the United States Army in 1917.

trait: a distinctive pattern of behavior which is more or less permanent; hence a group of habits, such as persistence, introversion, accuracy, and the like.

trance: a sleep-like condition induced by drugs or hypnosis.

transfer of training: the improvement in an unpracticed function which is supposed to result from practice in an-

other function. Thus, the study of Latin is said to have a *transfer effect* upon ability to speak and write the vernacular. Thorndike and Woodworth (1901) emphasize the factor of identical elements as the cause for what appears to be a transfer automatically taking place; Judd (1902) found evidence for mentioning the factor of *generalization* in transfer.

transference: displacement of the libido from an infantile love-object to some other object or person, especially the psychoanalyst during the course of treatment.

transference, negative: displacement of resentment against some one, especially the parents, towards the psychoanalyst during the course of treatment.

transmute: the process of converting raw scores into meaningful equivalents by reference to a table of norms.

transnormal: according to occultists, the capacity for gaining knowledge or for performing acts which transcend the abilities of normal persons.

transplantation experiments: the transposition of tissues, as in the newborn animal, from one part of the body to another, the object being to observe whether the transplanted tissue develops into the same type of tissues as already exist in this region.

transposability of Gestalten: the exchange of one *Gestalt* for another.

transposition: the exchange of one letter or word for another. Dunlap (1932) describes the technique of *negative practice* for overcoming a habit of transposition.

transvestism: the adoption of clothing and mannerisms of the opposite sex.

trauma: a wound or injury. The term is extended to include mental shocks, severe disappointments, and tragedies as well as bodily injuries.

traumatic experience: one which has a more or less permanent and devastating effect upon one's self-confidence or self-esteem.

traumatic delusion: one which is developed as the after-effect of a head injury.

traumatic psychosis: a severe mental disorder which ensues from an injury to the brain.

tremor: very slight convulsions in the striated muscles; shaking movements.

tremograph: apparatus devised by Jastrow to record the involuntary trembling which accompanies certain forms of stimulation. The usual form of the apparatus consists of a glass plate mounted on bearings, the subject's arm being placed on the plate.

Trendelenberg, A. F.: German professor of philosophy who (*c.* 1860) interested Brentano in the teachings of Aristotle and thus exercised an indirect influence upon modern psychology.

triakaidekaphobia: fear of the number 13. Sometimes this term is cited as a humorous example of the older custom of building up a long list of phobias by using various Greek prefixes.

tribadism: production of the orgasm by friction without the insertion of the penis into the vagina. Also, friction between two females.

trichoesthesia: awareness in response to the touching of a hair.

trichoesthesiometer: apparatus for determining the threshold for sensation when a hair is touched.

trichotillomania: frenzied tearing of the hair, as in certain types of psychoses or conditions of hysteria.

trigeminal nerve: the fifth (and largest) of the cranial nerves, containing both sensory and motor fibers.

tristemania: depressed moods. (*Tristimania*).

tritanopia: a condition of color-blindness marked by inability to sense light-waves for violet. According to Helmholtz (1852), there are three types of cones in the retina which are especially responsive to red, green, and blue (violet), respectively; hence *tritanopia* refers to an absence or malfunctioning of the third type of cones.

trochlear nerve: the fourth cranial nerve.

trophic functions: those which are concerned with assimilation, digestion, and nutrition.

tropism: Loeb's (1918) term for forced movements induced in the cell by stimulation. This concept was offered as a mechanistic explanation of behavior; hence as a means of avoiding anthropomorphism. The stimulus (some form of energy) induces chemical reactions in the protoplasm of the cell, and thus approach-avoidance behavior ensues. (De Condolle, 1835, introduced the term.)

tropometer: apparatus for measuring the rotations of the eyes.

T-scale: McCall's (1922) arrangement of test scores on a 100-unit scale, each unit being 0.1 sigma of the distribution and the mean of the distribution being set at 50, with a standard deviation of 10.

T-type: Walther Jaensch's term for a personality type which, supposedly, resembles the effects of parathyroid dysfunction.

tubercle, Darwinian: a rounded or pointed eminence on the upper part of the outer ear which, theoretically, resembles the quadriped ear; hence it was once taken to be a sign of atavism or "throw-back" to an earlier stage of evolution of the human species.

tumor: a mass of tissues having no physiological function but often disrupting the functions of normal tissues. Intra-

cranial tumors are causative factors in many disruptions of mental activities. In the diagnosis of certain types of brain tumors, electroencephalography is used.

Twitmeyer, Edwin Burket (1873–1943): American psychologist who (1902) reported the conditioned knee jerk (independently of the work of Pavlov).

tympanic membrane: the drum-like membrane separating the outer from the middle ear.

types of personality: the doctrine that personalities differ qualitatively as well as quantitatively, and that individuals tend to fall into more or less well-differentiated categories. Many doctrines of types have been expounded by theorists. Following the early work on mental tests, it was an accepted dogma of psychology that all differences among people are quantitative; but, with the rise of Gestalt psychology, the dogma of qualitative differences has been revived.

typology: the point of view that individuals fit into more or less well-defined biosocial categories. Kraepelin's (1899) classification of psychoses established the practice of using psychiatric symptomatology in delineations of non-psychiatric expositions of personality types; hence terms like *cycloid, schizoid* and *paranoid* have a wide vogue. The rise of an intense enthusiasm for a nationalistic psychology in Germany (1933 *et seq.*) popularized the doctrine of racial types in certain quarters.

U

Ucs: commonly used by psychoanalysts as the shortened form of *unconscious mind.*

Uexküll, J. von: German psychologist who, with Th. Beer and A. Bethe, proposed (1899) that psychology dispense with mentalistic terminology.

ulnar muscle: muscle on inner side of forearm, frequently used as an area for experiments in touch localization.

ulnar reflex: response when tendon of bent forearm is struck; hence not strictly a reflex.

ululation: animal-like groans and cries of some mental defectives, hysterical persons, and psychotics.

Umweg: roundabout or circuitous.

uncinate hallucinations: taste and smell hallucinations, usually unpleasant, caused by pathological condition in the uncinate gyrus of the hippocampal convolution of the temporal lobe.

uncinate seizures: convulsions caused by organic disease in the uncinate gyrus.

unconditioned stimulus: in the Pavlovian experiments, that which "naturally" elicits the response. Food in the mouth of a hungry dog, for example, is the unconditioned stimulus for the parotid reflex. The sound of the buzzer or the bell is the unconditioned stimulus for an auditory response.

unconscious: a loose term connoting activities which proceed without concomitant awareness, such as digestion, pupilary reflexes, or heart beats. In the older discussions of habit, references were made to the automaticity of well-

established habits, no conscious control being considered necessary to maintain them. The adjective has a mentalistic connotation; hence it is not used by objectivists.

unconscious mind: a troublesome and controversial term used, metaphorically, by psychoanalysts to subsume the basic drives, repressed ideas, and unwelcome impulses; it is the part of the psyche in which the id reigns supreme and which is dominated by the pleasure principle. Free associations and dream analyses are said, by psychoanalysts, to be the royal road into the unconscious mind. The doctrine of the unconscious mind was advanced by Sigmund Freud (1856–1939) in his early writings, especially in *The Interpretation of Dreams* (*Die Traumdeutung*), 1900. Among the philosophers who anticipated this doctrine was Eduard von Hartmann (1842–1906). Objective psychologists either omit reference to the unconscious mind or account for it in terms of implicit speech behavior or unverbalized behavior.

undoing: the process whereby, according to psychoanalysts, the unconscious mind seeks to wipe out painful thoughts and memories.

unicellular organisms: those which have but a single cell. *Protozoa.*

unilateral: affecting or pertaining to one side. Opposite of *bilateral.*

unimodal: a frequency curve with a single mode or peak.

unintentional act: according to psychoanalysts, an act which, though consciously unintended, really expresses an unconscious wish.

unintentional humor: psychoanalytic theory which holds that amusing slips of tongue are releases for unconscious, repressed tensions. The humor, usually having double meaning, resolves or reveals thwarted sex trends. Condensation

and displacement occur in unintentional humor, just as they do in dreams.

unproductive mania: excitement and hyperactivity without the flight of ideas which usually accompanies mania.

unstriated muscles: smooth muscles; often called the involuntary muscles.

upset: loss of complacency. According to Eugenio Rignano (1870–1930), the drive to action is an upset in the optimum balance; the end or goal of behavior is the drive to maintain or regain balance.

uranism: homosexuality. Karl Heinrichs coined the term in 1862, denoting the male homosexual *uraning* and the female *urinde*.

urethral eroticism: sexual pleasure by the male in urination. According to psychoanalysts, the male can experience greater pleasure from the act because the urethra is about 8 to 9 inches long in the male; in the female, it is only about 1½ inches long.

urolagnia: type of sex perversion in which pleasure is derived by urination or by watching others urinate.

uterine theory: a point of view attributed to Hippocrates (460–359?) which states that the uterus wanders about the body of the female, hence causing mental and physical difficulties which do not occur in males. For a long time, it was believed that hysteria is exclusively a female disorder (the term being derived from the Greek for *womb*).

urticaria: blotches or raised spots on the skin which come suddenly and disappear in a short time. They are of interest because they are often concomitants of emotional conditions and because they are supposed to be corrected by psychoanalytic or psychotherapeutic techniques.

utricle: membranous sac in the vestibular apparatus of the inner ear.

V

V: Rorschach's symbol for the popular response to the inkblots.

vagina: canal from vulvar opening to cervix of uterus in the female. One of the controversies in contemporary psychoanalytic theory pertains to the effect of the discovery of the vagina, the discovery of the clitoris usually having preceded it. Desire for vaginal receptivity, is, according to Freud, developed only after the onset of puberty.

vaginismus: reflex spasms of the vagina. In hysteria, it is supposed to be a concomitant of extreme distaste for coitus.

vagus nerve: tenth cranial nerve (*pneumogastric nerve*). See *cerebral nerves.*

valence: Kurt Lewin's terms for the attracting-repelling characteristics of a stimulus (which is postulated to exist in a field of forces). Valences are either positive or negative. The Lewinian concept is said to be more dynamic that the older theory of approach-avoidance mechanisms, and even to be more useful than the *adient-abient* drives described by Edwin Bissel Holt (1931).

value: (1) brilliance of a color; (2) judgment about the worth of an entity or concept. Judgments of values are axiological propositions; statements of fact are existential propositions.

vas deferens: excretory duct of testes.

vascular: pertaining to blood vessels.

vasoconstriction: increased tension of muscle walls of blood vessels, such as, for example, occurs when one turns pale.

vasodilation: decrease of tension in muscle walls of blood vessels, such as, for example, occurs in blushing.

vasomotor: pertaining to tonus in muscle walls of veins and arteries.

vasomotor paresis: syphilitic involvement of vasomotor nerves.

Vater, Abraham (1684–1751): German anatomist who discovered nerve endings in deep layers of the skin which were once thought to be the receptors for touch.

vecordia: obsolete term for mental diseases.

vector: force, the qualities of which are strength, direction, and point of application. Strength and direction may be represented by a vector.

vector psychology: the application, in a general way, of some of the principles of vector physics; but the concepts are used as operational principles. Life is considered from the standpoint of space, and "forces" of varying magnitudes and distributions act upon the individual at any given moment. The life spaces may be extremely fluid, relatively stable, or quite fixed. "Space" includes the internal condition of the individual as well as the objective environment. The theory has been expounded by Kurt Lewin (1890–), a German psychologist now an American.

vegetative nervous system: the autonomic nervous system.

velocity of nervous impulse: said by Helmholtz (1850) to be 90 feet a second in the motor nerve of a frog and about 150 meters a second in a sensory nerve of man. Some would assign credit for the discovery to Albrecht van Haller (1776), who recorded the time required to articulate *r* and concluded that the impulse travelled at a velocity of about 45 meters a second. Modern physiolo-

gists state that the velocity of the nervous impulse in human beings is about 123 meters a second.

ventral: forward aspect of an organ or structure; the anterior portion.

verbal amnesia: unusual difficulty in finding the suitable work to convey an idea. The organic type is said, by Adolph Meyer (1908), to indicate a lesion in Wernicke's area. In the functional type it is said to be symptomatic of self-consciousness; absurd phrases like "what-do-you-call-it" are used to fill in the gaps. Some careful writers would prefer to restrict *aphasia* to speech disturbances based upon organic pathology.

verbal aphasia: impairment of ability to articulate and enunciate words, as a result of lesions. Difficulty with *l* (paralambdacism) and with *r* (pararhoticism) are relatively common forms of verbal aphasia.

verbigeration: Kahlbaum's terms for stereotyped, meaningless repetition of words, phrases, and sentences by demented persons.

verbomania: torrent of words, spoken with compulsive force, by demented persons. Loosely, an excessive preoccupation with words, as by a pedant.

Vernes' test: blood test for syphilis.

vernier chronoscope: apparatus, consisting of pendulums which swing at different intervals, used in measuring reaction times. Devised by Pierre Vernier (1580-1637), a French physicist; and adapted by Edmund Clark Sanford (1859-1924), American psychologist, as a standard piece of simple apparatus for the psychological laboratory.

veronal addiction: one of the most common forms of drug addiction, the dosage varying from seven to thirty grains of diethylmalonylurea, a hypnotic. Veronal is sometimes

used by dipsomaniacs to assist in recuperation from a spree. Stupor, blurred speech, and disorientation are concomitants of excessive use of veronal.

vertigo: dizziness or fainting spells.

Verworn, Max: German biologist who anticipated the theory of tropisms (about 1890) and who would rid psychology of all mentalistic concepts and biology of all vitalistic concepts. All responses, he believed, could be adequately explained by full descriptions of the mechanical forces which initiate and sustain them.

Vesalius, Andreas (1514–1564): Italian anatomist (though born in Belgium) known as "the father of anatomy."

vesania: Kahlbaum's inclusive term for all mental disorders.

vestibular apparatus: the portion of the inner ear lying between the cochlea and the semicircular canals. It contains the utricle and the saccule, two membranous sacs filled with liquid. On the ventral wall of each sac there are hair cells in which the dendrites of the vestibular nerve are distributed and in contact with which are otoliths. This apparatus contributes to maintenance of posture and balance.

vibration: formerly believed to be a sense modality. Max von Frey reported (1894–1895) that the "vibration sense" involves merely a stimulation of receptors for pressure.

vibration doctrine: David Hartley's theory (about 1750) that stimuli initiate vibrations of minute particles in the nerves, and that these vibrations are transmitted to the brain. States of consciousness are concomitants of the vibrations set up at the nerve endings in the sense organs and transmitted at a diminishing frequency along the pathways of the nervous system.

vibratiuncles: the minute vibration of particles in the brain,

according to David Hartley, English physician and philosopher, which accompany consciousness.

vicious circle: the idea that worry, anxiety, fear, and the like, initiate bodily tensions, and that these tensions heighten the mental state. As usually stated, the idea implies acceptance of interactionism (q.v.).

vicious habits: expressive, colloquial phrase used by Adolph Meyer (1866–) to denote persistent nonadjustive habits which produce or resemble the so-called functional psychoses.

Vierordt, Karl (1818–1844): German physiologist who made substantial contributions to knowledge of vision.

Vintschgau, Max von: German physiologist who isolated the four elementary taste sensations (1880).

violet: visual sensation resulting from light-waves about 430 millimicrons in length; obtained by mixing light waves for red and blue.

Virchow, Rudolph (1821–1902): German pathologist who investigated craniometry.

virilism: result of hyperactivity of adrenal cortex in women. Sex functions are inhibited, voice deepens, and hair grows profusely on face and body.

vis a tergo: force from the rear; the goad to action; extrinsic motivating factors.

viscera: smooth-muscle organs encased in the abdominal cavity and innervated by the autonomic nervous system. The diffuse pattern of sensation from the viscera is called *coenesthesis*, and it contributes to feeling of malaise, well-being, sloth, energy, and the like.

viscerotonia: one of the temperaments delineated by W. H. Sheldon (1942) associated with endomorphy. Viscerotonics are relaxed, slow to act, comfort-loving, uninhib-

ited in emotional expressions, companionable, and easy-going.

vista: term used by F. L. Wells to symbolize tridimensional percepts of the Rorschach inkblots.

visual purple: chemical alteration in the retina during dark adaptation, the rods of the dark-adapted eye becoming purplish in hue. Visual purple quickly disappears when the eye is stimulated by light. F. Boll and W. Kühne, German physiologists, are mentioned as the discoverers (about 1880).

vitalism: doctrine in biology that many important topics cannot be adequately explained in mechanistic terms; hence concepts of purpose, teleology, supernormal guidance, and the like, must be introduced. The theory of inherited motives and instincts is sometimes criticized as being vitalistic. William McDougall (1871–1938), British psychologist who taught in America, and Hans Driesch (1867–1941), German biologist, are often said to be leading modern proponents of vitalism.

vitreous humor: jelly-like substance filling the posterior chamber of the eyeball.

vividness, law of: the principle which holds that the more vivid an impression is, the better it is retained.

vorbeireden: talking past the point; excessive talk, as in certain mental disorders, which never comes to the point.

vocational guidance: the application of psychological and educational techniques for appraisal of fitness for various occupations, information about occupations, training, help in securing a job, and counsel regarding post-school training opportunities. The National Vocational Guidance Association was founded in 1915.

vocational psychology: application of psychological principles to various occupations. It may include such topics

as job specifications and analyses; techniques of employing, training, and promoting personnel; labor management, and the like.

Vogt, Karl (1817–1895): German philosopher who upheld the materialistic point of view in psychology.

Volkmann, A. W.: brother-in-law of Gustav Fechner and assistant in many of the major experiments in the early days of psychophysics; contributed some important studies on vision (1836).

Volkmann, W. F.: author of an important textbook on psychology (1856); disciple of Herbart.

volley theory of hearing: view that the neurones discharge at differential rates but synchronously with the sound wave; hence the volley of the impulses reproduces the sound frequency. This theory was propounded by Wever and Bray (1930), American psychologists, to effect a compromise between the theories of Helmholtz and Rutherford.

volt: force sufficient to cause an electrical current of one ampere to pass the resistance of one ohm.

Volta, Alessandro (1745–1827): Italian physicist. Rolando, the anatomist, used a piece of apparatus he devised in the famous experiments on direct stimulation of the cerebrum (1800).

Voltaire, François Marie Arouet de (1694–1778): acclaimed for attacks upon superstitions; upheld the doctrine of determinism (in his later life).

voluntary control: a controversial, mentalistic term connoting behavior which is initiated, sustained, and terminated by choice. Striated muscles are said to be under direct voluntary control. Some objectivists (who uphold the motor theory of consciousness) regard voluntary behavior

as merely the conditioned responses to implicit speech or nonverbal motor activity.

volume: the spatial characteristic of a tone. Low notes are often perceived as if massive; high notes, as if small and thin. Titchener objected to the notion that volume is a primary attribute of auditory sensation, and he constructed the tonal pencil to show that volume is a concomitant of pitch. (Volume is not to be confused with loudness.)

Vorstellung: idea.

voyeur: one who achieves erotic gratification by watching a member of the opposite sex undress. In symbolic voyeurism, erotic impulses are stimulated by reading pornographic literature, viewing lewd pictures, and the like. Voyeurs find gratification in watching coitus.

vulva: external parts of female genitalia.

W

W: Rorschach symbol for response to the entire blot.

w: a factor, defined by statistical analysis of test data, tentatively labeled "will" by Carl Spearman.

Wagner-Jauregg, Julius: Austrian neurologist awarded Nobel prize, 1927, for malaria-fever treatment of paresis.

Wahnsinn: German term embracing the whole field of mental disorders.

Wagner, E: German physiologist who (1854) studied the effects of fear-provoking stimuli on the rabbit's heart, and who was one of the earliest to study nerve cells.

Waldeyer, W.: German physiologist who (1891) reported that nerve cells are joined together functionally but not anatomically, and who was the first to use the term "neurone." He is called "the father of the neurone theory."

Wallas, Graham: English psychologist who analyzed the stages in creative thinking (1926). Four distinct stages are described: preparation, incubation, illumination, and verification.

Waller, Augustus: English physiologist who (1852) discovered that when a nerve cell is cut the portion dissevered from the cell body atrophies. This discovery paved the way for histological investigations of nerve tracts, and it is known as the Wallerian theory of degeneration. He also made studies of the catabolic effects of repeated stimulation of nerves.

wandering impulse: the tendency of senile dements and some other types of psychotics to wander, often in a condition of disorientation. In hysteria, the wandering impulse is

called a *fugue*, the individual often going to a strange place and assuming a new identity, presumably to escape from mental conflicts.

wandering speech: failure to keep to the point, as in certain types of mental disorders, irrelevant topics and chance associations upsetting the unity and the coherence of the exposition.

Ward, James (1843–1925): outstanding figure at the end of the non-experimental period of psychology. He developed the ideas of Brentano and disseminated them among English philosopher-psychologists. The basic axiom in psychology is mind.

warming-up period: loose term denoting a time of initial torpor in beginning a new task, particularly after the preceding one has been interrupted.

warmth: sensation experienced when the stimulus is above the normal temperature of the body or of skin surface. Exploration of the surface of the skin (M. Blix and A. Goldscheider, 1884) reveals "warmth spots." Histological-psychological research has failed to locate separate receptors for the sense of warmth.

war neuroses: loose term subsuming effects of battle fatigue, fear, mental conflicts, and the like. "Shell shock," a loose term used during and after World War I, has been abandoned as inappropriate.

Warren, Howard Crosby (1876–1934): American psychologist who wrote an authoritative history of associationism; one of the pioneer experimental psychologists.

Washburne, Margaret Floy (1871–1939): author of one of the most important books on animal psychology; discredited the anecdotal method.

Wasserman, August (1866–1925): German bacteriologist who developed a test for syphilis.

Watson, John Broaddus (1878–): founder of radical behaviorism; author (1907) of one of the most important studies of behavior of the white rat.

Watt, Henry J. (1879–1925): English psychologist who contributed to the theory of imageless thought and who wrote an important book on memory (1909).

wave-length: distance from crest to crest, or trough to trough, of light waves. The visible portion of the spectrum extends from about 400 millimicrons to 700 millimicrons. Wave-length is said to be associated with hue or chroma.

waxy flexibility: condition occurring in catatonic form of schizophrenia, the patient offering little resistance to alterations of posture or positions of arms and legs. Also called *cerea flexibilitas.*

Weber, Ernst Heinrich (1795–1878): first to measure the awareness of differences between pairs of stimuli. German physiologist who began his studies with measurements of least noticeable differences, judged by 4 of his medical students, and who perfected the esthesiometer, apparatus consisting of blunt points for measuring the "sense of twoness."

Weber-Fechner law: statement by the German physicist Fechner (1860) that as the physical intensity is increased or decreased by a constant ratio, the magnitudes of sensations increase or decrease by equal increments. The law is also stated as follows: sensation of difference is proportional to the logarithm of the stimulus.

weight-lifting experiment: (first reported by Weber, 1834) discriminations of differences of weights may be expressed by a constant ratio—about 1/40—of the total weight. E. B. Titchener referred to this experiment as one of the classical investigations of quantitative psychology.

Weiss, Albert Paul (1879–1931): protagonist of radical behaviorism in America.

Weltanschauung: world view; total frame of reference.

Weltschmerz: prevailing mood of sadness and despair.

Wernicke, Carl (1848–1905): German neurologist who defined some of the aphasias.

Wernicke's area: region in the temporal lobes, a lesion in which is thought to be the etiologic factor in sensory aphasia. Identified by Carl Wernicke (1874).

Wertheimer, Max (1880–1934): German psychologist (later on, American) whose paper on perceived movement (1912) laid the basis for Gestalt psychology. He reported that perception of movement is not analyzable into discrete sensations or elements but that it is a unique experience—a *phi-phenomenon.*

werewolf: old superstition that, by demon-possession, human beings may be transformed into wolves or other animals. In certain parts of the world, mentally disturbed persons were fearfully regarded as "werewolves."

Westphal, Karl Friedrich Otto (1833–1890): German neurologist.

Westphal's sign: functional disorder having a superficial resemblance to multiple sclerosis, the principal symptoms being weakness and tremors (defined by Karl Westphal.)

Westphal symptoms: (1) the symptoms which differentiate tabes dorsalis and general paresis, Westphal (1871) having demonstrated that the knee jerk is absent in tabes; (2) obsessional thoughts. (Karl Westphal.)

Wever-Bray effect: the reproduction in the auditory nerve of an electrical phenomenon which duplicates the stimulating sound waves (1930).

whistle, Galton's: apparatus (devised by Sir Frances Galton, about 1880) for measuring the upper limits of auditory

sensation. The Galton whistle was perfected by Edelmann, and is now a piece of standard equipment for research in acoustics.

white: (1) in the Hering theory, one of the six primaries and the complement of black; (2) in the Young-Helmholtz theory, the result of the admixture of all light waves.

White, William A. (1870–1937): American psychiatrist; author of major works on neurology and psychiatry; protagonist of psychoanalysis.

white matter: referring to the whitish appearance of the myelin sheath of medullated nerve fibers. The anatomical difference between gray matter and white matter of nervous tissues was described by Theodor Schwann (1810–1882), a German histologist.

whole-part learning: referring to two procedures for learning. In the whole method, the material is studied in its entirety; in the part method, it is broken up into convenient units for mastery. Lottie Steffens (1900), an American psychologist, reported that the whole method is preferable. Many investigators have undertaken to check upon her findings, and the reports are somewhat ambiguous.

Whytt, Robert (1714–1766): English psychiatrist.

will: a controversial term of ambiguous connotation. In rational psychology, will is a central concept; in radical behaviorism, it is a label for the triumph of the strongest stimulus; in philosophical psychology, it is a mental faculty. Many contemporary psychologists consider the matter to lie outside the province of psychology, though there is a strong implication of determinism in modern psychology.

will-to-power: Alfred Adler's term for the dominant human motive. Adler (1870–1937) is thought to have been in-

fluenced by youthful readings of Nietzsche (1844–1900). Frustrations of the will-to-power lead either to compensatory reactions or to an attitude of inferiority.

Williamsburg Asylum: the first public-supported institution in America for the care and treatment of mental patients. It was opened under this name in 1773, and has been renamed the Eastern (Virginia) State Hospital.

wish: symbolically represented mode of attaining satisfaction for an unfulfilled motive. Most writers restrict the term to conscious, verbalized expressions of that which, if attained, would bring satisfaction. According to Freud, wishes may be unconscious as well as conscious. W. I. Thomas (1918) defined four basic wishes: new experience, recognition, response, and security.

wish-fulfillment: vicarious satisfaction, through dreams and phantasies, of frustrated desires. Every dream, no matter how distasteful it may appear when superficially examined, is the fulfillment of an unconscious wish (Freud).

wit: according to Freud that which (1) has no other end than to afford pleasure and which (2) serves to release repressions.

Witasek, Stephan (1870–1915): Leader in the Austrian school of act psychology and a disciple of Brentano and Meinong.

witchcraft: term (often limited by psychologists) referring to the outburst of fanaticism in Salem Village, Massachusetts, in 1691–1692. Ten young girls, having learned folklore superstitions from a slave woman, accused her and two other old women of bewitching them. The mass hysteria which resulted from their accusation brought about the arrest of several hundred persons, the deaths by hanging of 19 and by weights of one. When the Gov-

ernor took legal action, the delusion died out as quickly as it had sprung up.

Witmer, Lightner (1867-1946): American psychologist who opened the first psychological clinic (1896) for "the study and remedial treatment of mentally or morally retarded children, and of children suffering from physical defects which result in slow development or prevent normal progress."

Wolff, Christian von (1679-1754): German university professor, who, reputedly, was the first to use *psychology* in the title of a printed book (*Psychologia Empirica*, 1734); because of his systematization of current views regarding mental faculties, called "the father of faculty psychology"; regarded psychology as a branch of metaphysics. Much of the terminology of faculty psychology continues into modern times, but the concept of mental faculties has been abandoned.

womb-phantasy: according to psychoanalysts, the unconscious wish to return to the peaceful security of the womb. Otto Rank expressed the view that birth is a traumatic experience, and hence that it is a disruption of the Nirvana-like prenatal existence, which remains as the unconscious ideal.

Woodworth, Robert Sessions (1869-): a leader in American psychology.

working-over: the psychoanalysts' technique for getting to the deepest unconscious roots of symbolisms.

worry: undue concern about past behavior or about anticipated dangers in future behavior. The term is usually restricted to anxiety over specific situations, not to vague apprehensions or anxieties.

Wündt, Wilhelm (1832-1920): sometimes called "the great man in psychology," founder of the first important psy-

chological laboratory in the world (Leipzig, 1879); "the father of physiological psychology"; founder (1882) of the first journal devoted exclusively to publishing reports of psychological research; teacher of many eminent American psychologists (especially between 1880 and 1900); often called "the father of experimental psychology."

Würzburg school: German psychologists who, under Oswald Külpe (1862–1915), improved methods of introspective study of higher mental processes and who developed the theory of imageless thought. The imageless-thought theory was criticized by E. B. Titchener and supported by R. S. Woodworth when it first came to the attention of American psychologists.

X

xanthrocyanopsia: insensitivity to light-waves for red (by some writers, for green as well).

xanthropsia: condition in which objects are sensed as having a yellowish hue, as in jaundice.

xenoglossia: (1) speaking in unknown tongues (Acts: 2: 4–13); (2) unintelligible talk by persons who are in a condition of religious ecstasy or excitement; (3) according to occultists, the power of a person to speak or to understand languages while in a trance which would be incomprehensible while the person is in a normal state.

xenomania: morbid preference for foreign words, customs, or dress. It is said to indicate a wish to attract attention or to maintain prestige-status by an individual who has an inferiority feeling.

xenophobia: great fear of foreigners or of foreign practices. It is said to indicate an over-identification with the in-group on the part of an insecure personality.

Y

Y: S. J. Beck's symbol (1944) for responses to Rorschach inkblots determined by surface shading.

yellow: response to wave-lengths of about 585 millimicrons and (Hering and Ladd-Franklin theories of color vision) one of the "primaries."

yellow-blindness: the most uncommon form of color-blindness.

yellow spot: a small area (also known as *macula flava* or *macula lutea*) which lies in the central posterior section of the retina. The small depression in the "yellow spot" is known as the *fovea centralis.*

Yoga: (1) formalized techniques of abstract contemplation by Indian philosophers; (2) system of practices including formalized postures of body, breathing exercises, and diets, which are said to facilitate self-hypnosis and trances.

York Retreat: one of the earliest institutions to be established for humane treatment of patients with mental disorders. William Tuke, Englishman and member of the Society of Friends, worked for the establishment of an institution in York, England, which would show by contrast with the York Asylum the advantages of enlightened methods. The York Retreat was opened in 1796, and the success of its methods led to the appointment of an investigating committee of the House of Commons (1814), which reported need for drastic reforms in mental hospitals.

Young, Thomas (1773-1839): British physiologist whose theory of color vision (1807) was developed by Helmholtz (1860). Young observed that visual acuity is greatest at the *fovea centralis.*

Young-Helmholtz theory of color vision: a theory which postulates the existence of three types of receptors (or nerve fibers) responding, respectively, to wave-lengths for red, green, and violet. All other color sensations are analyzable into combinations of these fundamentals. This theory has gained wide acceptance among physicists. It was first proposed by Thomas Young (1807), an English physiologist, and developed by Herman von Helmholtz (1860), German physicist and physiologist.

youth: usually defined as the period between childhood and maturity. The American Youth Commission (1935) defined youth as the period between 15 and 24 years of age.

Z

Z: symbol used by S. J. Beck and M. R. Hertz to denote capacity for organizing Rorschach inkblots into meaningful patterns (*Assoziationsbetrieb*).

zero, psychological: (1) the point at which, theoretically, psychological behavior just barely commences to function; (2) the theoretical point at which mental age is 0; (3) the temperature of the surface of the skin (normally about 85–90 degrees Fahrenheit), which is the point of reference in judgments of coldness or warmth of objects (though the temperature shifts from time to time).

Zeigarnik effect: the relatively greater retention of interrupted tasks than of completed tasks. B. Zeigarnik, German psychologist, reported the experiments in 1927. Kurt Lewin attributes the phenomenon to the operation of a *Spannung* (tension) which continues to be active until tasks are completed.

Zeihen, Theodor (1862–): German psychiatrist-philosopher who conducted some experiments in the field of psychiatry.

zoanthropy: delusion that the individual has been transformed into an animal. (Daniel 4 contains an account of Nebuchadnezzar's zoanthropic delusion.)

zoerasty: sexual relations with animals.

Zöllner's illusion: geometrical figure in which parallel lines appear to slant away from one another, the effect being due to alternate angles formed by bisecting short lines.

zone, erogenous: area of the body which, when stimulated, affords sexual pleasure. According to psychoanalysts, the

first definite erogenous zone is the mouth; next, the anus; and lastly, the genitalia.

zones, retinal: areas of the retina mapped for sensitivity to chromatic and achromatic stimuli. Clerk Maxwell (1870) was one of the first to map the color zones. According to some theorists, the primitive eye responded only to light-waves for achromatic (grays) vision; next (phylogenetically), for blues and yellows; and finally, for reds and greens. The mapped zones are, in a general way, supportive of the theory; the region of the fovea being most sensitive for reds and greens; the middle zones, for blues and yellows; and the periphery, for grays, white, and black.

zoöphilia: abnormal degree of affection for animals or a particular animal.

zoöphobia: intense fear of animals or a particular species of animal.

z-score: type of standard score in which deviations of raw scores from the mean are expressed in terms of the standard deviation of the distribution.

Zurich school: psychiatrists of Zurich, Switzerland, who, under the leadership of C. G. Jung and E. Bleuler, were among the first to recognize the worth of Freud's contributions.

Zwaardemaker, H.: Danish physiologist who (1895) reported a major classification of olfactory sensations and who perfected the double olfactometer. The Zwaardemaker classification of elementary odors is as follows: ethereal, aromatic, balsamic, amber-musk, alliaceous, empyreumatic, hircine, repulsive, and nauseous.

zygote: fertilized egg resulting from union of two cells to make a single cell.